9(4)54
10-6-73

Rs/-

872-A

10/2/1983

श्री गौरांगविधुर्जयति

श्री हरिनाम



वर्ष 12

अंक 1

ब्रजभक्ति
वैष्णव दर्शन
भक्तचरित्र
भगवन्नाम
गुणलीला से
परिपूर्ण

★

आध्यात्मिक मासिक पत्र

हरिनाम संकीर्तन मण्डल

* श्रीहरिः *

शुभ-कामना

नव वर्ष आपके, आपके परिवार के लिये शुभ हो, हर्ष एवं शान्तिप्रद हो। समस्त अशुभ-नाशक, अमङ्गल-हरणी, क्लेशघ्नी भगवद्-भक्ति का आप के हृदय में उदय हो, सत्-साहित्य के अध्ययन में रुचि होकर "श्रीहरिनाम" में आप दृढ़ श्रद्धान्वित हों!

भवदीय:
श्रीहरिनाम-संकीर्तन
मंडल सदस्यगण

इस अंक में

श्रीहरिनाम का वार्षिक शुल्क

यदि अभी तक आपने नहीं भेजा तो आज ही १०)रु० मनीआर्डर द्वारा श्रीहरिनाम-कार्यालय, वृन्दावन के नाम भेजिए। आपकी प्रति सुरक्षित है।

—व्यवस्थापक

878-H
10/2/1983

❀ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ❀

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

इष्टापूर्त्तानि कर्माणि सुबहूनि कृतान्यपि।
भवहेतुनि तान्यवे हरेर्नाम तु मुक्तिदम् ॥
वाजपेय सहस्राणां नित्यं फलमभीप्स्यसि।
प्रातरुत्थाय भूपाल ! कुरु गोविन्द-कीर्त्तनम् ॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, जनवरी १९८२ { अंक १

प्रार्थना

'गौराङ्ग' कहते ह्वै पुलक शरीर। 'हरि-हरि' कहते नयन बहे नीर ॥
कब निताईचान्द करेंगे करुना। कब छूटेगी मेरी संसार-वासना ॥
विषय त्यागि कब शुद्ध ह्वै मन। कब पाऊँ मैं वृन्दावन दरशन ॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पद कब ह्वै प्रीति। कब जानूं मैं युगल-सेवा रीति ॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पद मेरी यह आस। प्रार्थना करे यही नरोत्तमदास" ॥

---

* अग्निहोत्र, तपस्या, सत्यनिष्ठा, वेदाज्ञा-पालन, अतिथि-सत्कार, विश्वदेवों के निमित्त बलिदान—ये छः इष्ट कर्म, तथा वापी—कूप—तड़ाग-निर्माण, देव मन्दिर की प्रतिष्ठा, अन्नदान तथा उपवन-निर्माण—ये चार पूर्त्त कर्म भव-बन्धन का ही कारण हैं—किन्तु श्रीहरिनाम-कीर्त्तन संसार-बन्धन से मुक्ति देने वाला है। हे राजन् ! यदि तू नित्य हजारों वाजपेय-यज्ञों के फल को प्राप्त करना चाहता है, तो प्रातःकाल में 'श्रीगोविन्द' नाम का कीर्त्तनकर।

श्रीहरिभक्ति-विलास ११।१८७।

श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचितम्

श्रीप्रेमसुधा-सत्राख्यं

श्रीवृन्दावनेश्वरी-नामाष्टोत्तर-शतनामस्तोत्रम्

वंशीवडिशिकाविद्धरसोत्तर्षमनोझषा ।
वंशिकाध्वनिविश्रंसिनीवीबन्धग्रहातुरा ॥२५॥

६८. जिह्वा रस के लोभवश होकर जैसे मीन बंशी द्वारा घायल हो जाती है, उसी प्रकार कृष्णाङ्ग-सङ्ग-रस के लोभवश उनकी वंशी से आपका अन्तःकरण घायल हो जाता है। ६९. बंशी ध्वनि से आपकी नीवी की ग्रन्थि शिथिल हो जाती हैं, अतः उसे बान्धने के लिए आप आतुर हो उठती हैं॥२५॥

मुकुन्दनेत्रशफरीविहारामृतदीर्घिका ।
निजकुण्डकुड्डङ्गान्तस्तुङ्गानङ्गरसोन्मदा ॥२६॥

७०. श्रीमुकुन्द के नेत्र रूपी मीनों के विहार के लिए आप अमृतभरी वापी (बावरी) के समान हैं। ७१. अपने कुण्ड (राधाकुण्ड) के तटवर्त्ती कुञ्जों में आप उन्नत अनङ्ग रसास्वादन के लिए उन्मत्त रहती हैं॥२६॥

कृष्णभ्रूच्चण्डकोदण्डोड्डीनधैर्यविहङ्गमा ।
अनुरागसुधासिन्धुहिन्दोलान्दोलिताच्युता ॥२७॥

७२. श्रीकृष्ण के प्रचण्ड भ्रूकुटि कमान को देखकर आपका धैर्यरूप पक्षी उड़ जाता है। ७३. अनुराग-सुधा-सिन्धु के हिण्डोले में आप श्रीकृष्ण को झुलाने वाली हैं॥२७॥

व्रजेन्द्रनन्दनास्येन्दुतुङ्गितानङ्गसागरा ।
अनङ्गसङ्गरोत्तृष्णकृष्णलुञ्चितकञ्चुका ॥२८॥

७४. श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के मुखचन्द्र को देखकर आपका अनङ्ग-सागर समुच्छलित हो उठता है। ७५. अनङ्ग सङ्ग से लालायित होकर श्रीकृष्ण आपकी चोलिका का हरण कर लेते हैं॥२८॥

लीलापद्महतोद्दामनर्मलम्पटकेशवा ।
हरिवक्षोहरिग्रावहरितालीयरेखिका ॥२९॥

७६. स्वच्छन्द बलपूर्वक परिहास लम्पट श्रीकेशव को आप लीला-कमल से ताडना करने वाली हैं। ७७. श्रीकृष्ण की नीलमणि-कान्तियुक्त वक्षस्थल रूपी पट्टिका पर आप हरिताल की रेखा के समान शोभा देने वाली हैं ॥२६॥

माधवोत्सङ्गपर्यङ्का कृष्णबाहूपधानिका।
रतिकेलिविशेषोहसखीस्मितविलज्जिता ॥३०॥

७८. श्रीकृष्ण की गोद ही आपका पर्यङ्क (शयन-स्थान) है। ७६. श्रीकृष्ण की भुजा आपका उपधान (तकिया) है। ८०. रतिकेलि विशेष (पुरुषायित) वितर्क करने वाली सखियों के मुस्कराने पर आप अति लज्जित होने वाली हैं ॥३०॥

अलीपुरोरहःकेलिजल्पोत्कहरिवन्दिनी ।
वैजयन्तीकलाभिज्ञा वनस्रक्शिल्पकल्पिनी ॥३१॥

८१. सखीगण के सामने रहःकेलि की बात बताने के अभिलाषी श्रीकृष्ण की आप वन्दना करने वाली हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की आप वन्दना करती हैं, कि मैं आपकी सब मनोकामना पूर्ण करूँगी, किन्तु आप सखियों के आगे रहःकेलि की कोई बात न कहना। ८२. आप वैजयन्ती माला रचने की कला में प्रवीणा हैं। ८३. वनमाला आदि वन्य-शृङ्गार की आप शिल्प करने वाली हैं ॥३१॥

धातुचित्रातिवैचित्रीवि सृष्टिपरमेष्ठिनी ।
वैदग्धीप्रथमाचार्या चारुचातुर्यचित्रिता ॥३२॥

८४. गैरिकादिधातु के चित्रों की वैचित्री रचना में तो आप विरिञ्चि (ब्रह्मा) के समान हैं। ८५. वैदग्धी अर्थात् नृत्यादि कलाओं की आप आदि आचार्या हैं। ८६. पाक-क्रिया, गन्धयोजनादि-विषयक मनोहारी चातुर्य से आप विभूषिता हैं ॥३२॥

असाधारणसौभाग्यभाग्यामृततरङ्गिणी ।
मौग्ध्यप्रगल्भतारम्या धीराधीराङ्कभूषिता ॥३३॥

८७. श्रीकृष्ण आपका सत्कार एवं भजन करते हैं—ऐसे असाधारण सौभाग्य-अमृत की आप तरङ्गिणी हैं—उसकी आप आधारभूता हैं। ८८. मध्य-कटि देश की प्रगल्भता से आप रमणीया हैं। ८९. धीरा एवं अधीरा रमणियों के लक्षणों से आप भूषिता हैं ॥३३॥

(क्रमशः)

★

साधक ! सावधान

□

- समस्त दुराचारों, अनाचारों एवं पापों से बचने का एक मात्र उपाय भक्ति, संसार से मुख-मोड़कर परमेश्वर की ओर बढ़ना है ।
- भक्ति की प्राप्ति के लिए श्रीभगवान् की निर्हेतु कृपा की बाट जोहते रहिए ।
- गुरु-उपदिष्ट साधनों का आचरण करते हुए कृपा पर भरोसा रखिए ।
- कृपा ही कृपा का मूल कारण है ।
- प्राणी मात्र के प्रति कृपा—दया रखने से भगवत्-कृपा प्राप्त होती है ।
- दया-रहित साधन-भजन में दम्भ का उदय होता है ।
- दयालु मनुष्य में दैन्य का आना स्वाभाविक है ।
- दीनता के बिना प्रेम-भक्ति आविर्भूत नहीं होती । दीनता प्रेम-भक्ति की जननी है ।
- दूसरों में दोष दृष्टि कर किसी की निन्दा मत करो ।
- सर्वदा अपने दोष ढूँढो ।
- जड़-जङ्गमात्मक समस्त जगत् श्रीकृष्ण का वैभव है ।
- निन्दुक होकर जो एक बार 'श्रीहरिनाम' उच्चारण करता है, श्रीहरि बुलाकर उसका निस्तार करते हैं ।
- सब के चरणों पर दृष्टि रखने से श्रीराधारानी के राज्य का पथ दीखता है ।
- भजन में जितने परिमाण में उत्कण्ठा बढ़ेगी, उतने परिमाण में तृप्ति कम होती जाएगी ।
- तृप्ति स्वयं क्षीण होकर उत्कण्ठा की वृद्धि करती है ।
- भक्तों का सङ्ग ही भक्ति-उत्कण्ठा बढ़ाने का प्रधान उपाय है ।
- भक्तों की चरणधूलि से अज्ञान, अविद्यादि दूर होते हैं एवं भजन मार्जित होता है ।

●

श्रीभक्तिसन्दर्भः

हेला त्वपराधरूपाप्य बुद्धिपूर्वककृता चेद्दौरात्म्यभावे न भक्त्या बाध्यत इत्युक्तमेव ज्ञानलबदुर्विदग्धादौ तु तद्वैपरीत्येन बाध्यते । यथा मत्सरेण नामादिकं गृह्णति वेणे, क्वचिद्वस्तुशक्तिर्बाधिता दृश्यते, आर्द्रेन्धनादौ वह्निशक्तिरिव । (भा० ११।२७।१७-१८)—"श्रद्धयोपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि भूर्य्यप्य भक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते" इत्यत्र श्रद्धाभक्ति-शब्दाभ्यामादर एवोच्यते, स तु भगवत्तोषणलक्षणफलविशेषस्योत्पत्तावनादरलक्षणतद्विघातकापराधस्य निरसनपरः । तस्मात् श्रद्धा न भक्त्यंगम्, किन्तु कर्म्मण्यर्थिसमर्थविद्वत्तावदनन्यताख्यायां भक्तावधिकारिविशेषणमेवेत्यतएव तद्विशेषत्वेनैवोक्तम्, (भा०११।२०।८) यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्इति । (भा० ११।२०।२७)— "जातश्रद्धो मत्कथासु" इति च । अत्र तामारभ्येत्यर्थेन ल्यव्लोपे पञ्चम्यन्तेन तत इति पदेनानवधिकनिर्देशेनात्मारामतावस्थायामपि सा केषाञ्चित् प्रवर्त्तत इति तस्याः साम्राज्यमभिप्रेतम् । अनन्तरञ्च वक्ष्यते (भा० ११।२०।३४)— "न किञ्चित् साधवो धीराः" इति । अतः साम्राज्यज्ञापनया तां विना कर्म्मज्ञाने अपि न सिध्यत इति च ज्ञापितम् ।

तदेवमनन्यभक्त्यधिकारे हेतुं श्रद्धामात्रमुक्त्वा स यथा भजेत्तथा शिक्षयति । स श्रद्धालुर्विश्वासवान्, प्रोतः जातायां रुचावासक्तः, दृढ़निश्चयः साधनाध्यवसायभंगरहितश्च सन् । सहसा त्यक्तुमसमर्थत्वात् कामान् जुषमाणश्च गर्हयंश्च । गर्हणे हेतुः—दुःखोदर्कान् शोकादिक्षुद्रारफलानिति । अत्र कामा अपापकरा एव ज्ञेयाः, कथञ्चिदप्यन्यानुविधानायोगात् । प्रत्युत,

परपत्नीपरद्रव्यपर - हिंसासु यो मतिम् ।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥४८६॥

इति विष्णुपुराणवाक्यादौ कर्म्मार्पणात् पूर्वमेव तन्निषेधादत्रैव च निष्कामकर्म्मण्यपि यद्यन्यन्न समाचरेदिति वक्ष्यमाणनिषेधात् । कर्म्मपरित्यागविधानेन सुतरां दुष्कर्म्मपरित्यागप्रत्यासत्तेः । विष्णुधर्म्मे—

मर्य्यादाञ्च कृतां तेन यो भिनत्ति स मानवः ।
न विष्णुभक्तो विज्ञेयः साधुधर्म्माच्चिनो हरिः ॥४८७॥

इति वैष्णवेष्वपि तन्निषेधात् । (भा० ४।२१।३१)—"यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेष-जन्मोपचितं मलं धियः । सद्यः क्षिणोति" इत्यत्र सद्यः शब्दप्रयोगेण जातमात्ररुचीनाम्,—

यदा नेच्छति पापानि यदा पुण्यानि वाञ्छति ।
ज्ञेयस्तदा मनुष्येण हृदि तस्य हरिः स्थितः ॥४८८॥इति॥

विष्णुधर्मे नियमेन च, (भा० ११।५।४२) विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः" इत्यत्रापि कथञ्चिच्छब्दप्रयोगेणा लब्धभक्तीनाञ्च स्वतस्तत्प्रवृत्त्ययोगात् । 'नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिर्न

विद्यते तस्य यर्म्मैहि शुद्धि" इति पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रादौ हरिभक्ति-बलेनापि तत् प्रवृत्तावपराधापाताच्च। (गी० ६।३०)—"अपि चेत् सुदुराचारः" इति तु तदनादरदोषपर एव, न दुराचारताविधानपरः (गी० ६।३१) क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा" इत्यनन्तरवाक्ये तु दुराचारतापगमस्य श्रेयस्त्वनिर्द्देशादिति ॥ श्रीभगवान् ॥

अवहेलना यद्यपि अपराध है, फिर भी यदि अनजाने वह घटित होती है और दुष्ट-स्वभाव से जान-बूझकर नहीं की जाती तो वह भक्ति के फल प्रदान करने में बाधा नहीं डालती। परन्तु यदि थोड़ा भी ज्ञान है और जान-बूझकर उद्धत हाकर भक्ति-अङ्ग की अवहेलना की जाती है, तो विपरीत क्रिया होती है अर्थात् भक्ति की फल-प्राप्ति में बाधा पड़ जाती है, जैसे मात्सर्यवश होकर नाम ग्रहण करने पर भी वेन महाराज को भक्ति-फल प्राप्त करने में बाधा पड़ गई थी। कहीं-कहीं वस्तु-शक्ति भी बाधित हो जाती दीखती है, जैसे गीली लकड़ी को जलाने में अग्नि की दाहिका-शक्ति असमर्थ हो जाती है।

श्रीभागवत (११।२७।१७ व १८) में कहा गया है कि भक्त द्वारा श्रद्धा-सहित भेंट किया हुआ जलमात्र भी मुझे प्रिय है" परन्तु अभक्त द्वारा अच्छे से अच्छा द्रव्य भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकता—मुझे प्रिय नहीं है।" यहां श्रद्धा एवं भक्ति शब्दों का तात्पर्य आदर ही समझना चाहिये; क्योंकि आदर भगवत्-सन्तोष रूप फल विशेष की उत्पत्ति में विघ्न पैदा करने वाले अनादर रूप अप-राध को निरस्त कर देने वाला है। इसलिए कर्मकाण्ड में धनी होना, समर्थवान् एवं पण्डित होना, जैसे केवल मात्र कर्म-अधिकारी पुरुष के विशेषण या योग्यता के लक्षण मात्र हैं, परन्तु कर्म के अङ्ग स्वरूप नहीं हैं, उसी प्रकार यहां श्रद्धा भी अनन्या-भक्ति के अधिकारी-पुरुष का विशेषण मात्र है, परन्तु भक्ति का अङ्ग-स्वरूप नहीं है इसलिए (भा० ११।२०।८) श्लोक सं० ४८० तथा (भा० (११।२०।२७) श्लोक सं० ४८१ में "मेरी कथादि में जात श्रद्धया श्रद्धालु" जो कहा गया है, यहां श्रद्धा-शब्द भक्ति के अधिकारी के विशेषण रूप में कहा गया है।

श्लोक सं० ४८२ में जो 'ततः'—शब्द है, उसका अर्थ है तदनन्तर। 'तामारभ्य—इस पद में ल्यप्–प्रत्यय का लोप कर "ततः"—इस रूप में पञ्च-मान्तपद बना है। अर्थात् विषयों की कामना को दुःख-रूप जानकर भी जिस अवस्था में उनका त्याग करने में मनुष्य असमर्थ है। "उस अवस्था से लेकर मेरा भजन करे"—कब तक किस अवस्था तक भजन करे, ऐसी कोई भी सीमा का निर्देश न रहने से आत्मारामता दशा में भी कईयों की भक्ति में प्रवृत्ति दीखती है, जिससे भक्ति का साम्राज्य या सार्वभौमत्व अभिप्रेत है। आगे भी (भा० ११।२०।३४) में यह कहेंगे कि—"मेरे एकान्त धीर-भक्त मेरे द्वारा देने पर आत्यन्तिक कैवल्य तक को भी नहीं चाहते। (श्लोक ५१० द्रष्टव्य) अतएव

इस सार्वभौमत्व के ज्ञापन के द्वारा भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म दोनों मार्गों की असिद्धि या निष्फलता भी प्रतिपादित हो जाती है।

इस प्रकार अनन्या-भक्ति के अधिकार के कारण स्वरूपा श्रद्धा का वर्णन किया गया। वह अधिकारी कैसे भजन करे—उसकी शिक्षा करते हैं—वह श्रद्धालु या विश्वासयुक्त होता है, 'प्रीत' अर्थात् भजन में उत्पन्न रूचि में आसक्त होता है। 'दृढ़-निश्चय:' अर्थात् साधन की चेष्टा में शिथिलता या वहिर्मुखता रहित होता है। ऐसा पुरुष जब एकदम समस्त कामनाओं को परित्याग करने में असमर्थ होता है, तो वह उनका भोग भी करता है, और उनकी निन्दा भी करता है। निन्दा करने का कारण यह है कि उनका फल अन्त में दुःख-शोक ही पैदा होता है। यहां 'कामान्' कामनाओं का तात्पर्य पापजनक कामनाएँ नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि शास्त्र में किसी प्रकार के भी पापजनक कर्म का विधान नहीं है।

बल्कि विष्णु-पुराण में कहा गया है कि जिस व्यक्ति की मन-बुद्धि परस्त्री, पराये धन तथा पर-हिंसा से रहित है; हे राजन्! उसी पर ही श्रीकेशव प्रसन्न होते हैं ॥४८६॥

इस वाक्य में कर्मार्पण से पहले ही सब पाप कर्मों का निषेध किया गया है। निष्काम-कर्म प्रसङ्ग में "और कोई कर्म आचारण नहीं करे"—इस वचन में भी कर्म-परित्याग के विधान द्वारा दुष्कर्मों—पाप-कर्मों का परित्याग तो विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

विष्णु-धर्मोतर में कहा गया है—श्रीभगवान् के रचे नियमों का जो उल्लङ्घन करता है, वह भगवद्-भक्त नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् सदा सदाचार-धर्मपरायण व्यक्तियों की पूजा ग्रहण करते हैं ॥४८७॥

इस वचन द्वारा वैष्णवजनों के लिए भी दुष्कर्मों का निषेध किया गया है। श्रीमद्भागवत (४।२१।३१) में कहा गया है कि—"श्रीभगवान् के चरण-कमलों की सेवा रुचि तपस्वियों के असंख्य जन्मों की संचित चित्त मलिनता को तत्क्षण दूर कर देती है" (श्लोक सं० ८५८ द्रष्टव्य)। इस श्लोक में "सद्य" शब्द के प्रयोग से यह जाना जाता है कि जिनकी भगवत् चरण-सेवा में केवल रुचि ही उत्पन्न हुई है, उनकी चित्त मलिनता अर्थात् पापों में प्रवृत्ति विनष्ट हो जाती है।

विष्णु-धर्मोत्तर में लिखा है—जब मनुष्य पापों की इच्छा रहित होता होता है बल्कि पुण्य कर्मों की इच्छा करता है, तब यह जानना चाहिये कि उस के हृदय में श्रीहरि विराजमान हैं ॥४८८॥

श्रीमद्भागवत (११।५।४२) में कहा गया है कि अनन्यचित्त भगवद्-भक्त के हृदय में कभी कोई दुष्कर्म आता है, तो उसके हृदय में विराजमान

श्रीहरि उसको विदूरित कर देते हैं। (श्लोक सं० ४९३ द्रष्टव्य)। इस श्लोक में भी "कथञ्चिद्"—शब्द के प्रयोग से यह जाना जाता है कि भक्ति-भक्तों में दुष्कर्मों की प्रवृत्ति स्वतः ही नहीं होती।

"जिस व्यक्ति में हरिनाम के बलबूते पर पाप-बुद्धि रहती है अर्थात् हरिनाम के प्रभाव से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं—इस विश्वास को लेकर जो पाप करता है, उसकी यम के द्वारा भी शुद्धि नहीं हो सकती (यमराज के दण्ड द्वारा भी वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता अथवा यम-नियमादि साधनों द्वारा भी वह कभी निष्पाप नहीं हो सकता)—पद्मपुराण-वर्णित नामापराध-भञ्जन स्तोत्र के इस वचन के अनुसार हरिभक्ति के बल पर भी पाप-प्रवृत्ति अपराध गिना जाता है।

श्रीगीता (९।३०) में जो यह कहा गया है कि—"यदि सुदुराचारी पुरुष भी अनन्य चित्त होकर मेरा भजन करता है"—इसमें दुष्कर्म का दोष एवं अनादर ही किया गया है। यह वचन दुराचारता का विधान नहीं करते। क्योंकि श्रीगीता के अगले श्लोक (९।३१) में जो यह कहा गया है कि—"वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है"—इस वाक्य में दुराचारता के दूर होने पर ही उसका मङ्गल निर्देश किया गया है।

गोपालतोषणी टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद के शेषांश का सारांश यह है कि भक्ति के किसी अङ्ग की अवहेलना करना अपराध है, परन्तु बिना जाने यदि हो जाए तो वह भक्ति में विशेष बाधक नहीं होती। परन्तु जान-बूझकर जो अवज्ञा और अवहेलना है वह नामापराध में गिनी जाती है और उस से भक्ति-फल में निश्चय ही बाधा पड़ जाती है।

राजा वेन का चरित्र श्रीभागवत के चौथे स्कन्ध के १४ वें अध्याय में वर्णित है। भृगु आदि मुनियों ने उसे पृथ्वी का राजा बनाया था। किन्तु वह राजपद से अत्यन्त दुर्मद हो गया। उसने धर्मानुष्ठान यज्ञ-दानादि रोक कर अपनी ही पूजा का आदेश दिया। मुनिगण फिर उसके पास आए और उसे धर्मोपदेश किया। वेन ने उनके उत्तर में भगवन्नाम की एवं श्रीभगवान् की निन्दा की। इस प्रकार जान-बूझकर भगवन्नाम की एवं महत्-पुरुषों की जो अवहेलना उसने की, उसके फलस्वरूप मुनियों के शाप से उसका नाश हो गया। श्रीनाम में अबाध-शक्ति है, परन्तु श्रीनाम अपने प्रति अपराध व्यक्ति पर अपनी शक्ति कभी प्रकाशित नहीं करता।

श्रद्धा भक्ति का अङ्ग नहीं, बल्कि भक्ति के अधिकारी व्यक्ति का विशेषण है अर्थात् श्रद्धायुक्त पुरुष भक्ति का अधिकारी होता है। भक्ति श्रद्धालु व्यक्ति से लेकर आत्माराम मुनियों तक व्याप्त रहती है। उसकी कोई सीमा नहीं कि कब तक अथवा किस अवस्था तक भक्ति का आचरण किया जाये। सदा, सर्वावस्था, साधक-सिद्ध दशाओं में भक्ति नित्य आचरणीय है।

श्लोक सं० ४८१ में भक्ति के अधिकारी का संकेत करते हुए कहा गया है कि वह न तो विरक्त होता है और न अति आसक्त। विषय भोगों को वह दुःखदायी समझता है, परन्तु उनका वह जब परित्याग नहीं कर सकता— उस अवस्था में दुःखजनक कामनाओं की या विषय-सुख की निन्दा करते हुए भोग करने की बात भी कही गई है। परन्तु यहां उन कामनाओं या विषय भोगों से पापजनक आचरण अभिप्रेत नहीं है। पाप-कर्म भी करता रहे और भगवद् भजन भी प्रीति या दृढ़ विश्वास से करता रहे—ऐसा कभी भी नहीं समझना चाहिये। ऐसा सम्भव भी नहीं होता। पापाचार या दुष्ट कर्मों का मनुष्यमात्र के लिये सर्वथा निषेध है। भजनकारी व्यक्ति में तो पापाचरण के प्रति स्वाभाविक घृणा होती है। अतः यहां केवल आश्रमोचित्त लोक-समाजोचित्त विषय भोगों का ही तात्पर्य है। भक्तों में दैववश या दुसङ्ग प्रभाव से दुष्कर्म का सङ्कल्प मात्र भी उठता है तो भक्तवत्सल श्रीभगवान् उसे तत्काल विदूरित कर देते हैं। भजन के बल पर पापाचरण करना तो ऐसा प्रबल अपराध है कि उसका यमराज के पास भी कोई इलाज नहीं है। वह असाध्य एवं अशोधनीय अपराध है। अतः पाप-रहित विषयों का भोग करता हुआ जब व्यक्ति श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वासयुक्त होकर प्रेमपूर्वक भक्ति का अनुष्ठान करता है तो भक्ति स्वयं ही उसे भोग-वासना एवं तत्सम्बन्धी कर्मों से मुक्त कर देती है और अपना फल प्रदान करती है ॥१७२॥

१७३—नन्वेवं केवलानां कर्म्मज्ञानभक्तीनां व्यवस्थोक्ता। नित्यनैमित्तिकं कर्म तु सर्व्वेष्वेवावश्यकम्। तर्हि साङ्कर्य्ये कथं शुद्धे ज्ञान-भक्ती प्रवर्त्तेयाताम्, तदेतदाशङ्क्य तयोः कर्माधिकारितां वारयति (भा० ११।२०।९)—

तावत्कर्म्माणि कुर्व्वीत न निर्व्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥४८९॥

कर्म्माणि नित्य-नैमित्तिकादीनीति टीका च। अतएव

श्रुति - स्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥४९०॥

इत्युक्तदोषोऽप्यत्र नास्ति, आज्ञाकरणात्। प्रत्युत जातयोरपि निर्व्वेद-श्रद्धयोस्तत्करण एवाज्ञाभंगः स्यात्। यथा च व्याख्यातम् (भा० ११।११।३२)— 'आज्ञायैवं गुणान् दोषान्, इत्यस्य टीकायाम्—"भक्ति-दार्ढ्येन निवृत्ताधिकार-तया सन्त्यज्य" इति। निवृत्ताधिकारत्वञ्चोक्तं श्रीकरभाजनेन (भा० ११।५।४१)-

देवर्षि-भूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्व्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥४९१॥

इति तेषां न किंकरः, किन्तु श्रीभगवत एवेत्यनधिकारित्वम्। कर्त्तं कृत्यम्, कर्त्तं भेदत्यमिर्थे ततो देवतादीनां स्वातन्त्र्यमिति यावत्। एवमेवोक्तं गारुडे—

अयं देवो मुनिर्वन्द्य एष ब्रह्मा बृहस्पतिः।
इत्याख्या जायते तावद् यावन्नार्च्चयते हरिम् ॥४९२॥इति

न च विकर्म्मप्रायश्चित्तरूपं कर्म्मान्तरं कर्त्तव्यम्, तस्य तच्छरणस्य विकर्म्मप्रवृत्त्यभावात्। कथञ्चिदापतितेऽपि विकर्म्मणि तदनुस्मरणेनैव प्रायश्चित्तस्याप्यानुषंगिक-सिद्धिरित्यप्युक्तमनन्तरपद्ये नैव (भा० ११।५।४२)—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्व्वं हृदि सन्निविष्ठः ॥४९३॥इति

त्यक्तोऽन्यत्र देवतान्तरे भावो भगवतीव भक्तिर्येनेति च व्याख्येयम्। अत्र कर्म्मपरित्यागहेतुत्वेनाभिधानात् श्रद्धाशरणापत्योरैकाख्यं लभ्यते, तच्च युक्तम्। श्रद्धा हि शास्त्रार्थविश्वासः, शास्त्रञ्च तदशरणस्य भयं तच्छरणस्याभयं वदति। ततो जातायाः श्रद्धायास्तच्छरणापत्तिरेव लिंगमिति। न च देवादि-तर्पणमात्र-तात्पर्य्येणापि पृथक् पृथगाराधनं कर्त्तव्यम्। (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादौ तत्पौनरुक्त्यप्राप्तेः। न च त्यक्तकर्म्मणो मध्ये विघ्नस्थगितायामपि भक्तौ तत्त्यागानुतापो युज्यते, (भा० १।५।१७) त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि" इत्याद्युक्तेः। श्रीगीतासु च (१८।६६)—

सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥४९४॥

इत्यस्य (भा० ११।५।४१)—"देवर्षिभूताप्त नृणाम्" इत्यादिद्वयेनैकार्थ्यं दृश्यते। अतो भक्त्यारम्भ एव तु स्वरूपत एव कर्म्मत्यागः कर्त्तव्यः। परि-त्यज्येत्यत्र परिशब्दस्य हि तथैवार्थः। (गी० १८।६५)"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" इत्यादिना चानन्यामेव भक्तिमुपदिदेश। गौतमीये च—

न जपो नार्च्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः।
केवलं सततं कृष्णचरणाम्भोजभाविनाम् ॥४९५॥

तथा विष्णुपुराणेऽपि भरतमुद्दिश्य (वि० पु० २। ३।९-१०)—

यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव।
कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम् ॥४९६॥
नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित् स्वप्नान्तरेष्वपि ॥४९७॥

अत्र वचनान्तरस्याप्यनवकाशात्। सुतरामेव तत्तद्वचनमयकर्म्मान्तरपरित्यागोऽङ्गीकृतः। कथञ्चित् क्रियमाणमपि तन्नाम्नैव कृत मित्यवगतेश्च सर्व्वत्र तदीक्षणाच्छुद्धभक्तित्वमेवांगीकृतम्। यथोक्तं पाद्मे—

सर्व्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्व्वेऽपि धार्म्मिकाः ॥४९८॥इति॥

पूर्वोक्त अनुच्छेद में शुद्ध कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की व्यवस्था कही गई है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्म जब सब में आवश्यक हैं, तो फिर इस प्रकार कर्म-मिश्रण क्षेत्र में शुद्ध ज्ञान और शुद्ध-भक्ति में कैसे प्रवृत्त हुआ जा सकता है? –इस शङ्का के समाधान में ज्ञान तथा भक्ति में कर्माधिकारिता का निषेध करते हैं अर्थात् ज्ञान-मार्ग में तथा भक्ति-मार्ग में किस-किस अवस्था या अधिकार तक पहुंचने पर कर्मों का निषेध है, उसको स्पष्ट करते हैं—

श्रीभागवत (११।२०।९) में कहा गया है कि ज्ञान-मार्ग का साधक तब तक नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करता रहे जब तक वह इह–लोक तथा पर-लोक के सुख भोगों की कामना से पूर्णतः रहित नहीं हो जाता और भक्ति-मार्ग का साधक तब तक उनको करता रहे जब तक उसमें श्रीभगवान् की कथा-श्रवण-कीर्त्तन आदि में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् जब तक उसे यह दृढ़ विश्वास नहीं हो जाता कि भगवत् कथा-श्रवणादि करने पर सब नित्य-नैमित्तिक कर्म हो जाते हैं, तब तक उसे उन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये ॥४८९॥

श्लोकस्थ 'कर्माणि'—शब्द से नित्य (अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना आदि) और नैमित्तिक (श्राद्ध, जातेष्ठि आदि) दोनों प्रकार के कर्म अभिप्रेत हैं।

श्रीभगवान् ने कहा है –श्रुति एवं स्मृति शास्त्र मेरी ही आज्ञा का स्वरूप हैं, जो व्यक्ति उनका उलङ्घन करता है—उनको नहीं मानता, मेरी आज्ञा को भङ्ग करने वाला वह व्यक्ति मेरा द्वेषी है, यदि वह मेरा भक्त भी कहलाता है तो भी वह वैष्णव नहीं है ॥४९०॥

इस वचन में कहा हुआ दोष भी ज्ञानी और भक्त के कर्म-त्याग में नहीं घटता, क्योंकि इसमें आज्ञा का पालन ही होता है। बल्कि निर्वेद अवस्था प्राप्त होने पर और श्रद्धा के उदय हो जाने पर जो नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते हैं, उनके पक्ष में आज्ञा-भङ्ग करने का दोष लगता है। जैसा कि श्रीमद्-भागवत (११।११।३२) में कहा गया है कि "धर्मानुष्ठानों में गुण और दोषों को अच्छी तरह जानकर ही मेरे द्वारा भी उपदिष्ट स्वधर्मों को त्याग कर जो मेरे भजन में रत रहता है, वह परम साधु है"। (श्लोक सं० ५८१ द्रष्टव्य है) इस श्लोक की टीका में श्री श्रीधर स्वामी ने कहा है कि भक्ति की दृढ़ता के कारण इस वचन में अधिकार-निवृत्ति के लिए स्वधर्मों का परित्याग कहा गया है। अधिकार की निवृत्ति के विषय में श्रीकरभाजन योगेश्वर ने (भा० ११।५।४१) कहा है –

हे राजन्! जो व्यक्ति करणीय कर्मों को परित्याग कर सर्वभाव से शरण लेने योग्य भगवान् श्रीमुकुन्द की शरण ले लेता है, वह फिर देवता, ऋषि, भूत, मनुष्य एवं पितृगण का दास नहीं रहता और न ही ऋणि रहता है ॥४९१॥

देवता-ऋषि आदिकों का वह किङ्कर नहीं रहता, वह तो श्रीभगवान् का किङ्कर हो जाता है। अतएव उसका कर्मों में अधिकार ही नहीं रह जाता। 'कर्त्तं'—शब्द का अर्थ है कृत्य। कर्त्तं—शब्द का अर्थ यदि भेद-ग्रहण किया जाए तो इस अर्थ में श्रीभगवान् से देवतादिक में जो स्वतन्त्रता-पूर्वक आराध्य बुद्धि है, उसका परित्याग कर के जो शरण्य श्रीमुकुन्द की शरणापन्न हुआ है, उसके लिए फिर कर्मों का अधिकार नहीं रहता। यही बात गरुड़-पुराण में भी कही गई है—

मनुष्य जब तक श्रीहरि की सेवा में नहीं लगता है, तब तक ही, "यह देवता, यह मुनि, यह ब्रह्मा और यह वृहस्पति मेरे वन्दनीय हैं—इस प्रकार जानता रहता है ॥४६२॥

हरिशरणापन्न व्यक्ति के लिए किसी विकर्म—शास्त्र विरुद्ध कर्म के प्रायश्चित रूप में भी भक्ति को छोड़कर अन्य कोई कर्म नहीं करना होता है। क्योंकि भगवदाश्रित व्यक्ति की पाप कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं रहती। यदि दैववश कभी कोई ऐसा विकर्म घट भी जाए तो श्रीभगवद् स्मृति या भजन से आनुषङ्गिक रूप में उसका प्रायश्चित सिद्ध हो जाता है—यही बात श्रीभागवत (११।५।४२) में कही गई है—

जो प्रेमीभक्त अपने प्रियतम श्रीभगवान् के चरणकमलों का अनन्य-भाव से भजन करता है, यदि कभी किसी प्रकार उससे पापकर्म बन जाए तो उसके हृदय में विराजमान परम-पुरुष भगवान् श्रीहरि उसको नष्ट कर देते हैं ॥४६३॥

'त्यक्तान्य-भाव' का अर्थ है जिसकी अन्यान्य देवताओं में श्रीभगवान् के समान भक्ति नहीं है। यहां शरणापत्ति कर्म-त्याग के हेतु रूप में वर्णन की गई है, परन्तु श्रद्धा एवं शरणापत्ति, ये दोनों एक अर्थ वाचक हैं, और यह बात युक्त है। श्रद्धा नाम है शास्त्र के अर्थों में विश्वास होना। और शास्त्र भगवद्—अशरण व्यक्ति के लिए भय—शासन का निरूपण करता है और भगवत्—शरणापन्न के लिए अभय वर्णन करता है। इसलिए भगवत्-शरणापत्ति श्रद्धा-उत्पत्ति का चिह्न है। ऐसे भक्त के पक्ष में देवताओं के तर्पण या सन्तुष्टि के लिए पृथक्-पृथक् रूप से कोई आराधना करना भी कर्त्तव्य नहीं है। जैसे कि श्रीभागवत (४-३१-१४) में कहा गया है कि वृक्ष के मूल को सिञ्चन करने से जैसे उसकी शाखा-प्रशाखाएँ सब अङ्ग पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् की आराधना से समस्त देवी-देवताओं की तुष्टि हो जाती है। भगवद्-शरणापन्न के पक्ष में अन्यान्य देवाराधन व्यर्थ ही है। कर्म त्यागी पुरुष की भक्ति में विघ्न आ पड़ने से यदि वह स्थगित हो जाती है, तो भी उस भक्त को कर्म-त्याग का पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये। क्योंकि (भा० १।५।१७) यह कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति स्वकर्मों का त्याग करके श्रीभगवान् के चरण-कमलों की

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—उपसंहरति—एवमिति । बुद्धेः परं जीवात्मानं बुद्ध्वा सर्व्वोपाधिभ्यः पृथग्भूतं ज्ञात्वाऽऽत्मना स्वेनैवात्मानं स्वं संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा दुरासदं दुर्ज्जयमपि कामं जहि नाशय ।।४३।।

अध्यायेऽस्मिन् साधनस्य निष्कामस्यैव कर्म्मणः ।
प्राधान्यमूचे तत्साध्यज्ञानस्य गुणतां वदन् ।। (२)
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
तृतीयः खलु गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ।। (३)

अनुवाद—इस प्रकार बुद्धि से भी परे—श्रेष्ठ जीवात्मा को जानकर और अपने द्वारा ही अपने को निश्चल करके, हे महाबाहो ! उस कामरूपी दुर्जय शत्रु को नाश कर ।।४३।।

तात्पर्य—इस श्लोक से उपसंहार करते हैं । बुद्धि से श्रेष्ठ जीवात्मा को जान अर्थात् सर्व-उपाधियों से उसे पृथक् जानकर अपने द्वारा ही आत्मा—अपने को निश्चल करके दुर्जय काम को मार ।

इस अध्याय में निष्काम कर्म को साधन-प्रधानता तथा उससे साध्य ज्ञान की सगुणता कही गई है ।।२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय को साधुजन सम्मत भक्तजन-आनन्द प्रदायिनी सारार्थवर्षिणी टीका का अनुवाद पूर्ण हुआ ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—तुर्य्ये स्वाविर्भावहेतोर्नित्यत्वं जन्मकर्म्मणोः ।
स्वस्योक्तं ब्रह्मयज्ञादिज्ञानोत्कर्षप्रपञ्चनम् ।।१।।
अध्यायद्वयेनोक्तं निष्कामकर्म्मसाध्यं ज्ञानयोगं स्तौति—इममिति ।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—मैंने पूर्वकाल में इस अविनाशी योग को सूर्य के प्रति कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु के प्रति इस योग को कहा था ॥१॥

तात्पर्य—इस चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने आविर्भाव (अवतार) का हेतु, स्वजन्मकर्म की नित्यता तथा ब्रह्मयज्ञादि-ज्ञान का उत्कर्ष वर्णन किया है ॥१॥

तीसरे तथा चौथे—इन दो अध्यायों में निष्कामकर्म के साध्य ज्ञान-योग की प्रशंसा की गई है ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

अनुवाद—हे शत्रुतापदायो ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु दीर्घकाल से इस लोक में वह नष्ट हो गया है ॥२

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—त्वां प्रत्येवास्य प्रोक्तत्वे हेतुः—भक्तो दासः सखा चेति भावद्वयमन्यन्त्वर्व्वाचीनं प्रत्येवावक्तव्यत्वे हेतुः रहस्यमिति ॥३॥

अनुवाद—वही पुरातन योग आज मैंने तुझे कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त तथा सखा है, और यह योग अति उत्तम एवं गोपनीय है ॥३॥

तात्पर्य—श्रीअर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त-दास तथा सखा—इन दो भावों से युक्त हैं। अर्वाचीन किसी व्यक्ति के कहने योग्य यह नहीं है, इसलिये इसे गोपनीय कहा गया है।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—उक्तमर्थमसम्भवं पृच्छति-अपरमिदानीन्तनम्, परं पुरातनमतः कथमेतत् प्रत्येमीति भावः ॥४॥

अनुवाद श्रीअर्जुन ने कहा—सूर्य का जन्म तो बहुत पूर्वकाल में हुआ था और आपका जन्म अभी हुआ है, तब यह कैसे समझूँ कि सृष्टि के आदि काल में आपने इस योग को कहा था ॥४॥

तात्पर्य—श्रीकृष्ण द्वारा कही बात को असम्भव समझकर अर्जुन पूछता है, आप तो अभी आधुनिक हैं और सूर्य आदि तो प्राचीन हैं। इसलिये मैं आपकी बात पर कैसे विश्वास करूँ ?।

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—अवतारान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणाह बहूनीति। तव चेति यदा यदैव ममावतारस्तदा मत्पार्षदत्वात्तवाप्याविर्भावोऽभूदेवेत्यर्थः। वेद वेद्मि सर्व्वेश्वरत्वेन सर्व्वज्ञत्वात्। त्वं न वेत्थ मयैव स्वलीलासिद्ध्यर्थं त्वज्ज्ञानावरणादिति भावः। अतएव हे परन्तप! साम्प्रतिक-कुन्तीपुत्रत्वाभिमानमात्रेणैव परान् शत्रूंस्तापयसि ॥५॥

अनुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे शत्रुतापकारी, अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, मैं उन सभी को जानता हूँ परन्तु तू उन्हें नहीं जानता ॥५॥

तात्पर्य—श्रीभगवान् ने कहा—मैं और अवतारों में भी तुम्हें उपदेश कर चुका हूँ, और जब-जब मेरा अवतार हुआ, मेरे पार्षद होने से तब तेरा भी आविर्भाव हुआ था। मैं सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर होने से यह सब जानता हूँ, परन्तु तू नहीं जानता। अपनी लीला-सिद्धि के लिये मैं तेरे ज्ञान को आवृत किए रहता हूँ। इसलिये हे परन्तप! इसकाल में कुन्तीपुत्र रूप अभिमान मात्र से त शत्रुओं को ताप देने वाला हो रहा है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

सारार्थवर्षिणी टीका—स्वस्य जन्मप्रकारमाह-अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन् सम्भवामि, देवमनुष्यतिर्य्यगादिषु आविर्भवामि। ननु किमत्र चित्रम्?—जीवोऽपि वस्तुतोऽज एव स्थूलदेहनाशानन्तरं जायत एव? तत्राह—अव्ययात्माऽनश्वरशरीरः। किञ्च, जीवस्य स्वदेहभिन्नस्वस्वरूपेणाजत्वमेव, आविद्यकेन देहसम्बन्धेनैव तस्य जन्मवत्त्वम्, मम त्वीश्वरत्वात् स्वदेहाभिन्नस्याजत्वं जन्मवत्त्वमित्युभयमपि स्वरूपसिद्धम्। तच्च दुर्घटत्वात् चित्रमतर्क्यमेव। अतः पुण्यपापादिमतो जीवस्येव सदसद्योनिषु न मे जन्माशङ्केत्याह—भूतानामीश्वरोऽपि सन् कर्म्म-पारतन्त्र्यरहितोऽपि भूत्वेत्यर्थः। ननु जीवो हि लिङ्गशरीरेण स्वबन्धकेन कर्म्मप्राप्यान् देवादि-देहान् प्राप्नोति। त्वं परमेश्वरो लिङ्गरहितः सर्व्वव्यापकः कर्म्मकालादि-नियन्ता; "बहु स्याम्" इति श्रुतेः सर्व्वजगद्रूपा भवस्येव। तदपि यद्विशेषत एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामीति ब्रूषे, तन्मन्ये सर्व्वजगद्विलक्षणान्

देहविशेषान् नित्यानेव लोके प्रकाशयितुं त्वज्जन्मेत्यवगम्यते। तत् खलु कथमित्यत आह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठायेति। अत्र प्रकृति-शब्देन यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिरुच्यते, तदा तदधिष्ठता परमेश्वरस्तद्द्वारा जगद्रूपो भवत्येवेति न विशेषोपलब्धिः। तस्मात् "ससिद्धिप्रकृतौ त्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च" इत्यभिधानादत्र प्रकृतिशब्देन स्वरूपमेवोच्यते। न तत् स्वरूपभूता मायाशक्तिः, स्वरूपञ्च तस्य सच्चिदानन्द एव; अतएव "स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिम्" इति श्रीस्वामिचरणाः; "प्रकृतिं स्वभावं स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वरूपेण स्वेच्छया सम्भवामीत्यर्थः" इति श्रीरामानुजाचार्य्यचरणाः। प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम्; मायां व्यावर्त्तयति—स्वामिति—निजस्वरूपमित्यर्थः। "स भगवतः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नि" इति श्रुतेः। "स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सम्भवामि, देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि" इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः। ननु यद्यव्ययात्मा—अनश्वर-मत्स्यकूर्म्मादिस्वरूप एव भवसि, तर्हि तव प्रादुर्भवत्स्वरूपं पूर्व्वप्रादुर्भूतस्वरूपाणि च युगपदेव किं नोपलभ्यन्ते? तत्राह—आत्मभूता या माया तया स्वरूपावरणप्रकाशन-कर्म्म च यया चिच्छक्तिवृत्त्या योगमाययेत्यर्थः। तया हि पूर्व्वकालावतीर्णस्वरूपाणि पूर्व्वमेवावृत्य वर्त्तमानस्वरूपं प्रकाश्य सम्भवामि। "आत्ममायया सम्यक्प्रच्युतज्ञानवल-वीर्य्यादिशक्त्यैव भवामि" इति श्रीस्वामिचरणः; आत्ममाययाऽऽत्मज्ञानेन "माया वयुनं ज्ञानम्" इति ज्ञानपर्यायोऽत्र माया-शब्दः; तथा चाभियुक्तप्रयोगः—मायया सततं वेत्ति प्राचीनानां शुभाशुभम्" इति श्रीरामानुजाचार्य्यचरणाः; "मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिः मायामात्रम्" इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः ॥६॥

अनुवाद—मैं जन्मरहित तथा विनाशरहित हूँ। सम्पूर्ण प्राणी मात्र का ईश्वर होकर भी अपनी शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृति में अधिष्ठित होकर अपनी योगमाया से आविर्भूत होता हूँ ॥६॥

तात्पर्य—श्रीभगवान् अपने अवतार लेने का रहस्य इस श्लोक में कहते हैं—मैं जन्मरहित होकर भी, देव-मनुष्य-पशु आदि योनियों में आविर्भूत होता हूँ। इस में क्या विचित्रता है?—जीव भी तो वस्तुतः अज ही है, वह स्थूल देह के नाश होने पर जन्म ग्रहण करता है? इसके उत्तर में कहते हैं—जीव का स्थूल देह नाश होता है, परन्तु मैं अनश्वर शरीर वाला हूँ और भी एक भेद यह है कि जीव का अपने शरीर से भिन्न निजस्वरूप में अजत्व है और अविद्या-जनित देह सम्बन्ध से ही उसका जन्मत्व है। परन्तु ईश्वर होने के कारण स्वदेह से अभिन्न मेरा अजत्व तथा जन्मवत्व—ये दोनों ही स्वरूपसिद्ध हैं। अन्यत्र ऐसा दुर्घट होने से मेरा आविर्भाव विचित्र तथा अतर्क्य ही है। इसलिये पुण्य-पापादि युक्त जीव के सत्-असत् योनियों में जन्म के समान मेरे जन्म की आशङ्का नहीं है। भूत अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर तथा कर्मपराधीनता से रहित होकर भी मैं आविर्भूत होता हूँ।

महारास-लीला

[राग अरल इकतालो]

पूरन शशि प्रकाश शरद निशि परम उज्यारी।
तालन में जल निर्मल छाई वन हरियारी।
यमुना तट रमणीक विविध बहै पवन सुखारी।
रवि शशि कोटि मदन छवि दीजै हरि पखारी।
मुदित भये सुख देखि वेणु सुर ललित उचारी।
लै लै गोपिन नाम टेर दई कुञ्ज बिहारी।
उपज्यौ मैन न चैन परत व्याकुल व्रजनारी।
लोक लाज ग्रह काज सुरत तन सबन बिसारी।
ललित लड़ैती मिलिवे श्याम सङ्ग गोप कुमारी।
निज जन भवन हू त्याग नेह उठि बन को पधारीं ।।३।।

[राग कल्याण वा जंगलाको जि०]

जब हरि बंसी धुनि उपजाई।
चर किये अचर अचर चर कीने निज निज दशा भुलाई।
पूरी रही धुनि दशों दशा में ऐसी युक्ति उपाई।
शरद रैन सुख दैन बढ़ाई गोपिन के सुखदाई।
मोहे गये जीव जल थल के सबहिन सुधि बिसराई।
ललित लड़ैती वेणु अधर धर श्याम ललित सुर गाई ।।४।।

[राग मल्हार वा व० पीलूका जि०]

मुरली धुनि सुनि ब्रजतिया सारी।
उपज्यौ मैन चैन नहीं पावत चलत धाय व्याकुल जिय भारी।
उर हमेल काहू पहरी कटि कटि करधनी गले में डारी।
काहू पायजेब पग हाथन चूरी हाथ पगन में धारी।
झुमका नाक हार उर माथे परी श्रवन नभ झलकावारी।
भूली एक ओढ़वे सारी एक कंचुकी तनें बिसारी।
बार सँवारत कोऊ दौरी बाल गोद तज कोऊ सिधारी।
कर सिंगार उलटो पलटो यों ललित लड़ैती विपन पधारी ।।५।।

[कवित्त चौतालो]

एक उठि धाई एक रिस बिसराई,
एक भूली चतुराई रही ना सम्हार तन में।

वृन्दावन में पाय जनम हम पुष्पलता द्रुमबेली।
सेवैं मोहन रसिक बिहारी प्यारी कुमरि नवेली॥
फूल सिंगार करावैं दम्पति नित उठ गोप कुमारी।
ललित लड़ैती लखि नव शोभा हम जावैं बलिहारी॥१७॥

समाजी वचन [राग नायकी कान्हड़ो वा व० पी० जि०]

रच्यो आज रहारास बिहारी।
जैसोई रत्न जटित वृन्दावन तैसो सिंगार कियैं ब्रजनारी॥
मंडल कंचन मणिन खच्यौ है बीच विराजत प्रीतम प्यारी।
चन्दवदन पिया मुकट लसत सिर चन्द्रमुखीप्रिया सरद उजारी॥
निरतत रास लिये राधा संग बैजन्ती बेसरि छबि भारी।
गति संगीत मिलाय परस्पर देवैं ताल प्रिया बनवारी॥
बजत पखावज झांझ सारंगी चंग मृदंग बीन खरतारी।
मिले ताल सुर सों मृदु बाजे चतुर प्रवीण बजावन वारी॥
नाचत कबू दिये गलबाहीं पकर हाथ गावत गति न्यारी।
कबहूँ सावधान ह्वै निरखत नृत्यगान ब्रज गोपकुमारी॥
कबू हरष मन हंसत परस्पर बिहंसत देखि देखि ब्रज ग्वारी।
कबू लाल सुर दुगन अलापत ताल देत वृषभानु दुलारी॥
कबू विलग ह्वै नाचत मोहन ब्रज तिया रीझ देत करतारी।
ललित लड़ैती राग रङ्ग रखि गोपेश्वर तन सुरति बिसारी॥१८॥

[राग भैरों]

सखी वचन

अति उमंग प्रिया सङ्ग निरतत बनवारी।
यमुना तट पुलिन शोभा फूली फुलवारी॥
श्यामा मुख शरद चंद पूंछत जल श्रम अनन्द।
करत मुकट छाई लटक लटक ब्रजबिहारी॥
गावत रस राग रङ्ग तार तान सुर अभङ्ग।
उमगत छबि अति अनन्द रीझत पिया प्यारी॥
छाए देव विमान निरखि निरखि नृत्यगान।
देवांगना निधान भईं चित्रकारी॥
चकित थकित यमुना नीर खग मृग जगमग शरीर।
ललित लड़ैती बनी दम्पति छबि न्यारी॥१९॥

[रेखता]

सखी आज बंशी बट पै छाई बहार है।
नाचत पिया रसिक सङ्ग कीरति कुमार है॥

श्रीअद्वैताचार्य-प्रभु

★

श्रीलाद्वैत - गुरुं वन्दे हरिनाद्वैतमेव तम्।
प्रकाशितं परंब्रह्म योऽवतीर्णक्षितौ हरिं॥
महाविष्णु र्जगत्कर्त्ता मायया यः सृजत्यदः।
तस्यावतार एवायमद्वैताचार्य ईश्वरः॥

भगवान् श्रीशङ्कर ने कलिकाल के जीवों को घोरतम पापों में आसक्त देखकर, उनके निस्तार के लिए एक बार समाधि लगाकर ध्यान किया। योग-माया के साथ यही निर्णय हुआ कि स्वयं भगवान् के अवतार लिए बिना कलि के जीवों का उद्धार नहीं हो सकता। तब श्रीशङ्कर ने योगासन लगा कर सात सौ वर्ष तक तपस्या की। श्रीमहाविष्णु कारण-समुद्रशायी ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। श्रीमहाविष्णु ने कहा—"महादेव! हम तुम दो नहीं हैं, मेरी एवं तुम्हारी आत्मा एक है। ज्योंहि दोनों ने परस्पर आलिङ्गन किया, दोनों एक हो गए। सुवर्ण जैसा महा तेजोमय विशाल शरीर। इतने में आकाशवाणी हुई—"हे महाविष्णु! तुम पृथ्वी पर चलकर श्रीकुबेराचार्य एवं लाभादेवी के घर जन्म ग्रहण करो। मैं श्रीबलराम आदि समस्त व्रज-परिकरों के साथ पृथ्वी पर शीघ्र आविर्भूत हूँगा"।

पूर्वकाल में कुबेर की पत्नी ने श्रीशिव की आराधना की और उन्हें पुत्र रूप में प्राप्त करने की प्रार्थना की थी। वही श्रीकुबेराचार्य और उसकी पत्नी श्रीलाभादेवी लाडड़ग्राम में निवास करते थे। उनसे श्रीअद्वैताचार्य का जन्म हुआ। वह शुभ-दिन था माघ शुक्ला सप्तमी संवत् १४८१ का। समस्त परिवार में ही नहीं, सारे गाँव में मङ्गलाचार होने लगा। सुन्दर-शुभ-लक्षण पुत्र का नाम ज्योतिषियों ने 'कमलाक्ष' रखा।

श्रीकमलाक्ष पांचवें वर्ष में आते ही श्रीकृष्ण-प्रसाद को छोड़कर और कुछ भी खाते-पीते नहीं थे। श्रीकुबेराचार्य ने श्रीकमलाक्ष को नवग्राम के राजा दिव्यसिंह के पुत्र के साथ पाठशाला में पढ़ने बैठाया। इनकी इतनी प्रखर बुद्धि कि तीन वर्ष में कलाप-व्याकरण के सब सूत्र याद कर लिये। श्रीगुरुदेव तथा समस्त सहपाठी चमत्कृत हो उठे इनकी दैवीशक्ति को देखकर।

एक दिन राजकुमार तथा श्रीकमलाक्ष खेलते-खेलते काली मन्दिर में जा निकले। राजकुमार ने काली को प्रणाम किया। श्रीकमलाक्ष उसके रूप-माधुर्य को देखते ही रहे। राजकुमार ने कहा—कमलाक्ष ! देवी को नमस्कार करो न ! यह चुप खड़े रहे। राजकुमार ने कुछ क्रोध में भर कर कहना चाहा कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सब लोग दौड़-दौड़े राजा के पास पहुँचे। वृत्तान्त सुनते ही मन्त्रियों के साथ राजा उस मन्दिर में पहुँचा। सब ने ध्यान-पूर्वक देखा कि राजकुमार तो मर चुका है। राजा एवं सब लोग शोक-व्याकुल हो उठे। श्रीकमलाक्ष ने कहा—आप शोक मत करें, मैं इसे अभी जिला देता हूँ। इन्होंने श्रीनारायण का चरणामृत घर से मँगाया और मृत राजकुमार के ऊपर छिड़का। फिर क्या था ? मृत राजकुमार 'हरे कृष्ण' कहता हुआ उठ बैठा। सब के आश्चर्य की सीमा न रही। राजा ने अनेक धन-सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान में दी। पिता श्रीकुबेर ने श्रीकमलाक्ष का यज्ञोपवीत उत्सव मनाया तथा द्विजाति संस्कार सम्पन्न किया। ये क्रमश: साहित्य, अलङ्कार एवं ज्योतिष का अध्ययन करने लगे। थोड़े ही समय में उन सब विषयों में यह पारङ्गत हो गये।

दिवाली का दिन था। नवग्राम में राजा दिव्यसिंह अपने समस्त परिकरों के साथ कालीदेवी के मन्दिर में उत्सव मना रहे थे। नगर के सब लोगों की वहां भीड़-भाड़ थी। नृत्य-गान चल रहा था। श्रीकुबेराचार्य भी कमलाक्ष को साथ लेकर उस सभा में आए। पिता ने तो देवी को प्रणाम किया, किन्तु पुत्र कमलाक्ष बिना प्रणाम किए वहां बैठ गया। राजा यह देख रहे थे। राजा ने निकट बुलाकर पूछा—कमलाक्ष ! तुम ने देवी को प्रणाम तक भी नहीं किया ? कमलाक्ष ने कहा—राजन् ! मेरे इष्ट स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्हें ही मैं प्रणाम करता हूँ। उनके प्रणाम में ही सब देवो-देवताओं को प्रणाम हो जाता है। वृक्ष के मूल में जल सींचने से पत्र-शाखादि अपने आप पुष्ट हो जाते हैं। श्रीकुबेराचार्य ने राजा का पक्ष लेकर कमलाक्ष को बहुत समझाया तथा देवी की महिमा का बखान करते हुए कहा—कमलाक्ष ! काली देवी जगन्माता है, यह भगवती है। इसको पूजा तथा प्रणाम से सदा सन्तुष्ट करना उचित है। श्रीकमलाक्ष ने कहा—पिताजी ! कालीदेवी श्रीविष्णु की बहिरङ्गा-शक्ति माया का रूप है। फिर जिस की पूजा में जीवों की हिंसा की जाती है, वह कैसी जगन्माता ? जगत् मात्र उसकी सन्तान है और वह अपनी सन्तान की बली लेकर सन्तुष्ट होती है ? बड़े आश्चर्य की बात है।

श्रीकुबेराचार्य ने कमलाक्ष को आंख दिखाई और अधिक वाद-विवाद बन्द करने को ललकारा। श्रीकमलाक्ष ने श्रीपिता में गुरुभाव को व्यक्त किया और क्षमा मांगते हुए कालीदेवी को झट प्रणाम किया। अहो ! यह क्या ? प्रणाम करते ही देवी की मूर्त्ति फट गई। देवी शक्ति है श्रीमहाविष्णु की। महा-

विष्णु के अवतार हैं श्रीकमलाक्ष। अपने स्वामी का प्रणाम देवी कैसे सहन कर सकती थी? राजा मन्त्री तथा समस्त एकत्रित जन-समुदाय स्तब्ध हो उठा। चारों ओर कोलाहल मच गया। किसी ने यह न देखा कि श्रीकमलाक्ष कहाँ चले गये। अदृश्य रूप से ये शान्तिपुर आ पहुंचे। बारह वर्ष के थे श्रीकमलाक्ष अब। शान्तिपुर में षड़दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने लगे।

पिता श्रीकुबेराचार्य तथा माता लाभादेवी पुत्र को खोकर अति दुःखी थे। श्रीकुबेर अपनी पत्नी को अनेक शास्त्रवचन सुनाकर शान्त एवं आश्वस्त करते रहते। एक दिन रात्रि को श्रीकुबेर ने स्वप्न देखा। श्रीगोपाल जी ने कहा—कुबेर! कमलाक्ष केवल तुम्हारा पुत्र नहीं है, वह भक्तावतार है। इस समय गङ्गा के किनारे शान्तिपुर में वह अध्ययन कर रहा है। शीघ्र ही उस से तुम्हारा मिलन होगा। सवेरे जागकर श्रीकुबेर ने लाभादेवी को अपना स्वप्न सुनाया। थोड़ी देर में एक व्यक्ति ने आकर श्रीकमलाक्ष का पत्र उन्हें दिया। पुत्र कमलाक्ष का कुशल समाचार पाकर दोनों के मानो प्राण लौट आए। दो दिन में वहां से चलकर श्रीकुबेर-लाभादेवी शान्तिपुर आ बसे। पुत्र श्रीकमलाक्ष को देखकर अतीव आनन्दित हुए।

षड़-दर्शन शास्त्र अध्ययन समाप्त कर श्रीपिता-माता से आज्ञा लेकर पूर्णवाटी ग्राम में श्रीवेदान्त वागीश आचार्य के पास वेदाध्ययन करने के लिये चले आये। श्रीगुरुदेव सुयोग्य-सौम्य-शिष्य को पाकर अति प्रसन्न हुए। दो वर्ष में चारों वेदों का आपने अध्ययन कर लिया। श्रीगुरुदेव तथा सहपाठी छात्र परस्पर इनकी प्रचुर प्रतिभा की प्रतिक्षण प्रशंसा किया करते।

गङ्गा के निकट कांटों से भरी एक दुर्गम झील थी। उस में कमल खिले हुए थे, अति भीनी सुगन्ध सब के मन को आकर्षित करती थी। सांप वहां कमलों को घेरे रहते थे। एक दिन श्रीवेदान्त वागीश शिष्यों को साथ लेकर उसके किनारे घूम रहे थे। उन्होंने कहा—देखो! सामने कैसा अद्भुत कमल खिल रहा है और चारों ओर इसकी मधुर सौरभ मन का हरण कर रहा है! श्रीकमलाक्ष ने कहा, गुरुदेव! आज्ञा दीजिए मैं अभी इस कमल को ले आता हूँ। "न--न", बेटा! कभी नहीं—श्रीगुरुदेव ने कहा, कमलाक्ष! सर्पों एवं कांटों से भरी यह झील दुर्गम एवं भयावना है। किसी की भी इस में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं है। श्रीकमलाक्ष ने श्रीगुरुदेव को प्रणाम किया और झील में कमलों के पत्तों पर पांव रखते हुए ऐसे चल दिये कि पृथ्वी पर चल रहे हों। दूर जाकर उस कमल को तोड़ा और लाकर श्रीगुरुदेव के कर-कमलों में समर्पण किया। सब के सब विस्मय सागर में डूब गये।

एकान्त में श्रीगुरुदेव ने पूछा—बेटा! तुम सत्य कहो, यह अलौकिक कार्य तुमने कैसे किया? किसी विद्या के बल पर या तुम में कोई दैवीशक्ति है? श्रीकमलाक्ष ने अति विनम्र होकर कहा—प्रभो! ये तीनों लोक श्रीकृष्ण के अश

मात्र हैं। जो व्यक्ति उनके चरण-कमलों की शरण ग्रहण करता है, उसके लिए इस कमल का लाना क्या दुर्गम है ? आठों सिद्धियां उस व्यक्ति के चरण-कमल पलोटा करती हैं। न मुझ में कोई विद्याबल है न दैवी शक्ति। कृष्णभक्ति की कृपा है मुझ पर। श्रीगुरुदेव ने सर्व वेद-वेदान्त के सार को शिष्य के मुख से सुनकर अपने को कृतार्थ माना।

श्रीकमलाक्ष श्रीगुरुदेव से आज्ञा लेकर घर लौटने लगे। वे अधीर होकर रोने लगे। बोले—कमलाक्ष ! तुम फिर कब मिलोगे। श्री कमलाक्ष ने कहा—गुरुदेव ! आप जब मुझे याद करेंगे, मैं तत्काल आपके सामने हूँगा। आप वहां से चलकर माता-पिता के पास शान्तिपुर में लौट आए। माता-पिता को दण्डवत् प्रणाम किया। उन्होंने मुखचुम्बन-आलिङ्गन कर शुभाशीर्वाद दिया।

एक वर्ष तक एकाग्र मन से माता-पिता की सेवा करते रहे। उन्होंने एक दिन इन्हें भक्तिवृद्धि, आयुर्वृद्धि, धनवृद्धि एवं यशवृद्धि का आशीर्वाद दिया और वे दोनों वैकुण्ठधाम में पधार गए। श्रीकमलाक्ष धैर्यपूर्वक हरि-हरि ध्वनि करते रहे और देखा कि उन दोनों को एक विमान आकाश मार्ग से लिए जा रहा है। माता-पिता के वियोग का दुःख स्वाभाविक था। कुछ दिन बाद आप गया गए तथा रेमुणा में साक्षी गोपाल के दर्शन करते हुए नाभि गया आए। वहां पितृपिण्ड-श्राद्धादि कर श्रीजगन्नाथपुरी चले आए। पुरी में श्रीकृष्ण-बलराम-सुभद्राजी के दर्शन करते ही प्रेमाविष्ट हो उठे। 'कृष्ण धन-पाया' 'कृष्ण धन पाया' कहते हुए नृत्य करने लगे। दूसरे दिन इन को बाह्य ज्ञान हुआ। फिर वहां सब तीर्थों एवं मन्दिरों के दर्शन कर अनेक तीर्थों में भ्रमण करने चले गए।

उड्डपी में आकर आपको श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी के दर्शन हुए। उन्होंने इनके असाधारण प्रेम को देखकर इनका परिचय पूछा। इन्होंनें अपना परिचय दिया और उन से आनुगत्य की प्रार्थना की। श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी ने इन्हें अपने पास ठहराया और कुछ दिन श्रीभागवत-भाष्य का अध्ययन कराया। इन्होंने श्रीपुरी जी से कलि-जीवों की दुर्दशा का उपचार पूछा—"इनका कैसे कल्याण होगा" ? श्रीपुरीजी ने स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के गौर-रूप में आविर्भूत होने की भविष्य-वाणी की। श्रीपुरीजी के वचन सुनते ही यह "हा गौराङ्ग ! हा प्राणपति ! उच्च स्वर में गान कर रोने लगे।

कुछ दिन बाद श्रीपुरीजी से आज्ञा लेकर दण्डकारण्य, नासिक, द्वारका प्रभास क्षेत्र, तथा बद्रिकाश्रम आदि तीर्थों का उन्होंने दर्शन किया मिथिलापुरी में इनका श्रीविद्यापति से मिलन हुआ। आलिङ्गन कर उनमें कृष्ण-प्रेम का संचार किया। अयोध्या में आकर आप भावाविष्ट होकर श्रीरामलीला-अभिनय करने लगे। वहां से वाराणसी में सब श्रीभगवत् विग्रहों के दर्शन कर उन से "भक्ति देहि"—भक्ति प्रदान कीजिए यही प्रार्थना की। वहां से आप मथुरा मण्डल की ओर चल दियें।

जाको राखे साइयां

– डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय

★

यह संसार परमात्मा का बनाया हुआ है। सृष्टि का अणु-अणु उन्हीं की आभा से आलोकित है, उन्हीं की कृपा से अनुप्राणित और संवलित है। किरणों के दिल चीरकर देखा जाए, तो उन में उन्हीं की लीला है—सृष्टि के फूल-फूल में उन्हीं की सुगन्ध महमह कर रही है। सच तो यह है कि उनकी आज्ञा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिलता है। हमारी प्रत्येक धड़कन में वही विराजता है—हमारी प्रत्येक गति विधि का वही नियामक है। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्धमें अर्जुन को मोह-मस्त होते देखकर कहा था–"न कोई किसी को मारता है, न कोई किसी को जिलाता है, न खुद कोई मरता है, न जीता है। सब मैं ही करता हूँ।" हे धनञ्जय! तुम निमित्त मात्र हो जाओ और सब मुझ पर छोड़ दो –"निमित्त मात्रं भव सव्यसाची धनञ्जयः।" प्रभु के प्रति इस आशा विश्वास से संवलित रहा जाए, तो कोई क्या बिगाड़ सकता है भला! ईश्वर की कृपा की विराट् और विशाल छाँह तले अनिष्ट की आशङ्का भी सिर उठा सकती है क्या? अपेक्षा है 'एक भरोसा एक बल, एक आस विश्वास' का दामन थामकर निष्ठा-पूर्वक जीवन बिताने की।

हिरण्यकश्यपु कितना बड़ा दैत्य था। उसके अत्याचार से जनता थर-थर कांपती थी। वह अपने प्रभु होने का अहसास करता रहता था। उसकी बात कानूनी थी—ब्रह्म वाक्य था। अपने ही बेटे प्रह्लाद को प्रभु का नाम लेते वह बर्दाश्त नहीं कर सका। उसे मरवाने के लिए कितना प्रयत्न किया—पहाड़ से ढकेलना, पानी में डुबाना, मतवाले हाथी से कुचलवाना। यहां तक कि आग में नहीं जलने का वरदान पानेवाली होलिका के द्वारा आग में जलाना, पर परिणाम क्या निकला? उसके सारे प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल हो गए, जिस प्रकार सती के मन पर कामी वचनों का प्रभाव नहीं पड़ता। उल्टे होलिका ही जलकर क्षार क्षार हो गई—फलतः उसी समय से होलिका दहन पर्व ही असत् पर सत् की विजय की घोषणा के रूप में मनाया जाने लगा। कबीर ने ठीक ही फरमाया है—

जाको राखे साइयां मारि सकि है न कोय।
बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय॥

सारा संसार दुश्मन बनकर उसके पीछे क्यों न पड़े, पर उसका कुछ अनिष्ट नहीं हो सकता है।

उनकी कृपा अपरम्पार है और विचित्र है। कब किस पर कृपा करेंगे-कब किस की रक्षा का भार उठाएँगे—कहना बड़ा कठिन है। इसलिए सूरदास को कहना पड़ा—

दयानिधि तेरी गति लखि न परै।
रीतो भरै, भरै पुनि ढारै, चाहे फेरि भरै॥

प्रभु का दाक्षिण्य जिसे प्राप्त हुआ—वह तर गया—उसको अपने बारे में सोचना क्या है? जरूरत इसकी है कि उसकी कृपा का अधिकारी कौन हो सकता है?—उसके अनुसार अपने चरित्र को ढालना। उनके राज्य में दो की गति नहीं है—या तो अहं या वह—एक ही रहेगा। जिस प्रकार एक मयान में दो तलवारों की कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार उनकी कृपा और अहं का साथ-साथ चलना भी। परमात्मा के प्रेम की गली बड़ी सँकरी है, उस में दो का प्रवेश सम्भव नहीं है। इस समर्पण भाव का जन्म तब होता है, जब मन शारदीय आकाश के समान निर्मल, निरभ्र हो—वचन, मन और कर्म की एकता और शुद्धता हो। कथनी और करनी में सामञ्जस्य हो। तुलसीदास जी ने इस पर प्रकाश डाला है—

सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥

सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में शुद्धता की अपेक्षा है। यह शुद्धता तभी आ सकती है, जब शनैः-शनैः अभ्यास द्वारा आत्मार्पण किया जा सके। "**मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।**" की भावना जहां बलवती होती है, वहां प्रभु रक्षा में तैयार खड़े दीखते हैं। अजामिल कितना बड़ा पापी था। कितना रक्तपात करता था—कितनों के स्व का हरण करता था। उसने अपने बेटे का नाम "नारायण" रखा और उसके प्रति अपार वात्सल्य से सिक्त रहा। यमराज को देखकर भयभीत होकर उसने पुत्र नारायण को पुकारा—नामाभास के प्रभाव से ही श्रीनारायण ने उसे वैकुण्ठ बुला लिया। ग्राह से मुक्त होने के लिए गज ने आर्त्त पुकार क्या की! विष्णु को नंगे पांव दौड़ना पड़ा। द्रौपदी को जब तक अपने पर भरोसा रहा, साड़ी का छोर पकड़े रही—श्रीकृष्ण नहीं आए। जब दोनों हाथ उठाकर पुकार की—'**निबहो बांह गहे की लाज**' दौड़े आए श्रीकृष्ण और उनकी कृपा का परिणाम हुआ—

पूरे चीर बहुरि तनु कृष्णा ताके भरे जहाज।
खींचि खींचि थाक्यो दुःशासन हाथनि उपजी खाज॥

व्यक्ति एक दो अङ्ग-रक्षकों को साथ ले सुरक्षा का अनुभव करता है-इतराता चलता है। जो सम्पूर्ण चराचर जगत् का स्वामी है, भक्त-वत्सल है,

अपार कृपा का सागर है, अशरण शरण है—उसकी कृपा जिसे प्राप्त हो गई—उसे किसका भय ? वह निर्भय होकर विचरण करता है, वशर्ते वह उनमें आस्था की ज्योति जला पाए, विश्वास का दामन थाम सके अपने को उन पर न्यौछावर कर सके। श्रीकृष्ण ने सब को आमन्त्रित किया है—मामेकं शरणं व्रज। उनकी पुकार पर सब का दौड़ पड़ना ही कल्याणकारी है।

मैं यह सब सोचकर उदास हो जाता हूं। आदमी पानी का बुल-बुला भर है—कितना क्षण भंगुर, कितना नाशवान। फिर वह अपने को सुरक्षित करने का कितना प्रयत्न करता है—रात-दिन जगा रहता है, पर क्या वह सुरक्षित रह पाता है ? काल की गति पर उसका वश है ? बुढ़ापे को वह रोक सकता है ? देह धारियों को जो दण्ड मिलता है, उसे भोगे बिना रह सकता है ? यह अलग बात है कि उसे ज्ञानी-ज्ञान से भोगता है समझता है उसे भोगना है और मूर्ख रोकर आसमान सिर पर उठा लेता है। जब हमारी यही नियति है, हम किसी के हाथों गुलाम बनने को विवश है तो क्यों नहीं उस प्रभु के प्रति ही शुद्धा-भक्ति की अलख जगाएँ, जिससे दोनों लोक सुधरें और उनकी अनुकंपा तो बनी ही रहे।

●

दीनन दुखहरन देव

दीनन दुख हरन देव सन्तन हितकारी।
अजामील गीध व्याध, इनमें कहो कौन साध,
पंछी हू कूं पद पढ़ात, गनिका सी तारी॥
ध्रुव के सिर छत्र देत, प्रह्लाद कहं उबार लेत।
भगत हेत बांध्यो सेत लंकपुरी जारी॥
तन्दुल देत रीझ जात, साग पात सों अघात।
गिनत नांहि झूंठे फल, खाटे मीठे खारी॥
गज को जब ग्रह ग्रस्यो, दुस्सासन चीर खस्यो।
सभा बीच कृष्ण कृष्ण द्रौपदी पुकारी॥
इतने में हरि आय गये, वचनन आरूढ़ भये।
'सूरदास" द्वारे ठाढ़ो, आंधरो भिखारी॥

□

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती का सम्प्रदाय

—डॉ० शकुन्तला अग्रवाल
पी-एच०डी०

संस्कृत भक्ति-साहित्य के विख्यात कवि एवं वृन्दावन-रस माधुरी के अनन्य गायक श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से हैं, जिन्हें एक नहीं अनेक सम्प्रदाय अपने में सम्मिलित करने के लिए लालायित हैं चैतन्य-सम्प्रदायी अपने सम्प्रदाय का तथा राधावल्लभी उन्हें अपने सम्प्रदाय का बनाना चाहते हैं। अतः यह स्पष्ट करना है कि वस्तुतः श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

सम्प्रदाय का समाज में विशेष स्थान है। अनादि-काल से वेद-परम्परा से जो श्रीगुरुपरम्परा-प्रवाह रूप से चली आ रही है, सम्प्रदाय कही जाती है।[1] गुरु-परम्परागत सदुपदेश ही सम्प्रदाय है। अमरकोष में भी गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग को सम्प्रदाय कहा है।[2] सम्प्रदाय का अर्थ 'आम्नाय' है जिसका आशय वेदशास्त्रानुकूल ज्ञान से है। सम्प्रदाय शब्द दीक्षा मन्त्रोपदेश, गुरुमन्त्र तथा जीवन दर्शन के अर्थ का ही द्योतन करता है। सम्यक् रूप से दीक्षा दान ही सम्प्रदाय के अन्तर्गत आता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवतपरम्परा की प्रयोजनीयता की रक्षा करते हुए श्रीईश्वरपुरी से दीक्षा ग्रहण की। श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त अनुयायी "गौड़ीय-सम्प्रदाय" से विख्यात हैं।

गौड़ीयसम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु श्रीचैतन्य ने प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नहीं लिखा उन्होंने माधुर्यभाव की भक्ति को ही सर्वोपरि स्थान दिया तथा सत्सङ्ग, नामसङ्कीर्तन, लीलागान, वृन्दावन-वास और कृष्णमूर्ति को श्रद्धा सहित सेवा-पूजा आदि भक्ति के साधनों की उपादेयता को स्वीकार किया है

---

१. (क) 'गुरु परम्परागत सदुपदेशः' —शब्द कल्पद्रु[म]

(ख) Sampradaya means traditional teaching transmitted from o[ne] teacher to another.

—Hinduism Buddhism, Vol, II, P. 179-Sir Charl[es]

२. शिष्टानुशिष्ट गुरूपदिष्टोमार्गः सम्प्रदायः। —अमरक[ोष]

श्रीकृष्ण उपास्य हैं। वह नराकृति परब्रह्म, परात्पर, सर्वोत्तम हैं, लीलापुरुषोत्तम हैं। उनका ऐश्वर्य भी माधुर्यमण्डित है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में नित्यविहार का विशिष्ट महत्त्व है, जिसका सम्बन्ध श्रीराधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से है। श्रीराधा-कृष्ण के युगलरूप की अष्टकालीन उपासना इस संप्रदाय में प्रचलित है।

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीहित हरिवंश जी हैं। श्रीराधा जी ने उन पर विशेष कृपा की जिससे इस सम्प्रदाय में श्रीराधा जी की प्रधानता स्वीकार की जाती है। श्रीहित हरिवंश जी ने कर्म और ज्ञान के साधनों का खण्डन करके प्रेमभक्ति की सर्व श्रेष्ठता सिद्ध की है।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने स्वयं को किसी विशेष संप्रदाय का घोषित नहीं किया, अत: अन्त:साक्ष्य एवं बहि: साक्ष्यों के आधार पर उनके संप्रदाय को निर्धारित करना होगा।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती के जीवनवृत्त एवं उनके द्वारा रचित कृतियों- श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्, चैतन्यचन्द्रामृतम्, राधारससुधानिधि, संगीतमाधवम्, कामगायत्री व्याख्या, कृष्णवल्लभा टीका, तथा आश्चर्यरास-प्रबन्ध: का अध्ययन करने पर उनका चैतन्यानुयायी होना स्पष्ट हो जाता है। उनकी भक्ति, चिन्तन-धारा, दर्शन सभी चैतन्यमत से प्रभावित हैं।

विशेषत: श्रीचैतन्यदेव की कृपा प्राप्तकर वे मायावाद की पंक से निकल कर भक्तिरस के सरोवर में प्रविष्ट हुए। श्रीवृन्दावन में उनकी निष्ठा जागी। श्रीराधा भाव-द्युति सुवलित श्रीकृष्ण चैतन्यदेव के स्वरूप तत्त्व की साक्षात् अनुभूति कर उन्होंने श्रीचैतन्यनिष्ठा, श्रीराधा-निष्ठा धाम-निष्ठा तथा श्रीकृष्ण-निष्ठा का प्राञ्जल प्रकाश अपनी रचनाओं में भरा। अत: श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद की सम्प्रदाय निर्धारण में कुछ भी दुविधा नहीं रह जाती। अनेक राधावल्लभीय विद्वानों ने अपनी सरस्वती पाद की अद्भुत राधा-निष्ठ रचना से प्रभावित होकर उन्हें भी अपनी सम्प्रदाय में घसीटने का प्रयास किया है, परन्तु वह विफल रहा है। गवेषणापूर्ण विवेचना के लिए श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् की भूमिका पाठकों के लिए द्रष्टव्य है।[1]

---

१. श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् (१ से १७ शतक) मूल, सानुवाद श्रीहरिनाम कार्यालय, वृन्दावन से उपलब्ध है।

ऐसी पुस्तक कभी मत पढ़ो जिससे विषय का लालच बढ़े और पाप में मन जाय, चाहे उसका नाम शास्त्र ही क्यों न हो। बिषयों से मन को हटाने और पाप से बचाने की शिक्षा देने वाली पुस्तक पढ़ो, ऐसी ही बातें सुनो और ऐसे ही स्थान में रहो।

कल्याण-कुंज (शिव) भाग-१, पृष्ठ ४४



डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड
डालमियापुरम-६२१ ६५१ (तमिलनाडु)
मुख्य कार्यालय—हंसालय (११वां एवं १२ वां माला)
१५-बाराखम्भा रोड, नई दिल्ली-११० ००१
'राकफोर्ट' सिमेंट के निर्माता

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः *

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

न देश - नियमस्तस्मिन् न काल - नियमस्तथा ।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक ॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत् ।
ना शौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः ॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, दिसम्बर १९८२ { अंक १२

"छार ऐसे जीवै पै"

रुचिसौं संवारे नांहि अङ्ग अङ्ग श्यामा-श्याम,
ऐरी धिक्कार और नाना कर्म कीवै पै ।
चरणन को धोय निज करन नहीं पान कियो,
आली अङ्गार पड़ै शीतल जल पीवै पै ॥
विचरे नांहि वृन्दावन कुन्जन लतान तरे,
गाज गिरै अन्य फुलवारी सुख लीवै पै ।
"ललित किशोरी" बीते बरस अनेक हग,
देखे नांहि प्राण प्यारे छार ऐसे जीवै पै ॥

★

* हे लुब्धक ! श्रीहरिनाम-कीर्त्तन में देश (स्थान) और समय का कोई नियम नहीं है और झूँठे मुख से भी नाम ग्रहण करने का निषेध नहीं है, क्योंकि श्रीहरि परम पावन हैं । अतएव उनके नामकीर्त्तन में अशौच या अपवित्रता की आशङ्का नहीं है । सर्वदा सर्वत्र श्रीहरिनाम-कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है ।

श्रीहरिभक्तिविलास ११, २०२/२०३

❊ श्रीवृन्दाटवीनागराभ्यां नमः ❊

श्रीमद्रूपगोस्वामि–विरचिता

उत्कलिका-वल्लरिः

(पूर्व क्रमागत)

●

शृणुत कृपया हन्त प्राणेशयोः प्रणयोद्धुराः।
किमपि यदयं दीनः प्राणी निवेदयति क्षणम् ॥
प्रवणितमनाः किं युष्माभिः समं तिलमप्यसौ।
युगपदनयोः सेवां प्रेम्णा कदापि विधास्यति ॥२५॥

[अब किंकरीवृंद को सम्बोधन करते हुए कहते हैं]—हे प्राणपति श्रीयुगलकिशोर की प्रेम-विभोर किंकरीवृन्द ! मैं दीन-व्यक्ति जो निवेदन करता हूँ, उसे कृपा कर सुनिये ; क्या अति विनम्र-चित्त मैं आपकी भाँति आपके साथ-साथ उन प्राणेश श्री श्रीराधाकृष्ण की प्रेमपूर्वक किंचित् सेवा का कभी सौभाग्य प्राप्त कर सकूँगा ? ॥२५॥

क्व जनोऽयमतीव पामरः क्व दुरापं रतिभाग्भिरप्यदः।
इयमुल्ललयत्यजर्जरा गुरुरुत्तर्षधुरा तथापि माम् ॥२६॥

[फिर अपनी दुष्टता को मन में विचार कर कहते हैं]—कहाँ तो मैं अतिशय पामर व्यक्ति ! और कहाँ भावोत्पन्न-भक्तों द्वारा भी दुर्लभ यह सेवा-सौभाग्य ! फिर भी अति तीव्र नवीन सेवोत्कण्ठा मुझे चञ्चल कर रही है ॥२६॥

ध्वस्त - ब्रह्म - मराल - कूजितभरैरूर्जेश्वरीनूपुर-
क्वाणैरूर्जितवैभवस्तव विभो वंशीप्रसूतः कलः।
लब्धः शस्तसमस्तनादनगरी - साम्राज्यलक्ष्मीं परा-
माराध्यः प्रमदात्कदा श्रवणयोर्द्वन्द्वेन मन्देन मे ॥२७॥

[अपनी योग्यता को जानकर भी पुनः तृष्णावश प्रार्थना करते हैं]—हे विभो ! आपकी वंशी की मधुर-ध्वनि कब मेरे कानों में पड़ेगी? वह वंशी-ध्वनि भी कैसी ?—जो श्रीराधाजी के नूपुरों के उस ध्वनि-वैभव से समृद्ध है, जो ब्रह्मा-रूप हंस की वेद ध्वनि को भी पराजित करने वाला है, और स्तुत्य समस्त नाद-रूपा नगरी की साम्राज्य लक्ष्मी-अधिकृत सम्पत्ति से शोभित है। तात्पर्य यह है कि श्रीराधिकाजी के नूपुरों की झङ्कार सहित रास में आपके वेणुनाद को मैं कब सुन पाऊँगा ? ॥२७॥

स्तम्भं प्रपञ्चयति यः शिखिपिञ्छमौलि-
वेणोरपि प्रवलयन्स्वर - भङ्गमुच्चैः।
नादः कदा क्षणमवाप्स्यति ते महत्या
वृन्दावनेश्वरि स मे श्रवणातिथित्वम् ॥२८॥

जो मोर-मुकुटधारी श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि का स्वर-भङ्ग करके उसको स्तम्भित कर देती है, हे वृन्दावनेश्वरि ! आप उस अपने वीणा की ध्वनि को कब मेरे कानों को सुनने का सौभाग्य प्रदान करेंगी ? ॥२८॥

कस्य संभवति हा तदहर्वा यत्र वां प्रभुवरौ कलगीतिः।
उन्नमन्मधुरिमोर्मिसमृद्धा दुष्कृतं श्रवणयोर्विधुनोति ॥२९॥

[अब श्री श्रीराधा-कृष्ण दोनों की गान-ध्वनि को सुनने की प्रार्थना करते हैं] — हे युगलकिशोर प्रभो ! किसी व्यक्ति अर्थात् मेरे लिए ऐसा दिन कब होगा, जब उच्चमाधुर्य-तरङ्गों से समृद्धा आप दोनों की सम्मिलित-गान की मधुर ध्वनि मेरें कानों में जाकर मेरे समस्त दोषों को नष्ट करेगी ? ॥२९॥

परिमलसरणिर्वां गौरनीलाङ्गराज-
न्मृगमदघुसृणानुग्राहिणी नागरेशौ।
स्वमहिमपरमाणुप्रावृताशेष - गन्धा
किमिह मम भवित्री घ्राणभृङ्गोत्सवाय ॥३०॥

[अब श्रीयुगलकिशोर के अङ्ग-सौरभ के अनुभव करने की प्रार्थना करते हैं]—कस्तूरी-केसर की सुगन्धि को भी अनुगृहीत-कारिणी आपके गौर-श्याम अङ्गों से सदा प्रवाहित होने वाली विचित्र असीम सौरभ-परम्परा, हे नागरेश-युगल ! कब मेरी नासिका रूप मधुकर को आनन्द प्रदान करेगी ? ॥३०॥

प्रदेशिनीं मुखकुहरे विनिक्षिपञ्जनो मुहुर्वनभुवि फूत्करोत्यसौ।
प्रसीदतं क्षणमधिपौ प्रसीदतं दृशोः पुरः स्फुरतु तडिद्घनच्छविः ॥३१॥

[अति निकट से आपके दर्शनों का सौभाग्य मेरे लिए असम्भव है, अतः दूर से ही मुझे अपना साक्षात्कार कराने की कृपा कीजिये—ऐसी प्रार्थना करते हैं]—हे मङ्गलाधिप युगल ! अपने मुख में तर्जनी-अँगुली डालकर यह दीनजन वृन्दावन-भूमि में बार-बार यही पुकार कर रहा है कि आप मुझपर कृपा कीजिये और अपनी विद्युत्-घन काँतिमय छवि को दूर से ही मुझे दृष्टि-गोचर कराइये ॥३१॥

व्रजमधुरजनव्रजावतंसौ किमपि युवामभियाचते जनोऽयम्।
मम नयनचमत्कृतिं करोतु क्षणमपि पादनखेन्दुकौमुदी वाम् ॥३२॥

[श्रीयुगलकिशोर के चरणनख-चन्द्रों के दर्शन की प्रार्थना करते हुए कहते हैं]—व्रज-मधुर रस के परिकर-समुदाय के शिरोमणि युगलकिशोर ! मैं दीनजन आपसे यह याचना करता हूँ कि आप अपने चरणनख-चन्द्रों की ज्योत्स्ना से एक क्षण के लिए भी मेरे नेत्रों को चमत्कृत करें—आनन्दित करें ॥३२॥

अतर्कित - समीक्षणोल्लसितया मुदाश्लिष्यतो-
र्निकुञ्जभवनाङ्गणे स्फुरितगौरनीलाङ्गयोः ।
रुचः प्रचुरयन्तु वां पुरटयूथिकामञ्जरी-
विराजदलिरम्ययोर्मम चमत्कृतिं चक्षुषः ।।३३।।

[परस्पर एक स्थान पर अकस्मात् मिले श्रीयुगलकिशोर के दर्शनों की प्रार्थना करते हुए कहते हैं]—अकस्मात् एक दूसरे को देखकर निकुञ्ज-भवन के (चबूतरे) पर उल्लास-पूर्वक आनन्दवृद्धि वश उज्ज्वल कान्ति गौरश्याम अङ्गों से आप परस्पर आलिङ्गन कर रहे हों और ऐसी शोभा छटक रही हो, जैसे सुवर्ण की बेली पर भ्रमर बैठा सुशोभित होता है—ऐसी आपकी कान्ति छटा मेरे नेत्रों को चमत्कृत करे—महानन्द प्रदान करे ।।३३।।

साक्षात्कृतिं बत ययोर्न महत्तमोऽपि कर्तुं मनस्यपि मनाक्प्रभुतामुपैति ।
इच्छन्नयं नयनयोः पथि तौ भवन्तौ जन्तुर्विजित्य निजगार भियं ह्रियं च ।।३४

[फिर अपनी अयोग्यता को विचार कर कहते हैं]—अहो ! कैसा आश्चर्य है ! सर्व साधन-सम्पन्न श्रेष्ठ साधुगण में मन से भी जिस साक्षात्कार को प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है, उस आपकी साक्षात् जनित चमत्कृति को मैं दुष्ट-जन्तु समस्त भय और लज्जा को निगल कर—छोड़कर नेत्र-गोचर करने की इच्छा करता हूँ ।।३४।।

अथवा मम किं नु दूषणं बत वृन्दावनचक्रवर्तिनौ ।
युवयोर्गुणमाधुरी नवा जनमुन्मादयतीह कं न वा ।।३५।।

[अपनी मूर्खता को कहकर पुनः श्रीयुगलकिशोर की माधुरी को ही उसका कारण रूप में वर्णन करते हैं]—किन्तु मेरा इसमें दोष क्या है ? हाय ! वृन्दावन-चक्रवर्त्ति श्री श्रीराधाकृष्ण की दीनोद्धारकता, पतितपावनतादि नित्य-नवीन गुण-माधुरी किस व्यक्ति को उन्मत्त नहीं कर देती ?—वह सबको उन्मत्त कर देती है । यदि मैं उन्मत्त होकर ऐसी असम्भव इच्छा रखता हूँ, तो मेरा दोष क्या है ?।।३५।।

प्रियजनकृतपार्ष्णिग्राहचर्योन्नताभिः सुगहनघटनाभिर्वक्रिमाडम्बरेण ।
प्रणयकलहकेलिक्ष्वेलिभिर्वामधीशौ किमिह रचयितव्यः कर्णयोर्विस्मयो मे ।।३६।।

[वृन्दावनाधीश-युगल ! आपके परिकरों की सहायता से अत्यन्त उन्नत-शील तथा वक्रिमा छल से अति गम्भीर घटनाओं से निगूढ़ता को प्राप्त कराई गई आपकी प्रेमकलह-केलि का कौतुकानन्द मेरे कानों को क्यों आश्चर्य में डालता है ?—अर्थात् उस प्रेमकलह-केलि की आनन्दवार्त्ता सुनकर मैं असम्भव-इच्छा से उन्मत्त हो उठता हूँ ।।३६।।

(क्रमशः)

स्वयं तद्विचाररूपं मननमपि क्रियते । ततो भगवतः सर्वस्मिन्नेवाविर्भावे तथाविधोऽसौ सदा सर्वत्र विराजत इत्येवंरूपा श्रद्धा जायते । तत्रैकस्मिंस्त्वनया प्रथमजातया रुच्या सह निजाभीष्टदानसामर्थ्याद्यतिशयवत्तानिर्द्धारणरूपत्वेन सैव श्रद्धा समुल्लसति । तत्र यद्यप्येकत्रैवातिशयितापर्य्यवसानं सम्भवति, न तु सर्वत्र, तथापि केषाञ्चित् ततो विशिष्टस्याज्ञानादन्यत्रापि तथाबुद्धिरूपा श्रद्धा सम्भवति । एवं भजनमार्गविशेषश्च व्याख्यातव्यः । तदेवं सिद्धे ज्ञाने विज्ञानार्थं निदिध्यासनलक्षणतत्तदुपासनमार्गभेदोऽनुष्ठीयते । इत्येवं विचारप्रधानानां मार्गो दर्शितः । रुचिप्रधानानान्तु न तादृग्विचारापेक्षा जायते, किन्तु साधुसङ्ग-लीलाकथा-श्रवण-रुचि-श्रद्धा-श्रवणाद्यावृत्तिरूप एवासौ मार्गः, यथा (भा० १।२।१६)—"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" इत्यादिना पूर्वं दर्शितः' (३।२५।२५)—"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः" इत्यादौ च द्रष्टव्यः । प्रीतिलक्षणभक्तीच्छूनास्तु रुचिप्रधान एव मार्गः श्रेयान्, नाजातरुचीनामिव विचारप्रधानः । यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।९।४९-५०)—

नै ते गुणा न गुणिनो महदादयो ये,
सर्वे मनः प्रभृतय सहदेवमर्त्त्याः ।
आद्यान्तवन्त उरुगाय वदन्ति हि त्वा-
मेवं विविच्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥६००॥

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्म्मपूजाः,
कर्म्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षड़ङ्गया किं,
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत् ॥६०१॥ इति ।

कर्म्म परिचर्य्या, कर्म्मस्मृतिर्लीलास्मरणम्, चरणयोरिति सर्वत्रान्वितं भक्तिव्यञ्जकम् । तदेतदुभयस्मिन्नपि तत्तद्भजनविधिशिक्षागुरुः प्राक्तनः श्रवणगुरुरेव भवति, तथाविधस्य प्राप्तत्वात् । प्राक्तनानां बहुत्वेऽपि प्रायस्तेष्वेवान्यतरोऽभिरुचितः । पूर्वस्मादेव हेतोः श्रीमन्त्रगुरुस्त्वेक एव, निषेत्स्यमानत्वाद्बहूनाम् ।

अथात्र प्रमाणानि—तत्र तदाविर्भावविशेषरुचिः, (भा० ११।२।४८) महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्त्याभिमतयात्मनः इत्याद्यौ, श्रीमदाविर्होत्रादिनाभिप्रेता भजनविशेषरुचिश्च, (भा० ११।२७।७)—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्च्चयेत् ॥६०२॥

इत्यादौ श्रीभगवताभिप्रेता । अतः श्रवणगुरुमाह (भा० ११।३।२१)—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम् ॥६०३॥

शाब्दे ब्रह्मणि वेदे तात्पर्य्यविचारेण, परे ब्रह्मणि भगवदादिरूपाविर्भावे

तु अपरोक्षानुभवेन निष्णातं तथैव निष्ठां प्राप्तम् । यथोक्तं पुरञ्जनोपाख्यानोपसंहारे श्रीनारदेन (भा० ४।२९।५२)—

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥६०४॥ इति ।।

श्रीप्रबुद्धो निमिम् ॥२०२॥

इस प्रकार साधुओं में अनेक भेद रहने से उनके प्रभाव में तारतम्य है, एवं भक्ति-वासना विशेष का तारतम्य है । उस तारतम्यानुसार उनके सत्सङ्ग से शीघ्र तथा विलम्ब से और स्वरूप की वैचित्री द्वारा भक्ति का उदय हुआ करता है ; अर्थात् यदि साधु का प्रभाव अतिशय है, और उसमें करुणा का प्राचुर्य है तो उसके सत्सङ्ग से थोड़े ही समय में भक्ति का उदय हो उठता है और यदि प्रभाव और कृपा की कमी है तो उसके सङ्ग से भक्ति के उदय होने में विलम्ब होता है। और फिर उस साधु की जिस भगवत्-स्वरूप में भक्ति है, उसी भगवत्-स्वरूप की विशिष्टता, अविशिष्टता के द्वारा भक्ति के उदय में भी तारतमता होती है। इस प्रकार ज्ञानी साधु के सङ्ग से भी ज्ञान के उदय में तारतम्य समझना चाहिये। उस में यद्यपि अकिञ्चना अर्थात् अपेक्षाशून्य भक्ति ही अभिधेय—अर्थात् अवश्य कर्त्तव्य है और उसकी प्राप्ति का कारण भी मेरे उसी प्रकार के भक्तका सङ्ग करना आवश्यक कर्त्तव्य है, और उस भक्त को तथा उस भक्ति को लक्ष्य करना भी आवश्यक कर्त्तव्य हैं ; तथापि उस भक्त एवं भक्ति का परिचय कराने के लिये पुनः उल्लेख किया जाता है । उस में सर्व प्रथम उस-उस भगवत्-स्वरूप में उस-उस भक्त-सङ्ग से श्रद्धा एवं भक्त-परम्परागत भगवत्-कथा रुचि आदि द्वारा भगवत् सन्मुखता प्राप्त होती है और आनुषङ्गिक भाव से भजनीय श्रीभगवदाविर्भाव विशेष में एवं उसके भजन-मार्ग विशेष में रुचि उत्पन्न हुआ करती है। उसके बाद साधक में सम्बन्ध 'अभिधेय' एवं प्रयोजनादि विशेष तत्त्वों के जानने की इच्छा उदित होने पर, पूर्ववर्णित महानुभावों में एक का अथवा अनेक व्यक्तियों का श्रवण-गुरु रूप में आश्रय कर वह उन तत्त्वों का श्रवण करता है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद एवं उपपत्ति अर्थात् युक्ति द्वारा यथार्थ तात्पर्य को निर्धारण करने का नाम 'श्रवण' है । श्रवण के बाद असम्भावना एवं विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए वह उन सुने हुए विषयों का विचार रूप 'मनन' करता है । उसके बाद, श्रीभगवान् के श्रीराम-नृसिंहादि समस्त आविर्भाव सदा-सर्वत्र विद्यमान हैं—इस प्रकार की श्रद्धा अर्थात् दृढ़ विश्वास उस में पैदा होता है । फिर साधु-मुख से श्रवणादि करते-करते अनन्त भगवत्स्वरूपों में निश्चला श्रद्धा के उदित होते हुए भी किसी एक विशेष भगवत्स्वरूप में प्रथम साधु-सङ्ग के बाद जो रुचि पैदा हुई थी, उसी रुचि के साथ अपने अभीष्ट को प्रदान करने में अतिशय समर्थ किसी एक विशेष भगवत् स्वरूप के प्रति उसके मन का आकर्षण हो जाता है या पूर्वली साधारणा श्रद्धा सम्यक् प्रकार से उल्लसित हो उठती है ।

उन अनन्त भगवत् स्वरूपों में किसी एक विशिष्ट भगवत् स्वरूप में ही सर्व प्रकार की श्रेष्ठता का पर्यवसान सम्भवपर होता है, समस्त भगवत्-स्वरूपों में सर्व प्रकार की श्रेष्ठता का होना सम्भवपर नहीं है। तथापि किसी-किसी साधक की सर्वाभीष्टता प्रदाता उत्कृष्ट भगवत् स्वरूप को छोड़कर अल्प-शक्ति प्रकाशक भगवत् स्वरूप में—यह मेरा सर्व प्रकार अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ है, इस अज्ञानवश उस प्रकार की श्रद्धा का उत्पन्न हो जाना भी असम्भव नहीं है, अर्थात् किसी - किसी साधक की सर्वोत्कृष्ट भगवत् स्वरूप को छोड़कर अल्प-शक्ति प्रकाशक भगवत् स्वरूप में अज्ञानतावश श्रद्धा जाग उठती है। इस प्रकार जैसे भजनीय तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार भजन-पद्धति विशेष का निरूपण करना भी कर्त्तव्य है।

इस प्रकार शास्त्रार्थ विचार से वस्तु का ज्ञान होने पर उस तत्त्व-वस्तु के स्वरूप-ज्ञान अथवा अनुभव के लिए उस-उस स्वरूप के निदिध्यासन रूप उपासना-मार्ग के विषय में भेद अनुष्ठित हुआ करता है। विचार-प्रधान साधकों की यह साधन-पद्धति दिखाई गई है। रुचि-प्रधान साधकों में विचार-प्रधान साधकों की भाँति विचार की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु साधु-सङ्ग, लीला-कथा श्रवण में रुचि, और श्रद्धा एवं फिर श्रवणादि रूप भजन-पद्धति अनुष्ठित हुआ करती है। जैसा कि श्रीभागवत (१।२।१६) में 'शुश्रुषोः श्रद्धानस्य' (श्लोक सं० २२) में पहले कहा जा चुका है। श्रीभागवत (३।२५।२५) में 'सतां प्रसङ्गान्मम' (श्लोक सं० ४८४) इत्यादि भी द्रष्टव्य है। प्रेम-लक्षणा भक्ति की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए रुचि-प्रधान भक्ति-मार्ग ही श्रेष्ठ एवं अनुकूल है। अजात-रुचि साधकों की भाँति विचार-प्रधान मार्ग उनके अनुकूल नहीं होता, जैसा कि श्रीप्रह्लाद जी ने (भा० ७।६।४६-५०) में कहा है—

हे भगवन् ! सत्त्व-रजः तम गुण अथवा इनकी अधिष्ठात्री देवी, गुणी-गण (ब्रह्मादि), गुण के कार्य महत्तत्त्वादि, किंवा मन, देवता-मनुष्यादि सब उत्पत्ति तथा विनाश-शील हैं एवं जड़ोपाधियुक्त हैं। इसलिये वे आपको नहीं जान सकते। अतः पण्डितजन विचार कर अध्ययनादि से विरत हो जाते हैं॥६००

हे पूज्यतम ! आपके चरणों में प्रणाम, आपकी स्तुति, परिचर्या, पूजा, आपका लीला-स्मरण, आपकी कथा का श्रवण—इस षडङ्ग भक्ति या सेवा के बिना कोई व्यक्ति परमहंसजन-गम्य आपकी भक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? ॥६०१॥

उपर्युक्त श्लोक में 'कर्म'—शब्द का अर्थ है 'परिचर्या', 'कर्म-स्मृति' का अर्थ है लीला-स्मण। 'चरणयो' अर्थात् युगलचरणों की—यह पद भक्ति-सूचक-रूप में सर्वत्र अन्वय-विशिष्ट है अर्थात्—चरणों की परिचर्या, चरणों की पूजा एवं लीला-स्मृति आदि। इन दोनों भजन-मार्गों में भजन-शिक्षा का गुरु पूर्वाश्रित श्रवण-गुरु ही हुआ करता है, अतः उसी श्रवण-गुरु के निकट भजन-विधि की शिक्षा लेनी चाहिये। जैसा कि श्रीभागवत (११।३।२२) में देखा जाता है—"तत्र

"भागवतान् धर्मान् शिक्षेत्"। पूर्वोल्लिखित श्रवण-गुरु यद्यपि अनेक हो सकते हैं, तथापि उन सब श्रवण-गुरुओं में अपने अभिमतानुसार एक को भजन-शिक्षा गुरु-रूप में आश्रय करना चाहिये। पूर्ववर्णित कारण होने से भजन शिक्षा-गुरु तथा मन्त्र-गुरु एक ही हुआ करता है; क्योंकि अनेक मन्त्र-गुरु धारण करना शास्त्र में निषिद्ध है।

अब यहाँ पूर्वोल्लिखित विषय के प्रमाणों का उल्लेख करते हैं—प्रथमतः अनन्त भगवत् आविर्भावों में किसी एक आविर्भाव-विशेष में रुचि की बात श्री-भागवत (११।३।४८) में इस प्रकार कही गई है—

अपने अभिमत किसी भगवदाविर्भाव विशेष द्वारा महापुरुष का अर्चन करना चाहिये। (श्लोक सं० ६१६ द्रष्टव्य)। भजन विशेष की रुचि की बात श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से (भा० ११।२७।७) इस प्रकार कही है—

वैदिक, तान्त्रिक तथा दोनों के मिश्रित भेद से मेरा यज्ञ एवं उपासना तीन प्रकार की है। इन में भक्ति-साधन के लिए जिसे जो भजन-पद्धति अभिप्रेत हो वह उस पद्धति अनुसार मेरी उपासना करे ॥६०२॥

इस वचन से स्वयं श्रीभगवान् की भजन विशेष रुचि अभिप्रेत है। अब यहाँ श्रवण-गुरु के लक्षण कहते हैं (श्रीभा० ११।७।२१)—

जो व्यक्ति उत्तम श्रेय अर्थात् सर्वोत्तम-साध्य-साधन जानने की इच्छा रखता है; उसे उस व्यक्ति को श्रवण-गुरु रूप में आश्रय करना चाहिये, जो शब्द-ब्रह्म-वेद के तात्पर्य-विचार के अनुरूप निष्ठा प्राप्त हो एवं व्याख्या-युक्ति में सु-निपुण है तथा सब प्रकार से अपेक्षा-रहित हो ॥६०३॥

'शाब्दे ब्रह्मणि'—अर्थात् वेद के तात्पर्य को विचार कर, 'परे ब्रह्मणि' —अर्थात् भगवदादि आविर्भाव विशेष के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा, 'निष्णात' अर्थात् उस रूप में जो निष्ठा-प्राप्त है—ऐसा श्रवण-गुरु बनाना चाहिए। पुरञ्जन-उपाख्यान के उपसंहार में श्रीनारद जी ने कहा है—

जिससे अणुमात्र भी भय नहीं रहता, वह परमात्मा ही प्रिय-वस्तु है—जो इस तत्त्व को जान सका है, वही विद्वान् है, जो ऐसा विद्वान् है वही गुरु है, वही श्रीहरि है ॥६०४॥

ऐसा श्रीनिमि राजा के प्रति श्रीप्रबुद्ध-योगेश्वर ने कहा है।

२०३—अत्र ब्रह्मवैवर्त्ते विशेषः—

वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परिकीर्त्तितः।
सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृत् न संस्पृशेत् ॥६०५॥

उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति च।
अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत् ॥६०६॥

किञ्च— कुलं शीलमथाचारमविचार्य्य गुरुं गुरुम्।
भजेत श्रवणाद्यर्थी सरसं सारसागरम् ॥६०७॥

सरसत्वादिकं व्यञ्जितं तत्रैवान्यत्र—

कामक्रोधादियुक्तोऽपि कृपणोऽपि विषादवान्।
श्रुत्वा विकाशमायाति स वक्ता परमो गुरुः ॥६०८॥इति।

एवम्भूतगुरोरभावाद् युक्तिभेदबुभुत्सया बहूनप्याश्रयन्ते केचित्, यथा (भा० ११।९।३१)—

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥६०९॥

स्पष्टम् ॥ श्रीदत्तात्रेयो यदुम् ॥

इस विषय में ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में विशेष उल्लेख है—वक्ता दो प्रकार के हैं—सराग तथा निराग। जो लोलुप एवं कामी है, वह सराग-वक्ता है। उसका उपदेश श्रोताओं के हृदय को स्पर्श नहीं करता ॥६०५॥

जो केवल उपदेश ही करता है, किन्तु शिष्य उसके उपदेश का अधिकारी भी है कि नहीं—ऐसी प्ररीक्षा नहीं करता, (वह भी सराग-वक्ता है), परीक्षा के बिना जो उपदेश करना है, वह लोकनाश का ही कारण होता है ॥६०६॥

किन्तु यह भी कहा गया है कि कुल, शील, आचार आदि के श्रेष्ठत्व का विचार न कर के श्रवणादि के विषय में जो अभिलाषी श्रोता है, वह सरस एवं सार-सागर गुरु का भजन करता है ॥६०७॥

सरसता आदि धर्म का ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में अन्यत्र इस प्रकार वर्णन किया गया है—काम-क्रोधादियुक्त, कृपण एवं विषादग्रस्त पुरुष भी जिसके उपदेश को सुनकर प्रफुलित चित्त हो जाता है, वह वक्ता परम-गुरु है ॥६०८॥

इस प्रकार के लक्षणयुक्त सद्गुरु के अभाव में युक्ति एवं व्याख्यादि को जानने के अभिप्राय से कोई-कोई अनेक श्रवण-गुरुओं का भी आश्रय लेते हैं, जैसा कि श्रीभागवत (११।९।३१) में श्रीदत्तात्रेय भगवान् ने यदुमहाराज के प्रति कहा है—

एक (श्रवण) गुरु से पारमार्थिक ज्ञान सुस्थिर और पूर्ण नहीं होता, क्योंकि एक ही अद्वितीय ब्रह्म को समझाने के लिए ऋषियों ने भिन्न प्रकार की युक्तियों की अवतारणा की है ॥६०९॥

२०४—तत्र रुचिप्रधानानां श्रवणादिकम् (भा० १।५।२६)—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताःश्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥ ६१० ॥

इत्याद्युक्तप्रकारम् । विचारप्रधानानां श्रवणं यथा चतुःश्लोक्यादीनाम्। मननं यथा, (भा० २।२।३४)—"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन"--इत्यादौ । अथ तज्जाता श्रीभगवति श्रद्धा यथा (भा० ४।२१।२७-३०)--

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः ।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥६११॥

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥६१२॥

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥६१३॥

दौहित्रयादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥६१४॥

हे अर्हसत्तमाः ! यज्ञपतिर्नाम सर्वकर्मफलदातृत्वेन श्रुतिप्रतिपादितः परमेश्वरः केषाञ्चित् श्रुत्यर्थतत्त्वज्ञानां मते तावदस्ति, तथापि विप्रतिपत्तेर्न तत्-सिद्धिरित्याशंक्य तत्र जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणमप्युपोद्बलकमित्याह, इह प्रत्यक्षेणामुत्र शास्त्रेण तद्वदित्यनुमानेन च ज्योत्स्नावत्यः कान्तिमत्यो भुवो भोग-भूमयो देहाश्च क्वचिदेवोपलभ्यन्ते, न सर्वत्रेति । अयं भावः ; न वा जड़स्य तत्-कर्मणस्तत्तत्फलदातृत्वं घटते, (ब्र० सू० ३।२।३६)—'फलमत उपपत्तेरिति न्या-यात् । न चार्वाग्देवतानां स्वातन्त्र्यम्, अन्तर्यामिश्रुतेः । न च कर्मसाम्ये फलतार-तम्यं क्वचिच्च तदसिद्धिः सम्भवति । अतः स्वतन्त्रेण परमेश्वरेण भाव्यम् । अत्र विद्वदनुभवोऽपि प्रमाणमित्याह, मनोरिति त्रिभिः । अस्मत्पितुः पितुः पितामह-स्याङ्गस्य । प्रह्लाद-बली तदानीं शास्त्रादेव ज्ञात्वा गणितौ । गदाभृता परमेश्वरेण कृत्यमस्ति, हृदये बहिरपि आविर्भूय तेषां मुहुः कृत्यसम्पादनात्, तेन यत् कृत्यं करणीयं तत् तेषामस्तीत्यर्थः । तेषामेव तेन सह कृत्यमस्ति नान्येषामित्यर्थो वा। तदन्यांस्तु निन्दितत्वेनाह, मृत्योर्दौहित्रयादीन् वेण प्रभृतीन् धर्मविमोहितान् । गदा-भृच्छब्देन तन्नाम्ना प्रसिद्धात् श्रीविष्णोरन्यत्र परमेश्वरत्वं वारयति श्रुतियुक्तिविद्व-दनुभवेषु । तं गदाभृतं विशिनष्टि वर्गेति । वर्गोऽत्र त्रिवर्गः । स्वर्गो धर्मस्य फलम् । अपवर्गो मोक्षः । तेषामैकात्म्येनैकरूप्येण सर्वान्तर्गतेन हेतुना । तत्रापि प्रायेण प्रचु-रेण हेतुना । तदुक्तं स्कान्दे—

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः ।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥६१५॥ इति ॥

रुचि-प्रधान भक्ति-साधकों के श्रवणादि के प्रकार को श्रीमद्भागवत (१।५।२६) में श्रीनारद जी ने कहा है—हे मुनिवर ! मैं उन ऋषिगण के आश्रम

में रहकर उनके अनुग्रह से प्रतिदिन, मुनिगण जो मनोहर श्रीकृष्ण-कथाका कीर्त्तन करते थे, उसे सुनता था। श्रद्धा-पूर्वक उस श्रीकृष्ण-कथा को विशेष मनोयोग से सुनते-सुनते मुझ में प्रियश्रवा श्रीहरि में रति का उदय ही उठा ॥६१०॥

इत्यादि उक्त प्रकार का श्रवण ही रुचि-प्रधान साधकों के लिए अनुकूल है। विचार-प्रधान साधकों को चतुःश्लोकी आदि तत्व विचार परक अंश का श्रवण अनुकूल रहता है। उनके मनन का प्रकार जैसे (भा० २।२।३४) में वर्णन किया गया है, वैसा होता है, (श्लोक सं० १८ द्रष्टव्य है)। इस प्रकार के मनन या विचार से जो जैसी श्रीभगवान् में श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसका श्रीमद्भागवत (४।२१।२७-३०) में श्रीपृथु महाराज ने वर्णन किया है--

हे पूज्यतम प्रजागण ! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावों के मत में तो कर्मों का फल प्रदान करने वाले भगवान् यज्ञपति ही हैं, क्योंकि इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों में कोई-कोई व्यक्ति बड़े तेजस्वी देखने में आते हैं ॥६११॥

मनु, उत्तानपाद, महीपति ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, हमारे पितामह अङ्ग, ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, वलि और इस कोटि के महानुभावों के मत में तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग तथा स्वर्ग और अपवर्ग के स्वाधीन नियामक, कर्म-फल प्रदाता रूप से भगवान् गदाधर की आवश्यकता है। इस विषय में तो केवल मृत्यु के दौहित्र वेन आदि कुछ शोचनीय एवं धर्म-विमूढ़ लोगों का मतभेद है ॥६१२–६१४॥

पृथु-महाराज ने कहा—हे पूजनीयतमगण ! कोई-कोई श्रुति-तात्पर्य वेत्ताओं के मत में सर्व-कर्मफल प्रदाता रूप में श्रुति प्रतिपादित यज्ञपति नामक परमेश्वर हैं। परमेश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मुनियों का नाना-प्रकार मत-भेद रहने से परमेश्वर की अस्तित्व-सिद्धि नहीं हो पाती—इस आशङ्का को लेकर कहते हैं—ईश्वर की सत्ता न रहने पर जगत् की विचित्रता सम्भव नहीं हो सकती इसलिए अर्थापत्ति प्रमाण का अवलम्बन लेकर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कराने के लिए कहते हैं कि इस जगत् में प्रत्यक्ष-सिद्ध, तथा शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा और अनुमान द्वारा परिदृश्यमान जगत् की तरह परलोक में भी तेजोमयी भोग-भूमि और शरीर किसी स्थान पर देखे व सुने जाते हैं, किन्तु ऐसा सर्वत्र देखा-सुना नहीं जाता। जगत् की यह विचित्रता सर्व-समर्थ ईश्वर शक्ति के बिना स्वयं सिद्ध नहीं हो सकती। जड़ में जड़कर्मों के अनुरूप फल देने की सामर्थ्य घटित नहीं हो सकती। इसलिए वेदान्तसूत्र (३।२।३८) में कहा गया है कि फल की प्राप्ति परमेश्वर से ही होती है, ऐसा होना सम्भव भी है। अन्यान्य देवताओं की कोई भी स्वतन्त्रता नहीं है। क्योंकि अन्तर्यामी की प्रेरणा से उनके कार्य क्षय हो जाते हैं। कर्मों की समानता रहने पर तो फल में तारतम्य नहीं हो सकता। कहीं यह भी देखा जाता है कि कर्म करने पर भी फल प्राप्ति नहीं होती। अतएव परम स्वतन्त्र परमेश्वर का अस्तित्व है।

इस विषय में महानुभवीजनों का अनुभव भी प्रमाण रूप में उल्लेख करते हैं—स्वायम्भुव मनु उनके पुत्र उत्तानपाद, उनके पुत्र ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, मेरे (पृथु के) पितामह वेण राजा के पिता अङ्ग महाराज तथा इस प्रकार अन्यान्य महानुभवगणों के, ब्रह्मा के, शिव के, प्रह्लाद के तथा बलि के अनेक कार्य गदाधर भगवान् श्रीहरि ने उनके हृदय में तथा बाहर सामने आविर्भूत होकर अनेक बार सम्पादन किए हैं। उन महानुभवजनों की प्रयोजन-सिद्धि के लिए परमेश्वर के अनेक कार्य हैं, उसी प्रकार उन सब के भी श्रीभगवान् के सम्बन्ध में अनेक कृत्य हैं। उन सब के ही श्रीभगवान् के साथ अनेक कृत्य हैं, किन्तु दूसरों के नहीं। (यहाँ बलि एवं प्रह्लाद की बात पृथु महाराज कह रहे हैं, यद्यपि स्वायम्भु मन्वन्तर में वे उत्पन्न ही नहीं हुए थे। छठे चाक्षुष मन्वन्तर में प्रकट हुए थे, तथापि स्वयम्भु मन्वन्तर की यह सब बात शास्त्र से सुनकर ही कह रहे हैं)। मृत्यु के दौहित्र धर्म विमोहित वेनराजा आदि की निन्दा करते हुए कहते हैं—वे शोचनीय हैं अर्थात् जो परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, वे हतभागे हैं, उनके लिए महानुभवगण शोक करते हैं। गदाधर-शब्द से उस नाम से प्रसिद्ध श्रीविष्णु के अतिरिक्त अन्यान्य देवताओं में श्रुति-युक्ति और महानुभवीगण से परमेश्वरत्व का निषेध किया जाता है। उन श्रीगदाधर की विशेष रूप से परिचय कराते हुए कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम, धर्म-फल स्वर्ग, तथा ज्ञान-साध्य मोक्ष इनके फल प्रदाता तथा सर्वान्तिर्गत होने से जिनकी कथा प्रचुर भाव से शास्त्रों में वर्णन की गई है। जैसा कि स्कन्द-पुराण में कहा गया है—

संसार पाश में बन्धन करने में तथा उस से मुक्त करने में और केवल्य (मोक्ष) प्रदान करने में एकमात्र परमब्रह्म सनातन श्रीविष्णु ही समर्थ हैं ॥६१५॥

इस प्रकरण से श्रीविष्णु ही त्रिवर्ग, अपवर्ग प्रदान करने में एकमात्र समर्थ है—यह प्रदर्शित किया गया है ॥२०४॥

२०५—अथ भजनश्रद्धा यथा (भा० ४।२१।३१-३२)—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥६१६॥

विनिर्धूताशेषमनोमलः पुमानसङ्गविज्ञानविशेषवीर्य्यवान्।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥६१७॥

तपस्विनां संसारतप्तानाम्। तत्पादसम्बद्धस्यैवैष महिमा इति दृष्टान्तेनाह—यथेति। असङ्गस्ततोऽन्यत्रानासक्तिस्तेन विज्ञानविशेषो भगवतो नानाविर्भावत्वात्तेषां मध्ये कस्याप्याविर्भावस्य साक्षात्कार स्तदेव वीर्य्यं विद्यते यस्य सः। यस्याङ्घ्रिमूले कृताश्रयः सन् ॥ श्रीपृथुराजः सभ्यान् ॥२०५॥

अब विचार-प्रधान भक्ति-साधकों की भजन श्रद्धा को दिखाते हैं—श्रीमद्भागवत (४।२१।३१-३२) में कहा गया है—

श्रीराधा का न्याय

(पूर्व क्रमागत)

[चौथा दृश्य]

[श्रीश्यामसुन्दर अकेले बैठे हैं]

श्रीकृष्ण —समझ में नहीं आता कि अब क्या करना चाहिये ? रसिकदासी की अर्जी ने मुझे बेचैन कर दिया है । अब अपने वकील वेदों को बुलाकर सलाह मशवरा करना चाहिये । हे ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वेद शीघ्र आइये ।

[वेदों का आना]

सब —जय हो, जय हो अखिल लोक-विश्राम सुखधाम प्रभु की जय हो ।

श्रीकृष्ण —आइये, आइये, विराजिये ।

सामवेद —कहिये प्रभो ! आपने किस लिये याद फरमाया ? जो आज्ञा हो हम तुरन्त बजा लायें ।

श्रीकृष्ण —क्या बतायें निगम जी ! हमारे खिलाफ ऊँचे गाँव की निवासिनी रसिकदासी ने चोरी, डकैतीकी तोहमतें लगाकर झूँठी अर्जी पेश की है, जिसके सबूत में राजा मयूरध्वज, महाराज बलि और ब्रजगोपियों को गवाही देने के लिये बुलाया गया है । अब इस मामले में हमारी ओर से आपको ही वकालत करनी होगी ।

अथर्ववेद —बहुत अच्छा भगवन् ! आपकी आज्ञा सिर आँखों पर है । आप चिन्ता न करें, सब ठीक हो जायेगा । हम अपना गवाह पेश करेंगे ।

श्रीकृष्ण —हाँ भैया ! बड़ी अक्लमन्दी से काम लेना । मुझे तुम लोगों का बहुत भरोसा है ।

ऋग्वेद —धन्य हो प्रभो, धन्य हो, आपकी लीला बलिहारी है ! देखो, जो अलख पुरुष अविनाशी, निराकार, निष्कलङ्क भी हैं, वे ब्रज-वासियों के प्रेमवश साकार होकर नेह की डोरी में बंधे हुए कैसी अद्भुत मानव लीला कर रहे हैं । इसलिये हम लोगों ने आपकी महिमा का पार न पाकर नेति-नेति पुकारा है । जय हो, जय हो ।

[चारों वेद मिलकर गाते हैं]

प्रभु तेरी लीला का नहीं पार, होत चित चकित हमार।
अखिल अगोचर अज अविनासी, दूर सबनि तें घट घटबासी।।
निरावरण करतार ।। १ ।।
भक्तन हित नाना तन धारी, नव-नव लीला युग विस्तारी।
होई सगुन साकार ।। २ ।।
अघटनि घटनि पटीयसि माया, उसने यह सब खेल रचाया।
कर नाना विस्तार ।। ३ ।।
जै जै प्रेमरूप परमेश्वर, जगदात्मा जग के तुम ईश्वर।
हमरे प्राणाधार ।। ४ ।।

(पर्दा आता है)

[राजा बलि एवं मयूरध्वज बैठे हैं]

मयूरध्वज—पाताल-निवासी श्री बलि महाराज ! क्या आपको भी सखी रसिकदासी की तरफ से गवाही देने के लिये समन मिला है ?

बलि —हाँ महाराज मयूरध्वज जी ! और मालूम पड़ता है आप भी शायद इसी शुभ काम के लिये पधारे हैं ?

मयूरध्वज—हाँ भैया ! रसिकदासी तो हम पर बड़ा उपकार कर रही है, जो इसी बहाने से परम पावन प्रेममयी-श्रीब्रजभूमि के दर्शन का सौभाग्य मिला है और अद्भुत लीलाविनोदी जुगलकिशोर श्रीगोलोक बिहारी जी का दर्शन करके कृतकृत्य होने का अवसर प्राप्त हुआ है।

बलि —ये सब नटवर छलिया नन्दनन्दन की अनुकम्पा है जो किसी न किसी रीति से अपने चरण आश्रितों को प्रेम-सुधा का पान कराते हैं।

[रसिकदासी का प्रवेश]

रसिकदासी—महाराज मयूरध्वज और महाराज बलि के चरणों में रसिकदासी का प्रणाम।

मयूरध्वज—कहिये देवी ! किस प्रकार की गवाही देने के लिये हमें बुलाया गया है ?

रसिकदासी—क्या कहूँ महाराज ! उस नटखट मदन मोहन श्यामसुन्दर के कारनामें तो आप से छिपे नहीं हैं। केवल हम ही नहीं, आप भी उसके छल-कपट के शिकार हो चुके हैं। अब हमारी यही प्रार्थना है कि उनके धर्म बल के कारण आपको जो कष्ट सहन करने पड़े हैं वे सब जी खोलकर साफ-साफ श्री सर्वेश्वरी श्री स्वामिनी जी के दरबार में बयान कीजियेगा, जिससे मेरी लगाई हुई तोहमतों की सचाई में सरकार को कोई शक न रहे। मैंने आप लोगों के भरोसे पर ही ऐसे टेढ़े मामले में टांग अड़ाई है।

बलि —आप बेफिक्र रहें, हम सब सत्य-सत्य कह देंगे।

[पर्दा आता है]

[पांचवाँ दृश्य]

(श्रीस्वामिनी राजसिंहासन पर विराजित हैं, सभासदगण बैठे हैं)

श्रीस्वामिनी–मन्त्री जी ! रसिकदासी के किये गये मुकदमे के दौरान और क्या जरूरी बातें हुई हैं, उनका बयान करो।

ललिता —हुजूर मेहरबान ! फरियादी के गवाहों पर समन तामिल हो चुके हैं और मुद्दई व मुद्दालय दोनों की तरफ से वकीलों का वकालतनामा पेश हुआ है। फरियादी की वकालत इनके गुरु जी करेंगे और मुलजिम की ओर से सामवेद वकालत करने के लिये दरबार में पधार रहे हैं।

श्रीस्वामिनी–तो मुकदमे की कार्यवाही शुरू कीजिये।

ललिता —जो हुक्म सरकार ! (द्वारपाल से) गवाह महाराज बलि का नाम पुकारो।

द्वारपाल —(द्वार पर खड़े होकर) राजा बलि वल्द महाराज विरोचन दैत्यवंशी साकिन पाताल लोक हाजिर हैं ?

(महाराज बलि भीतर आकर प्रणाम करते हैं)

गुरुजी —सरकार ! महाराज बलि हाजिर हैं।

श्रीस्वामिनी–कहिये बलि महाराज ! आप मुल्जिम को जानते हैं ?

बलि —जी हाँ महाराज ! अच्छी तरह से पहचानता हूँ ?

श्रीस्वामिनी–आपकी इनके साथ कहाँ और कैसे पहचान हुई ? रसिकदासी कहती है कि ये भले मनुष्यों को धोखा देते फिरते हैं। अब बताइये कि आप के साथ इन्होंने क्या छल व कपट किया है ?

बलि —सुनिये सरकार ! कुछ समय हुआ कि मैं रेवा नदी के तीर पर यज्ञ कर रहा था। ये वहाँ बहुत छोटा वामन का रूप धारण कर हमारी यज्ञशाला में पहुँचे। मैंने आदर देकर इनसे कुछ माँगने के लिये कहा। इन्होंने बहुत निर्लोभता के साथ केवल छोटे-छोटे तीन पावों के नाप की जमीन माँगी। मैंने बहुत आग्रह किया कि आप कुछ अधिक माँगिये, पर इन्होंने कहा मुझे भजन करने के लिये केवल इतनी ही जमीन की दरकार है। मैंने सङ्कल्प कर दिया। फिर तो सरकार क्या बतायें, इन छली शिरोमणि ने अपना विराट रूप प्रकट किया और एक पाँव में पृथ्वी व दूसरे में आकाश को नाप करके मेरे दोनों लोकों का राज्य छीन लिया तथा तीसरे पाँव के लिये बड़ा शोर

मचाने लगे। मेरी स्त्री के बहुत प्रार्थना करने पर तीसरे पाँव से मेरा शरीर नाप कर इन्होंने मुझे ऐसा दबाया कि मैं पाताल जा पहुँचा, सरकार ! हमारे साथ तो ऐसा अन्याय किया है कि दिखाया रूप छोटा और नापने के समय हो गया मोटा। ऐसा खोटा तीनों लोक में न होगा।

सामवेद —सत्य बताओ राजन् ! आपके साथ में जिस रूप से छल किया था क्या वह यही है ? आँखें खोलकर पहचानो, झूँठ मत कहना।

बलि —वकील साहब ! ये तो बहुरूपिया हैं। रूप बदलना तो इनके बाँये हाथ का खेल है, जिस रूप में हमारे साथ छल किया वह तो इनके शरीर में नहीं दीखता।

सामवेद —जब तुम्हारा दोनों लोकों का राज्य छीना तो उसके बदले में तुम्हें कुछ दिया या नहीं ?

बलि —दिया हजूर दिया, प्रसाद रूप में सुतल लोक का राज्य दिया।

सामवेद —तुमको राज्य देकर फिर कहाँ चले गये ?

बलि —जायेंगे कहाँ महाराज ! ये तो उसी वामन रूप से हमारे द्वार पर खड़े होकर हमें नित्य दर्शन देते रहते हैं।

सामवेद —सरकार ! हजूर की खिदमत में मेरी यह प्रार्थना है कि गवाह बलि महाराज के बयान से यह साफ साबित होता है कि इनको श्रीकृष्ण के दर्शन यहीं पर हुए हैं इससे पूर्व कभी नहीं हुए। वामन रूप से जो इनके साथ छल किया था, वह देवताओं के हित के लिये ही, न कि अपने सुख के कारण। और एक राज्य छीनकर सदा के लिये इन्हें दूसरा राज्य दे दिया तथा इसी सङ्कोच के कारण कि मैंने इनका राज्य छीन लिया है ये उदार-चेता आप ही ऋणी बनकर इनकी रक्षा के हेतु सर्वदा द्वार पर खड़े रहकर अपने दर्शन से महाराज बलि को कृतकृत्य कर रहे हैं। आश्चर्य है कि ऐसे सज्जन शिरोमणि को फिर भी ये छलिया बता रहे हैं।

गुरुजी —चतुर-शिरोमणि स्वामिनि ! इस कार्य में भी श्रीकृष्ण की भीतर छुपी हुई चालाकी मालूम पड़ती है। एक तो इनको पाताल भेजकर देवताओं को सदा के लिये भय-मुक्त कर दिया और फिर कहीं यह बली बलवान् होकर अमरावती पर धावा न बोल दे इसलिये इनके द्वार पर खड़े रहकर इनको अपने अधीन कर रखा है। मुल्जिम के वकील कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने निज सुख के लिये ऐसा नहीं किया। मैं पूछता हूँ कि देवता इनके अङ्ग नहीं हैं क्या ? ये देवनायक ही कहलाते हैं। इसलिये देवों का राज्य इनका राज्य है।

(क्रमशः)

श्रीपाद ईश्वरपुरी गोस्वामी

एकवार श्रीपुरी जी भ्रमण करते हुए राढ़ देश में एकचाका गांव में पहुँचे, जहां श्रीनित्यानन्द प्रभुके माता-पिता श्रीहाड़ाई पण्डित-पद्मावती रहते थे। उस समय श्रीनिताई केवल १२ वर्ष के थे। श्रीहाड़ाई पण्डित शाम के समय घर से बाहर निकले और अपने खेत पर जा रहे थे। सामने देखा एक महा तेजस्वी संन्यासी। उन्होंने नमो नारायण कहकर इन्हें प्रणाम किया। भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। अपने घर ले आये। भिक्षा कराने के बाद ये रात भर उनके घर रहे और कृष्ण-कथा कहते रहे। श्रीनिताई को देखकर ये उन्हें पहचान गए। सवरे जब चलने लगे तो ये बोले—'मेरी एक दक्षिणा है, यदि तुम देना स्वीकार करो।'

श्रीपण्डित जी ने कहा – आज्ञा कीजिए।

इन्होंने दो-तीन बार कहकर उनसे वचन पूरा करने की हामि भरवा ली। तब इन्होंने कहा—पण्डित जी! मैं तीर्थ-भ्रमण करना चाहता हूँ। मुझे एक सहायक ब्राह्मण बालक साथ चाहिए। तुम अपने पुत्र नित्यानन्द को मेरे साथ भेज दो। मैं इसे प्राणों के समान रखूंगा।

श्रीपण्डित जी इनके वचन सुनते ही व्याकुल हो उठे। नित्यानन्द तो उनके प्राण थे। एक क्षण भी विना देखे नहीं रह सकते थे। धर्म-संकट में फंस गए। सह-धर्मिणी ने आश्वस्त किया। विश्वामित्र मुनि की श्रीराम-लक्ष्मण को माँग ले जाने की बात याद दिलाकर धैर्य बंधाया। सौंप दिया इन्होंने अपने प्राण श्रीनिताई को इन्हें।×

श्री पुरी जी श्रीनिताई चांद को साथ लेकर अनेक तीर्थों में भ्रमण करते रहे। बक्रेश्वर तीर्थ पर आकर श्री पुरी एवं श्रीनिताईचांद अलग हो गए। न जाने कहां ये अलक्षितरूप से चले गए। श्रीनिताई प्रभु अकेले वैद्यनाथ आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए जब रंग क्षेत्र में आये तो उन्होंने इनके परम गुरु श्री लक्ष्मी पति पर कृपा की और फिर श्रीमाधवेन्द्रपुरी से उनका मिलन हुआ। उस समय ये श्री माधवेन्द्रपुरी के अन्तरङ्ग शिष्यों के रूपमें उनके साथ थे। श्रीमाधव-पुरी तथा श्रीनिताई चांद के मिलन-महोत्सव को देखकर ये अत्यन्त विह्वल हो उठे। दोनों की प्रेमदशा देखकर ये रो उठे।

एक बार श्रीपुरी जी नवद्वीप में पधारे। इन्हें कोई भी नहीं जानता था। दैवयोग से श्रीअद्वैताचार्य के सत्संग में पहुँच गए और एकान्तमें पीछे बैठगए। किन्तु वैष्णव वैष्णवों से छिपा नहीं रहता। बार-बार श्रीअद्वैत इनकी तरफ देख

× 'श्रीनिताई चांद' में गृह त्याग प्रसङ्ग पृष्ठ १५ पर द्रष्टव्य है।

रहे थे। फिर पूछा—महाशय ! आपका परिचय ? ऐसा लगता है आप वैष्णव संन्यासी (श्रीकृष्णोपासक संन्यासी) हैं ?

श्रीईश्वरपुरी बोले—मैं एक क्षुद्र अधम जीव हूँ, आपके चरण दर्शन करने आया हूँ।

वैष्णव एवं कृष्ण-भक्त की पहचान है, वह कृष्णलीला गान में अपने कृष्णप्रेम को छिपा नहीं रख सकता। इसलिये श्रीआचार्य के इशारे पर श्रीमुकुन्द ने झट एक श्रीकृष्णलीलामय गीत का आरम्भ किया। श्रवण करते ही श्रीपुरी जी की आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा वह निकली। पृथ्वी पर ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जैसे-तैसे श्रीआचार्य ने इन्हें सँभाला। फिर सबको पता लगा कि कृष्णप्रेमाविष्ट ये श्रीईश्वरपुरी हैं।

एक दिन श्रीमन्महाप्रभु विश्वम्भर छात्रों को पढ़ा कर लौट रहे थे, रास्ते में श्रीईश्वरपुरी जी मिले। श्रीविश्वम्भर प्रभु ने इन्हें निज सेवक जानकर पहचान लिया, फिर भी इन्हें नमस्कार किया। श्रीविश्वम्भर महाप्रभु हैं राधा-भावद्युति सुवलित श्रीकृष्ण। श्रीईश्वरपुरी हैं श्री श्रीराधाकृष्ण-उपासक। इस लिए प्रभु ने इन्हें अपने सेवक रूप में पहचाना—

पथे देखा हइल ईश्वरपुरी सने।
भृत्य देखि प्रभु नमस्कारिला आपने।।

श्री चै०भा० १-७-२१८

श्रीमन्महाप्रभु उस समय गृहस्थ थे और श्रीपुरीजी का संन्यासाश्रम था, संन्यासी भेष था। लौकिक आचार में भी प्रभु को इन्हें अपने आप नमस्कार करना उचित ही था, भक्तभावमय प्रभु तो हैं हीं। एक भक्त के लिए सदा उसे नमस्कार करना कर्तव्य भी है। श्रीईश्वरपुरी जी ऊपर से नीचे तक श्रीविश्वम्भर को देखने लगे। अति गौरवर्ण सुन्दर आजानुलम्बित शरीर। चमत्कृत हो उठे परमपुरुष जानकर। पूछने लगे—विप्रवर ! आपका क्या नाम है ? आप क्या पढ़ते-पढ़ाते हो ? कहां आपका निवास स्थान है ?

श्रीमहाप्रभु के साथियों ने कहा—संन्यासिवर ! इनका नाम है 'निमाई पण्डित।' यहां नवद्वीप में ही आप निवास करते हैं। श्रीपुरी जी बोले—अच्छा ! आप हैं वह निमाई पण्डित ? मैंने आपका नाम पहले अवश्य सुना है।

श्रीप्रभु ने श्रीपुरी को निमन्त्रण दिया और बढ़े आदर से अपने घर ले गये। श्रीशची माता ने श्रद्धापूर्वक इन्हें श्रीकृष्ण-प्रसाद जिमाया। अति आनन्द पूर्वक प्रसाद पाकर आप मन्दिर में चले आए और अनेक देर तक कृष्ण-कथा

कहते रहे। भक्तों के मिलन का आदर्श है यही। मिलने पर भगवत्कथा ही कहते सुनते हैं। विषयी लोग विषय और सांसारिक बातें करते हैं, किन्तु भक्तों की परस्पर यही मिलन-रीति है।

इस प्रकार श्रीपुरी जी कई मास पर्यन्त नवद्वीप में श्रीगोपीनाथ आचार्य के घर रहे। इनके दर्शन करने श्रीमहाप्रभु भक्तों के साथ नित्य जाते। श्रीगदाधर पंडित के कृष्णप्रेम को देखकर श्रीपुरीजी ने उन्हें निज रचित 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' पढ़ाया।

श्रीपुरी जी श्रीनिमाई पण्डित को साक्षात् भगवान् अनुभव न कर सके, क्योंकि प्रभु की लीला-शक्ति ऐसा न चाहती थी। फिर भी श्रीपुरी श्रीनिमाई का अतिशय आदर करते। एक दिन श्रीपुरी बोले—निमाई ! आप परम पण्डित हो। मैंने एक 'श्रीकृष्णचरित्र' लिखा है। उसे तुम देखकर उस में क्या-क्या दोष हैं, बता दो, ताकि मैं उसका संशोधन कर दूँ।

श्रीप्रभु बोले ! भक्तों के वचन, उसमें भी फिर कृष्ण-वर्णन ! उसमें जो दोष देखता है, वह पापी है—(श्रीचै० भा० १.७।२३४)—

प्रभु बोले--भक्तवाक्य कृष्णेर - वर्णन।
इहाते ये देखे दोष, सेइ पापीजन॥

श्रीप्रभु ने कहा--श्रीभगवान् भावग्राही हैं, जो व्याकरण नहीं जानता वह "विष्णाय नमः" कहता है और विद्वान् "विष्णवे नमः।" किन्तु श्रीभगवान् भक्त के भाव को ग्रहण करते हैं। दोनों के प्रति कृपा रखते हैं—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु समं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः॥

फिर भी श्रीपुरी जी ने कहा—"निमाई ! तुम्हें इसमें कोई दोष नहीं लगेगा। इससे ग्रन्थ शुद्ध होकर सब को प्रिय लगेगा।" बहुत कहने पर एक दिन प्रभु ने कुछ संशोधन कर भी दिया, परन्तु भक्त की सदा जय चाहने वाले प्रभु ने फिर कोई भी दोष न निकाला। अनेक दिन ये नवद्वीप में रहे और सदा श्रीमन्महाप्रभु तथा भक्तों के साथ कृष्ण-कथा रस का आस्वादन करते रहे।

श्रीमन्महाप्रभु पितृ-श्राद्ध के बहाने जब गया पधारे, तो वहाँ चक्रबेड़ स्थान पर श्रीविष्णु-चरणों के दर्शन किए। ब्राह्मण-पुजारियों ने श्रीचरणों की महिमा सुनाई। प्रभु ने गन्ध-पुष्प-फल-दीप से श्रीचरणों की अर्चना की। बस उसी समय श्रीनिमाई प्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे। अश्रु-कम्प-पुलक सात्विक विकार श्रीमहाप्रभु के शरीर पर उदय हो उठे। वह पहला दिन था कि श्रीमहाप्रभु ने प्रेम प्रकाशित किया। उसी स्थान पर दैवयोग से श्रीईश्वरपुरी जी आ पहुँचे। श्रीचरण दर्शन करते इन्हें देखते ही श्रीमन्महाप्रभु ने इन्हें प्रणाम किया। इन्होंने प्रभु को उठाकर गले लगाया।

प्रभु ने कहा—'आज मेरी गया-यात्रा सफल हो गई। तीर्थ पिण्ड देने ले, तर्पण करने से पितृ प्रसन्न होते हैं, किन्तु कृष्ण-भक्तों के दर्शन मात्र से कोटि-कोटि पितृगण तृप्त ही नहीं होते, सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। प्रभु ने आगे कहा–आप मेरा संसार समुद्र से उद्धार कीजिये, मैंने यह देह आपको समर्पण किया है। आप मुझे श्रीकृष्णचरण कमलों का रस पान कराइये—यह भिक्षा दीजिये मुझे।

श्रीपुरी जी ने कहा—सुनिये, निमाई पण्डित! आप निश्चय ही ईश्वर हो। तुम्हारे जैसा पाण्डित्य तथा चरित्र ईश्वर को छोड़कर और कहीं नहीं पाया जाता। मैंने आज एक शुभ स्वप्न देखा, उसका ही साक्षात् फल मेरे सामने है। तुम्हारे दर्शन में ही मैं प्रतिक्षण परमानन्द-सुख का अनुभव कर रहा हूँ। सच पूछो, जब से मैंने तुम्हारे दर्शन नवद्वीप में किये, तब से मुझे और कुछ नहीं सुहाता। कृष्ण-दर्शन का सुख ही मुझे तुम्हारे दर्शनों में प्राप्त हो रहा है।

श्रीमहाप्रभु ने अपने ही भाग्यों की सराहना की श्रीपुरी जी के दर्शन पाकर। फिर प्रभु गया-तीर्थ-भ्रमण में चले गये। कुछ दिन पीछे श्रीमहाप्रभु एक दिन जब रन्धन कार्य समाप्त कर चुके, अचानक श्रीपुरी जी प्रभु के स्थान पर 'कृष्ण-कृष्ण' बोलते हुए एवं आनन्द में झूमते हुए पधारे। श्रीप्रभु ने इन्हें नमस्कार कर आसन पर बैठाया और सब कृष्ण-प्रसादी अन्न श्रीपुरी जी को भिक्षा करा दी। फिर इन्हें आपने हाथों से दिव्य चन्दन-गन्धादि का लेप किया।

दूसरे दिन प्रभु ने अकेले में श्रीपुरी जी से मन्त्र-दीक्षा की प्रार्थना की। इन्होंने कहा—निमाई! तुम मन्त्र-दीक्षा देने को कहते हो। यदि प्राण देने को कहो तो भी मैं तैयार हूँ। यह कहकर प्रभु को इन्होंने दशाक्षर-मन्त्रकी दीक्षा दी। साक्षात् श्रीकृष्ण, जगत् के शिक्षागुरु, किन्तु वैष्णव प्रणाली की रक्षा के लिए आपने मन्त्र-दीक्षा ली। यह बताने के लिए कि मन्त्र-दीक्षा के बिना भक्ति-मार्ग में प्रवेश ही सम्भव नहीं है। प्रभु ने इनकी प्रदक्षिणा की और प्रार्थना की आप ऐसी कृपा करो कि मुझे कृष्णप्रेम की प्राप्ति हो। श्रीपुरी ने श्रीमहाप्रभु को आलिङ्गन किया, दोनों के नेत्रों से अजस्र प्रेमधारा प्रवाहित होने लगी। समय पाकर श्रीप्रभु तो नवद्वीप लौट गए।

जिस समय प्रभु गौड़ देश में भ्रमण कर रहे थे श्रीईश्वरपुरी जी के जन्म-स्थान कुमारहट पर गए थे और वहाँ की रज बहिर्वास में बान्ध कर ले आए—

प्रभु बोले 'ईश्वर पुरी जन्मस्थान'।
ए मृत्तिका मनोहर जीवन धन-प्राण॥

इतना आदर एवं सम्मान करते थे श्रीमहाप्रभु श्रीपुरी जी का।

(क्रमशः)

अनुवाद—हे पाण्डव ! जिसको सन्यास कहते हैं, उसी को तू योग समझ; क्योंकि संकल्पों का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं होता ।।२।।

तात्पर्य— कर्मफल का त्याग ही सन्यास-शब्द का अर्थ है और वस्तुतः विषय समूह से चित्त की निश्चलता हो योग-शब्द का अर्थ है । इसीलिये संन्यास और योग इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ बताया गया है । असंन्यस्त वह है जिसने फल की आकांक्षा और विषय भोगों की तृष्णा का त्याग नहीं किया है । अतः वह संन्यासी या योगी नहीं कहा जा सकता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३।।

सारार्थवर्षिणी टीका—ननु तर्ह्यष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवमेव निष्काम-कर्म्मयोगः प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह— आरुरुक्षोरिति । मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं निश्चलध्यानयोगमारोढुमिच्छोः, तदारोहे कारणं कर्म्म चोच्यते, चित्तशुद्धि-करत्वात् । ततस्तस्य योगं ध्यानयोगमारूढ़स्य ध्याननिष्ठाप्राप्तः शमः विक्षेपकः सर्व्वकर्म्मोपरमः कारणम् । तदेवं सम्यक्चित्तशुद्धिरहितो योगारुरुक्षुः ।।३।।

अनुवाद—निश्चल ध्यान योग में आरोहण करने की इच्छा वाले मुनि के लिये निष्काम कर्म ही कारण या साधन कहा गया है और जब वह योग में आरूढ़ हो जाता है, तब उसके लिये विक्षेप पैदा करने वाले कर्मों का त्याग करगा ही साधन कहा गया है ।। ३।।

तात्पर्य—तो क्या अष्टांग योगी को पूरे जीवन पर्यन्त निष्काम कर्मयोग करना पड़ेगा ?—इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है । मुनि अर्थात् जो योग के अभ्यास का इच्छुक है, उसे निश्चल ध्यान के लिये निष्काम कर्म करना होगा, क्योंकि इसके बिना चित्त शुद्धि नहीं हो सकती । जब वह ध्यान योग में निश्चल रूप से अवस्थित हो जाता है फिर उसे विक्षेप पैदा करने वाले कर्मों का त्याग करना होता है । तात्पर्य यह है जब तक ध्यान में अवस्थित नहीं हो पाता केवल उसका इच्छुक मात्र है, तब तक निष्काम कर्म करना होगा । ध्यानावस्थित स्थिति प्राप्त करने पर विक्षेप कर्मों का तो संन्यास करना ही होगा । इस शम प्राप्त अवस्था में सर्वकर्मों का उपशम हो जाता है ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ।।४।।

सारार्थवर्षिणी टीका—सम्यक् शुद्धचित्तस्तु योगारूढ़स्तज्ज्ञापकं लक्षण-माह-यदेति । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्म्मसु तत्साधनेषु ।।४।।

अनुवाद—जिस समय न तो इन्द्रियों के भोगों में तथा न ही कर्मों में आसक्त होता है, उस समय सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागी पुरुष ही योगारूढ़ कहलाता है ।।४।।

तात्पर्य—भली प्रकार शुद्धचित्त व्यक्ति ही योगारूढ़ कहलाता है—उसके लक्षण ये हैं कि वह इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं होता और न ही योग के साधनों में आसक्त रहता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

सारार्थवर्षिणी टीका—यस्मादिन्द्रियार्थासक्त्यैवात्मा संसारकूपे पातितस्तं यत्नेनोद्धरेदिति। आत्मना विषयासक्तिरहितेन मनसाऽऽत्मानं जीवमुद्धरेत्। विषयासक्तिसहितेन मनसा त्वात्मानं नावसादयेत् न संसारकूपे पातयेत्। तस्मादात्मा मन एव बन्धुर्मन एव रिपुः ॥५॥

अनुवाद—मनुष्य अनासक्त मन के द्वारा अपना संसार सागर से उद्धार करे और अपनी आत्मा को अधोगति में न ले जाय, क्योंकि आत्मा अर्थात् मन ही अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है ॥५॥

तात्पर्य—क्योंकि इन्द्रियों की आसक्ति ने ही आत्मा अर्थात् जीव को संसार कूप में गिराया है। उस जीवात्मा का यत्न द्वारा उद्धार करना कर्तव्य है। विषयासक्ति रहित मन के द्वारा जीव का उद्धार करना चाहिये। विषयासक्ति युक्त मन द्वारा आत्मा को संसार कूप में नहीं गिराना चाहिए। मन में आसक्ति रहती है और अनासक्ति भी मन से होती है। इसलिए मन को ही बन्धु और मन को ही शत्रु कहा गया है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

सारार्थवर्षिणी टीका—कस्य स बन्धुः, कस्य स रिपुरित्यपेक्षायामाह—बन्धुरिति। येनात्मना जीवेनात्मा मनो जितस्तस्य जीवस्य स आत्मा मनो बन्धुः। अनात्मनोऽजितमनसस्त्वात्मैव मन एव शत्रुवत् शत्रुत्वे अपकारकत्वे वर्त्तेत ॥६॥

अनुवाद—जिस जीवात्मा द्वारा मन वश में कर लिया गया है, उसका मन तो अपना बन्धु है, परन्तु जिसने मन को नहीं जीता उसके लिये उसका मन ही शत्रु के समान अपकार करने वाला होता है ॥६॥

तात्पर्य—जिस जीव ने मन जीत लिया है, उस जीव का वह मन बन्धु है। जिसने मन नहीं जीता उस जीव का अपना वही मन ही शत्रु है और अपकार करने वाला होता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

सारार्थवर्षिणी टीका—अथ योगारूढ़स्य चिह्नानि दर्शयति त्रिभिः। जितात्मनो जितमनसः प्रशान्तस्य रागादिरहितस्य योगिनः परमतिशयेन समा-

हितः समाधिस्थ आत्मा भवेत् । शीतादिषु सत्स्वपि मानापमानयोः प्राप्तयोरपि ॥७॥

अनुवाद—जो जितेन्द्रिय और प्रशान्तचित्त है, उसकी ही आत्मा सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि तथा मान-अपमान में सहनशील होकर आत्मनिष्ठ भाव में स्थित होता है ॥७॥

तात्पर्य—अब योगारूढ़ व्यक्ति के लक्षणों को तीन श्लोकों में दिखाते हैं--जिसने मन को जीत लिया है, जो रागद्वेषादिक से रहित है, वह सम्यक् रूप से समाधिस्थ-आत्मा होता है। शीत-गर्मी, मान-अपमान आदि प्राप्त कर भी वह समान–उद्वेगरहित होता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥८॥

सारार्थवर्षिणी टीका—ज्ञानमौपदेशिकं विज्ञानमपरोक्षानुभवस्ताभ्यां तृप्तो निराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य सः। कूटस्थः एकेनैव स्वभावेन सर्व्वकालं व्याप्य स्थितः, सर्व्ववस्तुष्वनासक्तत्वात्। समानि लोष्ट्रादीनि यस्य सः। लोष्ट्रं मृत्पिण्डः ॥८॥

अनुवाद—ज्ञान और विज्ञान से जिसका चित्त तृप्त है तथा जो निर्विकार, जितेन्द्रिय है, और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर एवं स्वर्ण समान हैं, वह योगी युक्त है, अर्थात् योगारूढ़ कहा जाता है ॥८॥

तात्पर्य—उपदेश स्वरूप ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान तथा विज्ञान अर्थात् अपरोक्ष अनुभव इन दोनों से जिसका चित्त तृप्त अर्थात् आकांक्षा रहित हो चुका है, वह कूटस्थ अर्थात् एक स्वभाव से ही सर्वकाल में स्थित रहता है। सभी वस्तुओं में अनासक्त होने से उसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सारार्थवर्षिणी टीका—सुहृत् स्वभावेन हिताशंसी, मित्रं केनापि स्नेहेन हितकारी, अरिर्घातकः, उदासीनो विवदमानयोरुपेक्षकः, मध्यस्थो विवदमानयोर्विवादापहारार्थी, द्वेष्योऽपकारकत्वात् द्वेषार्हः, बन्धुः सम्बन्धी, साधवो धार्म्मिकाः, पापा अधार्म्मिकाः—एतेषु समबुद्धिस्तु विशिष्यते। समलोष्ट्राश्मकाञ्चनात् सकाशादपि श्रेष्ठः ॥९॥

अनुवाद—जो पुरुष सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में तथा धर्मात्मा और पापियों में भी समान भाव रखता है, वह अति श्रेष्ठ है ॥९॥

तात्पर्य—सुहृत् अर्थात् स्वभावसे हित चाहने वाला, मित्र अर्थात् किसी

प्रेम सम्बन्ध से हितकारी, अरि अर्थात् मार डालने वाला, उदासीन अर्थात् किसी से झगड़ा होने पर उपेक्षा करने वाला, मध्यस्थ अर्थात् झगड़ा होने पर झगड़ा सुलझाने वाला, द्वेष्य अर्थात् अपकार करने वाला या द्वेष करने योग्य, बन्धु अर्थात् सम्बन्धी, साधु अर्थात् धार्मिक व्यक्ति, पाप अर्थात् अधार्मिक व्यक्ति—इन सब में जिसकी समान बुद्धि है वही विशिष्ट पुरुष है। पूर्वोक्त मिट्टी, पत्थर एवं सोने में समान दृष्टि वाले व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

सारार्थवर्षिणी टीका—अथ साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिना, स योगी परमो मत इत्यन्तेन। योगी योगारूढ़ आत्मानं मनो युञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात् ॥१०॥

अनुवाद—योगी व्यक्ति अकेला निर्जन स्थान में रह कर इन्द्रियों तथा मन को जीत कर, आशा रहित तथा परिग्रह रहित होकर मन को समाधि युक्त करे ॥१०॥

तात्पर्य—इस श्लोक में साङ्ग योग का उपदेश किया गया है। इस प्रकार एकान्त रहकर मन-इन्द्रियों को जीत कर निस्पृह और निराहार रह कर समाधि में जुड़ जाने वाला योगी और भी श्रेष्ठ है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

सारार्थवर्षिणी टीका—प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा। चेलाजिनकुशोत्तरमिति कुशासनोपरि मृगचर्म्मासनम्, तदुपरि वस्त्रासनं निधायेत्यर्थः। आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये विक्षेपशून्यत्वेनातिसुक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै,—"दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया" इति श्रुतेः ॥११-१२॥

अनुवाद—योग के लिये पवित्र स्थान पर कुशा, उस पर मृगछाला, तथा उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा ऐसे स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त, इन्द्रियों और उनकी क्रियाओं का संयम करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योगी को अभ्यास करना चाहिये ॥११-१२॥

तात्पर्य—योगी व्यक्ति को उक्त रूप से स्थिर आसन स्थापन करना चाहिये। विक्षेपशून्य होकर अति सूक्ष्मता से ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता को प्राप्त करने के लिये एकाग्र बुद्धि भी होनी चाहिये। जैसा कि कठोपनिषत् (१।३। १२) में कहा गया है कि एकाग्रबुद्धि से ब्रह्मसाक्षात्कार किया जा सकता है ॥

अजौं तरयौना ही रह्यौ

—डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय

☆

जीवन में इहलोक और परलोक को सुधारने के लिए शास्त्रीय ज्ञान की भी अपेक्षा होती है। ज्ञान जीवन में पच जाए, रस जाए, जीवन का अङ्ग बन जाए, तो श्रेयस्कर अन्यथा उसका बोझ डुबाता ही है। ज्ञान की गठरी लेकर ज्ञानगरिमा के पण्डित निर्गुणवादी उद्धव गोपियों के बीच उपदेश करने आए थे और उन्हें ब्रज की धूलि में बार-बार लोटना पड़ा था। सरल निरीह और भोली-भाली गोपियों के अनन्य कृष्ण-प्रेम के समक्ष उन्हें निरुत्तर होना पड़ा था। इसीलिए कि गोपियों ने शास्त्र नहीं पढ़ा था, उसके झाड़-झंखाड़ में अपने को उलझाने का प्रयत्न नहीं किया था। उन्होंने हृदय से प्रेम किया था—प्रेम का कोई शास्त्र नहीं होता है, न उसकी भाषा होती है। प्रेम की एक ही भाषा है एक ही शास्त्र है—मुक्तता। मुक्तभाव से बिना किसी पूर्वग्रह, पूर्वधारणा और प्रतिपत्तियों के प्रेम किए चलना। न प्रतिदान का भाव, न अपने अहं के प्रदर्शन की इच्छा—इतना मुक्त कि उसमें प्रेमी ही समा पाए और की गति नहीं हो—**'प्रेमगली अति साँकरी तामें दो न समाहिं।'** प्रेमानुभूति हो गई तो फिर ज्ञान अपने आप हो जायगा—उसके साथ खिंचा चलेगा। भगवान् राम ने उनके जानने वालों को एक ही मन्त्र पढ़ाया— **रामहिं केवल प्रेम पियारा, जानि लेहु जेहि जानन हारा।'** प्रेम के वशीभूत हो, जो जानना चाहे, जान ले, कोई विधि निषेध नहीं।

पग पग पर कठिनाई होती है - धर्म सङ्कट उपस्थित होता है—क्या करणीय और क्या अकरणीय। कारण, वेद भिन्न-भिन्न, श्रुतियाँ भी अलग-अलग, किसी मुनि के वाक्य को प्रमाण मानकर भी नहीं चला जा सकता। तब एक ही उपाय बच जाता है—जो मुक्त हैं, महाजन हैं, उनके मार्ग का अनुगमन—**'महाजनो येन गतः स पंथाः।'** यदि श्रुति या वेद का अनुपालन होगा, तो सम्भव है वह एकाङ्गी हो और एकाङ्ग से सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। अन्धों ने हाथी के अङ्गों का निरीक्षण किया था और अपने मतानुसार वे ठीक थे, पर उससे हाथी के सत्य का पता कहाँ चलता था। बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

अजौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत एक अङ्ग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुक्तन के सङ्ग॥

तरचौना नामक अलङ्कार कान (श्रुति-वेदशास्त्र) मात्र में जीवन भर झूलता रहा। और आज तक हू 'तरचौना' (जो नहीं तर सका, जिसका उद्धार नहीं हो सका) ही रहा और बेसर ने मुक्ता (मणि और मुक्तजन) का साथ पाकर नाक (शरीर का सर्व प्रतिष्ठित अङ्ग, स्वर्ग का पर्याय) में सदा के लिये वास पाया। अतएव, जीवन में शास्त्रीय ज्ञान की जितनी अपेक्षा है, उससे अधिक जरूरत मुक्तजनों के सत्सङ्ग द्वारा शास्त्र को पचाकर अपना बनाने की है। पंडित शास्त्रीय ज्ञान यहाँ वहाँ से उधार लेकर पांडित्य प्रदर्शन करते हैं, पर मुक्तजन अनुभूति से सम्पन्न रहते हैं और उनका संपूर्ण जीवन स्वयं साधना होती है, उनकी क्रियाएँ भागवत धर्म हैं। अतएव बिना दोनों के सामञ्जस्य और समन्वय के हमारा कल्याण सम्भव नहीं है।

सदस्यों को सुविधा

श्रीहरिनाम १९८३ का वार्षिक शुल्क १२) रुपये आप जमा करा सकते हैं—

जयपुर में —	श्रीरामेश्वरदास जी टाटीवाला, गोपाल जी का रास्ता, जयपुर.
सागर में—	श्रीगुलावचन्द जी गुप्त C/o नारायण होटल लक्ष्मीपुरा वार्ड सागर
चण्डीगढ़ में—	श्री ए० के० भारद्वाज म० न० 1666, सैक्टर 23-B चण्डीगढ़
धनवाद में—	पं० श्रीगोपाल जी व्यास C/o श्रीजीवन जी आ० कवि समय सेवा, बैंकमोड़, पो० धनवाद.

★

साधक ! सावधान !!

★

- उपासना का प्राण है भाव ; भाव दो प्रकार का है—(१) तदीयतामय, (२) मदीयतामय ।
- तदीयतामय अर्थात् ' मैं आपका हूँ" इस में एक इष्ट को आत्म-समर्पण लक्षित होता है ।
- मदीयतामय अर्थात् "आप मेरे हैं" ऐसा भाव भी एक इष्टदेव में युक्ति-युक्त है—दो में नहीं ।
- एक से अधिक उपास्यों में भाव की व्यभिचारिता सिद्ध होती है ।
- दो नावों पर पाँव रखने वाला व्यक्ति जैसे नदी से पार नहीं जा सकता, उसी प्रकार एक से अधिक इष्टदेव में तदीयता या मदीयता भाव रखने वाला उपासक परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकता ।
- 'गङ्गा गये गङ्गादास" और "यमुना गये यमुनादास' वाली रङ्गबदलू नीति उपासना में सदा त्याज्य है ।
- अतः एक इष्टदेव की उपासना में ऐकान्तिकी निष्ठा का पोषण करना हर साधक के लिये परमावश्यक है ।
- ऐकान्तिकी निष्ठा के लिए अपने इष्ट की स्मृति को उनके नाम-कीर्त्तन - गुण श्रवण जल से सींचते रहना अनिवार्य है ।
- ऐकान्तिक भक्त ही वास्तव में शरणापन्न होता है ।
- शरणागत भक्त अपने को श्रीभगवान् के हाथों बेच देते हैं, अतः उनका समस्त भार श्रीभगवान् ही सम्भालते हैं ।
- समस्त भक्ति-अङ्गों का मूल शरणागति है ।
- शरणागति का प्राण है ऐकान्तिक-निष्ठा ।
- एकनिष्ठ-भक्तों के सङ्ग से ऐसी निष्ठा प्राप्त होती है ।

ऐसी पुस्तक कभी मत पढ़ो जिससे विषय का लालच बढ़े और पाप में मन जाय, चाहे उसका नाम शास्त्र ही क्यों न हो। बिषयों से मन को हटाने और पाप से बचाने की शिक्षा देने वाली पुस्तक पढ़ो, ऐसी ही बातें सुनो और ऐसे ही स्थान में रहो।

कल्याण-कुंज (शिव) भाग-१, पृष्ठ ४४



डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड

डालमियापुरम-६२१ ६५१ (तमिलनाडु)

मुख्य कार्यालय—हंसालय (११वां एवं १२ वां माला)

१५-बाराखम्भा रोड, नई दिल्ली-११० ००१

'राकफोर्ट' सिमेंट के निर्माता

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत मृत्युम् ॥

श्रीभागवत ५।५।१८॥

जो संसार-बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकता, वह गुरु गुरु नहीं, स्वजन स्वजन नहीं, वह पिता पिता नहीं, माता माता नहीं, वह देवता देवता नहीं, पति पति नहीं। एक मात्र हितकारी बान्धव वह है, जो आवागमन के चक्र से बचाता है।

::

पंजाबी चन्दू हलवाई कराचीवाला
185 बालकेश्वर रोड
तीन बत्ती, बम्बई—400006.

:*:

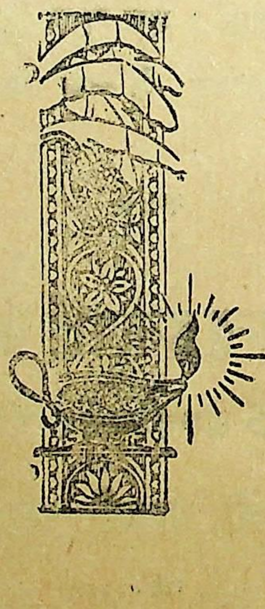
With Best Compliments From :
Mehra Ferro Alloy
KASHMIR ROAD
P.O. VERKA (AMRITSAR)

★

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वत्यकेनापि हन्यते ।
ग्राहोउत्पीयानदि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥

"One out of his place is vanquished cven by an insignificant foe. An alligator, although very small, drags even the king of elephants under the water,"

—Kamandaki



Orissa Cement Limited

RAJGANGPUR (ORISSA)

Manufacturers of 'KONARK' Brand Cement, Special Cement, Quality Refractories, Soda Ash and Ammonium Chlorids.

वैष्णव-व्रतोत्सव

दिनांक १ से ३१ जनवरी, सन् १९८३

९ जनवरी	रविवार	एकादशी	एकादशी-व्रत
१४ जनवरी	शुक्रवार	अमावस्या	अमावस्या
१७ जनवरी	सोमवार	तृतीया	श्रीपाद जीवगोस्वामी तिरो० महो० (श्रीराधादामोदर, मन्दिर)
२५ जनवरी	मंगलवार	एकादशी	एकादशी-व्रत

श्रीमन्महाप्रभु का श्रीवृन्दावनागमनोत्सव

प्रतिवर्ष की भाँति श्री अमिय निमाई गौराङ्ग मन्दिर, वृन्दावन में २८ नवम्बर से १ दिसम्बर तक श्रीमन्महाप्रभु का यह महोत्सव मंगलघट-स्थापन, भक्तिशास्त्र पारायण, नगर सङ्कीर्त्तनादि आयोजनों से पूर्ण समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। बाबा श्रीरामदास जी महाराज का शिष्य मण्डल काफी संख्या में इस बार सम्मिलित हुआ। उत्सव परिचालक थे—आचार्य श्रीविश्वम्भर गोस्वामी जी।

श्रीराधामाधव सङ्कीर्त्तन मण्डल, बरेली - का बारहवाँ वार्षिक श्रीहरिनाम संकीर्त्तन सम्मेलन २२ से २८ नवम्बर तक धूम धाम से मनाया गया। भारतवर्ष के अनेक सन्त महान्त, गोस्वामी-आचायवृन्द ने तथा रासमण्डली ने भाग लिया। नगर संकीर्त्तन, गोपाष्टमी मेला, प्रभात फेरी आदि अनेक आकर्षक कार्यक्रमों में असंख्य जनता ने धर्म लाभ उठाया।

पूज्यपाद श्रीवासुदेवशरण जी महाराज की अध्यक्षता में दमोह, खुरई तथा सागर नगर में श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन सम्मेलन, अन्नकूट महोत्सव तथा सत्संग आयोजन हुए। भोपाल में गोपाष्टमी-महोत्सव मनाया गया। उस प्रान्त के लोगों ने दूर-दूर से इन आयोजनों में शामिल होकर श्रीमन्महाप्रभु के नाम-गुण-लीला-कथा का अपूर्व रसास्वादन किया।

श्रीहनुमत् जयन्ती समारोह, समिति, नवादा में ५ से १३ नवम्बर तक श्रीहनुमत् जयन्ती तथा ज्ञान यज्ञ के अन्तर्गत मानस-पारायण, नामसङ्कीर्त्तन, विद्वद्जन-प्रवचन उपदेश के साथ बाबा निरंकारदास जी महाराज द्वारा श्रीहनुमत् चरित्र पर सरस, सारगर्भित प्रकाश डाला गया।

★

पतितन के हित आये

—पूज्यपाद श्रीविरही जी

अधमन के हित आये गौरा, पापिन के हित आये ।
दीनन के हित आये गौरा, पतितन के हित आये ॥
छल-छल दोनों नयना बरसें, प्रकट हर विरह हरि गाये ।
दोऊ भुजा उठाये बुलाये, दीन जनहिं उर लाये ॥
जिन दर्शन को देवा तरसैं बार-बार शिर नाये ।
ऐसे हरि प्रकटे भूतल पै, मूरख जान न पाये ॥
जगाई-माधाई पतित उधारे, यवन अधम अपनाये ।
बन के पशुन कराये कीर्त्तन, बाघन को नचवाये ॥
राधा - नाम - धाम प्रकटाये, अपनो रस लुटवाये ।
धन्य धन्य कलि धन्य है 'विरही' अद्भुत लीला गाये ॥

★

श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल के लिए
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन द्वारा मुद्रित।

श्रीहरिनाम

प्रेषक—
श्रीहरिनाम कार्यालय, बाग-बुन्देला, वृन्दावन,
(मथुरा) उ० प्र०

ग्राहक सं० 2052

सेवा में

Shri Amarnath Anand
141- Kachi Chhawni
P.O Jammu Tawi
(Kashmir)

❀ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ❀

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक !
मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र ! कुरु गोविन्द—कीर्त्तनम्॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
ते पुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृह्णन्ति ये ते॥❀

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, फरवरी १९८२ { अंक २

वसन्त

नवल वसन्त नवल श्रीवृन्दावन नवलहिं फूले फूल।
नवलहि कान्ह नवल सब गोपी निरतत एकै तूल॥
नवलहि साखि जवादि कुमकुमा नवलहिं वसन अमूल।
नवलहि छींट बनी केसर की मेटत मनमथ शूल॥
नवल गुलाल उड़ै रंग बूक्का नवल पवन के झूल।
नवलहिं बाजै बाजत 'श्रीभट्ट' कालिन्दी के कूल॥

❀ हे नरनायक ! सांख्य (आत्म एवं अनात्म ज्ञान) तथा अष्टांग योगादि को क्या करोगे हे राजेन्द्र ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो 'श्रीगोविन्द' नाम का कीर्त्तन करते रहो। हे भगवन् ! जिसकी जिह्वा के अग्रभाग पर आपका नाम विराजता है, वह चण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ है। जो आपका नाम-सङ्कीर्त्तन करता है, उसने तपस्या, यज्ञ, तीर्थ-स्नान एवं समस्त सदाचारों का आचरण कर लिया है और उसने समस्त वेद अध्ययन कर लिए हैं।

श्रीहरिभक्तिविलास ११/१८७-८८॥

श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचितम्
श्रीप्रेमसुधा-सत्राख्यं
श्रीवृन्दावनेश्वरी-नामाष्टोत्तर शतनाम-स्तोत्रम्
(पूर्व क्रमागत)

अथाभिसारिकात्वाद्यवस्थाभिर्नामान्याह—

श्यामलप्रच्छदपटी मूकनूपुरधारिणी ।
निकुञ्जधाम - संस्कारमाधवाध्वेक्षण - क्रिया ॥३४॥

अब अभिसार के समय की पूर्वास्था के नामों का वर्णन करते हैं
९०. अभिसारके समय आप श्याम रङ्गकी ओढ़नी धारण करने वाली हैं। ९१.
नूपुर धारण करने वाली हैं, जो शब्द नहीं करते। ९२. चन्द्रातपादिक से सजे
निकुञ्ज-भवन के द्वार पर आकर आप श्रीमाधव की राह तकने वाली हैं ॥३

प्रादुर्भूत - घनोत्कण्ठा विप्रलम्भविषण्णधीः ।
प्रातरुत्प्रासितोपेन्द्रा चन्द्रावलिकटाक्षिणी ॥३५॥

९३. श्रीकृष्ण के आने पर आप उत्कण्ठित होने वाली हैं। ९४. श्रीकृ
को आने में विलम्ब हो जाने से आप खिन्न-मति हो जाने वाली हो। ९५. प्रा
काल में श्रीकृष्ण के आने पर आप मुसकराते हुए उनकी भर्त्सना करने वाली
९६. (जिस रमणी में तुम्हारा मन निविष्ट हो रहा है और रातभर जिसके पा
रहने से इतनी देर में सवेरे आकर मेरे पास आए हो, वह क्या तुम्हें सुख भी दे
जानती है ? इस प्रकार) आप चन्द्रावली पर कटाक्ष करने वाली हैं ॥३५॥

अनाकर्णितकंसारिकाकुवादा मनस्बिनी ।
चाटुकार — हरित्यागजातानुशयकातरा ॥३६॥

९७. आप श्रीकृष्ण की वक्रोक्ति को तो सुनती ही नहीं हो। ९८. प्रे
गर्व से आपका मनोवल अति उच्च है। ९९. अतिशय अनुनय-विनय करने पर
श्रीकृष्ण का आप त्याग करने वाली हो एवं फिर पश्चाताप कर कातर हो जा
वाली हो ॥३६॥

धृतकृष्णेक्षणौत्सुक्या ललिताभीतिमानिनी ।
विप्रयोगव्यथाहारिहरि — संदेशनन्दिता ॥३७॥

१००. श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए आप सदा उत्सुक रहने वाली हैं। १०१. मान के भङ्ग हो जाने पर भी आप ललिता जी के भय से माननी बनी रहने वाली हैं १०२. विरह-व्यथा हरणकारी श्रीहरि द्वारा मिलन के सन्देश को पाकर आप आनन्दित होने वाली हैं ॥३७॥

मदाल्प जल्पिताधीन - पुण्डरीकाक्ष-मण्डिता।
भ्रूलीलामोहितोपेन्द्र - हस्ताग्रहृतवंशिका ॥३८॥

१०३. तारुण्य के मद के कारण आप थोड़ी सी जल्पना (धमकी) से भी कमलनयन श्रीकृष्ण को अपने अधीन कर लेने वाली हैं। १०४. भ्रुकुटि-विलास से आप श्रीकृष्ण को मोहित करने वाली हैं और उनके हाथ से उनकी वंशी को छुड़ा लेने वाली हैं ॥३८॥

अतुलाच्युतमाधुर्यस्वादनाद्वैतभाग्यभूः ।
नियुद्ध - श्रान्तिनिद्राण - हरिहारापहारिणी ॥३९॥

१०५. श्रीकृष्ण के अतुल माधुर्य-आस्वादन करने में आप अनुपम भाग्यशालिनी हो। १०६. रहःकेलि में बाहुयुद्ध में श्रांत होकर जब श्रीकृष्ण निद्रा में होते हैं तब आप उनके हार को चुरा लेने वाली हो ॥३९॥

द्यूतनिर्जित - वंशार्थि कंसारि - परिहासिनी।
निज प्राणार्बुद - प्रेष्ठकृष्णपादनखाञ्चला ॥४०॥

१०७. द्यूत-क्रीड़ा में हारी हुई वंशी की याचना करने वाले श्रीकृष्ण का परिहास करने वाली हो। १०८. अपने कोटि प्राणों से श्रीकृष्ण के चरण-नख-चन्द्रों की आप आराधना करने वाली हैं ॥४०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण श्रीराधा के १०८ नामों का जप कर रहे हैं—सखी ने कहा।

कृष्णकर्तृकस्य नामजपस्य फलमाह—

इति राधा सखीवाचमाचम्य पुलकाञ्चिता।
छद्मना पद्मनाभस्य लतासद्मान्तिकं गता ॥४१॥

श्रीकृष्ण द्वारा उपर्युक्त राधानाम जप का फल कहते हैं—

इस प्रकार सखी के यह वचन सुनकर कि श्रीकृष्ण व्याकुल होकर आप के नामों का जप कर रहे हैं, श्रीराधा जी पुलकित हो उठीं और पुष्प-चयन का बहाना करके जहाँ श्रीकृष्ण अवस्थान कर रहे थे, वहाँ लतागृह के पास चली गईं—श्रीकृष्ण का वाञ्छित पूर्ण किया ॥४१॥

स्तोत्रपाठफलमाह—

यः सेवते जनो राधानाम्नामष्टोत्तरं शतम्।
नाम्ना प्रेमसुधासवं लिह्यात्प्रेमसुधागसौ ॥४२॥

इस स्तोत्र-पाठ का फल कहते हैं—जो व्यक्ति उपर्युक्त श्रीराधानामाष्टोत्तर-शतनामों का पाठ करता है, वह इस प्रेमसुधा सत्राख्य स्तोत्र के प्रेमसुधारस का आस्वादन करता है माधुर्य अनुभव करता है ॥४२॥

साधक ! सावधान

□

- भक्तों को 'भागवत' कहते हैं। भागवत नाम श्रीमद्भागवत शास्त्र का भी
- भागवत-शास्त्र से श्रीभगवान् के रूप-गुण-लीलादि वर्णन द्वारा शुद्ध भक्ति प्रतिपादन करने वाले शास्त्र भी अभिप्रेत हैं।
- भक्ति-शास्त्रों का पाठ करने से पहले उनके रचयिता का ध्यान एवं उन कृपा-प्रार्थना करनी चाहिए।
- भागवत अर्थात् भक्त वे हैं, जो भक्तिरस के पात्र हैं।
- भक्तिरस के पात्र वे हैं, जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को त्यागकर केवल प्रेम-भ को परम-पुरुषार्थ मानते हैं।
- परम-पुरुषार्थ या कृष्ण-प्रेम की दीक्षा-शिक्षा देने वाले भागवत या भक्त वास्तव गुरु हैं।
- ऐसे श्रीगुरु–श्रीभगवान् के परम-प्रिय भक्त होने से श्रीभगवान् के स पूजनीय हैं।
- श्रीभगवान् की अनुग्रह-शक्ति तथा गुरु-शक्ति की तादात्मता प्राप्त करने से भागवतजन 'गुरु' शब्द के वाच्य हैं। अतः श्रीगुरुचरण का आश्रय लेने व ही भगवत्-कृपा को प्राप्त करते हैं।
- श्रीगुरु स्वरूपतः भक्त-तत्त्व हैं, उपास्य-तत्त्व केवल श्रीभगवान् हैं।
- शास्त्र तथा युक्ति में निपुण और उपास्य-तत्त्व श्रीभगवान् में दृढ़-निष्ठ ही गुरु-योग्य हैं।
- अन्तर्यामी–परमात्मा भी समय-समय पर भलाई-बुराई का ज्ञान कराने होने से जीव के गुरु माने गए हैं।
- अन्तर्यामी परमात्मा साक्षात्-भाव से किसी जीव को शिक्षा नहीं देते।
- जीव को साक्षात्-भाव से शिक्षा प्रदान करने के कारण परम भागवत-रूप का महत्व है।

भक्ति करता है, यदि भजन परिपक्व होने से पहले ही उसका पतन हो जाता है—विघ्न-बाधा के कारण अथवा शरीर-पात हो जाने से भजन छूट जाता है तो भी उसका अमङ्गल कभी भी कहीं नहीं होता। (अनुच्छेद ५८ एवं श्लोक ३९ द्रष्टव्य)।

श्रीमद्भगवद्-गीता (१८।६६) में श्रीभगवान् ने कहा है—हे अर्जुन ! तुम समस्त धर्मों को त्यागकर एकमात्र मेरे शरणापन्न हो। मैं तुम को समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा, किसी प्रकार की चिन्ता मत करो ॥४६४॥

श्रीगीता के इस वचन का तथा श्रीभागवत (११।५।४१) के देवता, महर्षि, भूतादि (श्लोक नं० ४६१) वचन का समान अर्थ ही दीखता है। इसलिए भक्ति के प्रारम्भ से ही स्वरूपतः कर्मों को त्याग कर देना ही उचित है। 'परित्यज्य'—पद में 'परि'—शब्द का यही अर्थ जानना चाहिये। श्रीगीता (१८।६५) में श्रीभगवान् ने—"हे अर्जुन ! तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर'—इन वचनों से अनन्या भक्ति का ही उपदेश किया है। गौतमीय तन्त्र में भी कहा गया है—

जो निरन्तर अनन्य-भाव से श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का ध्यान-स्मरण करते हैं, उनके लिए और किसी प्रकार का जप, अर्चन, ध्यान तथा कर्मों का नियम कर्त्तव्य नहीं है ॥४६५॥

विष्णु-पुराण (२।१३।९-१०) में भी राजा भरत के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है कि- हे मैत्रेय ! वह राजा केवल मात्र "हे यज्ञेश ! हे अच्युत ! हे गोविन्द ! हे माधव ! हे अनन्त ! हे केशव ! हे कृष्ण ! हे विष्णो ! हे हृषिकेश !"—इस प्रकार नाम सङ्कीर्त्तन करते थे। स्वप्ने में भी वह और कोई शब्द उच्चारण न करते थे ॥४६६-४६७॥

यहां यह जानना चाहिये कि राजा भरत को दूसरा वचन उच्चारण करने का अवकाश ही नहीं था। अतः अन्य वचनमय कर्म का भी यहां परित्याग स्वीकृत हुआ है। यदि कभी अन्य कर्म दैववश अनुष्ठित होता था, वह भी भगवन् - नाम सहित ही अनुष्ठित होता था। इसलिए नाम-नामी के प्रति हर समय दृष्टि रहने के कारण उसको शुद्ध भक्ति ही स्वीकार किया गया है।

जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है—सर्वधर्म रहित केवल मात्र विष्णु नाम उच्चारण करने वाला व्यक्ति जिस गति को अनायास प्राप्त कर लेता है, अन्य समस्त धर्मों को करने वाले व्यक्ति उस गति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ॥४६८॥

गोपालतोषणी टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद में शुद्ध ज्ञान एवं केवल भक्ति के अनुष्ठान की व्यवस्था वर्णन की गई है, साथ ही श्रुति-स्मृति शास्त्रों में ज्ञानी एवं भक्ति साधक के लिए नित्य-नैमित्तक कर्मों को भी अवश्य पालन

करने का आदेश दिया गया है। इस अवस्था में ज्ञान एवं भक्ति के साथ मिश्रित होने से शुद्ध ज्ञान अथवा शुद्ध भक्ति का आचरण कैसे सम्भव हो स है ? इसके लिए "तावत कर्माणि कुर्वीत" श्लोक में श्रीभगवान् ने ज्ञानी भक्तों की कर्माधिकारिता का निषेध किया है। ज्ञानी के लिए पूर्णतः नि अवस्था तथा भक्त के लिए भगवद्-कथादि में पूर्णतः श्रद्धा प्राप्त करने के कर्मों का अधिकार नहीं रह जाता। ऐसा भगवद् आज्ञा होने से इसमें श्रु स्मृति की आज्ञा उलङ्घन का भी दोष नहीं रहता। श्रीभगवान् की शरणा के बाद समस्त प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मूल धर्मों का त्याग ही शास्त्र वि करता है। समस्त पापों से तथा देव-ऋषि आदि समस्त ऋणों से भगवत् शर गति मुक्त कर देती है।

पहले तो भक्ति साधक या शरणागत व्यक्ति में पापों या दुरा की प्रवृत्ति होने की कोई सम्भावना हो नहीं रहती; दैववश कोई शास्त्र वि कर्म भक्त से घटित हो भी जाए तो भी उस पाप की निवृत्ति के लिए और कोई प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि उसके हृ में सदा विराजमान रहने वाले श्रीभगवान् स्वयं ही उस मलिनता का डालते हैं। भक्ति आचरण से अपने–आप उसका आनुषङ्गिक रूप में प्रायश्चि हो जाता है। यहां तक कि उस शरणागत भक्त के लिए उस विकर्म के लि पश्चाताप करना भी नहीं बनता। केवल श्रवण-कीर्त्तन ही सदा आचरणीय है

तस्मान्मतान्तरेणाप्युपचितः श्रद्धावतोऽनन्यभक्त्यधिकारः कर्माद्यन कारश्चेति। किन्तु श्रद्धासद्भाव एव कथं ज्ञायते इति विचार्य्यम्। तत्र च लि त्वेन पूर्व पूर्व्वं शरणापत्तिरुपदिष्टैव। यस्याञ्च शरणापत्तौ वक्ष्यमाणानि "आ कूल्यस्य संकल्पः" इत्यादीनि लिंगानि। तथा व्यवहार-कार्पण्याद्यभावोऽपि श्र लिंगं ज्ञेयम्। शास्त्रं हि तथैव श्रद्धामुत्पादयति, (गी० ९।२२) —

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥४९९॥इत्यादि

किञ्च, श्रद्धावतः पुरुषस्य भगवत्सम्बन्धिद्रव्य-जाति - गुण - क्रिया शास्त्र श्रूयमाणेष्वैहिक - व्यवहारिक प्रभावेष्वपि न कथञ्चिदनाश्वा भवति। ततस्तासु प्राकृत - द्रव्यादिसाधारणदृष्टया दोषविशेषानुसन्धानतो कदाचिदप्रवृत्तिः स्यात्। ते च तादृश-प्रभावाः, (बृहन्नारदीये) —

अकालमृत्यु शमनं सर्व्वव्याधिविनाशनम्।
सर्व दुःखोपशमनं हरिपादोदकं शुभम्॥५००॥ इत्यादयः"

केचित्तु तत्र तत्र श्रद्धावन्तोऽपि स्वापराधदोषेण सम्प्रति तत्फ नोदेतीति स्थगितायन्ते। यत्तु (गारुड़े) यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्त शुचिः" इत्यादौ श्रद्धधाना अपि स्नानादिकमाचरन्ति, तत् खलु श्रीमन्नारदव्या सादिसत्परम्पराचारगौरवादेव, अन्यथा तदतिक्रमेऽप्यपराधः स्यात्। ते च त

मर्य्यादां लोकस्य कदर्य्यवृत्त्यादि-निरोधायैव स्थापितवन्त इति ज्ञेयम्। किञ्च, जातायां श्रद्धायां सिद्धावसिद्धौ च स्वर्णसिद्धिलिप्सोरिव सदा तदनुवृत्तिचेष्टैव स्यात्। सिद्धिश्चात्रान्तःकरणकामादिदोष-क्षयकारि-परमानन्दपरमकाष्ठागामि-श्रीहरिस्फुरणरूपैवज्ञेया। तस्यां स्वार्थसाधनानुप्रवृत्तौ च दम्भप्रतिष्ठादिमयचेष्टा-लेशोऽपि न भवति, न सुतरां ज्ञानपूर्व्वकं महदवज्ञादयोऽपराधाश्चापतन्ति, विरोधादेव। अतएव चित्रकेतोः श्रीमहादेवापराधस्तस्य स्वचेष्टान्तरेणाच्छन्नस्वभावस्य भागवतत्त्वाज्ञानादेव मन्तव्यः। यदि वा श्रद्धावतोऽपि प्रारब्धादि-वशेन विषय-सम्बन्धाभ्यासो भवति, तथापि तद्बाधया विषय - सम्बन्धसमयेऽपि दैन्यात्मिका भक्तिरेवोच्छलिता स्यात्, यथोक्तम् (भा० ११-२०-२८)—'जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्" इत्यत्र, (भा० ११।१४।१८) —"बाध्यमानोऽपि मद्भक्त" इत्यादौ च, (गी० ९।३०) अपि चेत् सुदुराचारः" इत्याद्युक्तस्यानन्य-भाक्त्वेन लक्षिता तु या श्रद्धा सा खलु (गी० १७-१) "ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः" इत्यादिवल्लोकपरम्पराप्राप्ता, न तु शास्त्रार्थविधारण-जाता। शास्त्रीय-श्रद्धायान्तु जातायां सुदुराचारत्वायोगः स्यात्। (विष्णुपुराण) "परपत्नीपरद्रव्य" इत्यादि-विष्णुतोषणशास्त्रविरोधात्। (विष्णु धर्मे) मर्य्यादाञ्च कृतां तेन" इत्यादिना तद्भक्तत्वविरोधाच्च। न तु सा दुराचारता तद्भक्तिमहिमश्रद्धाकृतैव, अपि - शब्देन दुराचारत्वस्य हेयत्वव्यञ्जनात्। तथा, (गी० ९-३१) क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति" इत्युत्तरा-प्रतिपत्तेः। "नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिः" इत्यादिनापराधाच्च। ततः सा श्रद्धा न शास्त्रीय-भक्त्यधिकारिणो विशेषणत्वे प्रवेशनीया, किन्तु भक्ति-प्रशंसा-यामेव। तादृश्यापि श्रद्धया भक्तेः सत्त्वहेतुत्वम्, न तु देवतान्तरयजनवत् (गी० १७।१) ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य इत्यादावेवोक्तमन्यादृशत्वमिति। अस्याः श्रद्धायाः पूर्णतावस्था तु ब्रह्मवैवर्त्ते —

किं सत्यमनृतञ्चेह विचारः सम्प्रवर्त्तते।
विचारेऽपि कृते राजन्नसत्यपरिवर्जनम्।
सिद्धं भवति पूर्णा स्यत्तदा श्रद्धा महाफला॥ ५०१ ॥इति॥

तदेवंलक्षणेषु श्रद्धोत्पत्तिलक्षणेषु सत्सु विधीयते, (भा० ११।२०।८)— "यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः" इत्यादि (भा० ११।२०।९) मत्कथाश्रवणादौ वा इत्यादि च। अत एवमनधिकार्य्यधिकारिविषयत्वविवक्षयैव श्रीभगवन्नारदयोर्वाक्ये व्यवतिष्ठते (गी० ३।२६)—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्व्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ ५०२ ॥इति॥

श्रीमद्भागवत (१।५।१५)—

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो, न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥५०३॥इति च

एवमजितवाक्यञ्च तदधिकारिविषयमेव—(भा० ६।६।४६)–

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥५०४॥इति॥

अत्र यद्यप्यधिकारितायां श्रद्धैव हेतुः, सा चाज्ञस्य न सम्भवती नैतत् तद्विषयं स्यात्, तथापि कथमपि प्राचीनसंस्कारवितर्केण तदधिकारित्वनिर्णयान् न दोष इति ज्ञेयम् । अन्यथोपदेष्टुरेव दोषः स्यात्, "अश्रद्धाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः" इति वक्ष्यमाणापराधश्रवणात् । अथ प्रकृतमनुसरामः

अतएव मतान्तर द्वारा भी श्रद्धायुक्त पुरुष का अनन्य भक्ति में अधिकार है और कर्मादिक में अनधिकार है। किन्तु श्रद्धा का सद्भाव या अस्तित्व कैसे जाना जाए, उसका विवेचन करते हैं। इस विषय में पहले शरणापत्ति में ही लक्ष्य रूप में कहा जा चुका है। शरणापत्ति-विषय में बताए गए "आनुकूलस्य सङ्कल्पः" अर्थात् भगवद् भक्तों के अनुकूल विषय का सङ्कल्प ग्रहण करना इत्यादि लक्षण हुआ करते हैं तथा व्यवहारिक व्यापार में भी कातरता का न होना श्रद्धा का लक्षण जानना चाहिये। शास्त्र ही इस प्रकार की श्रद्धा उत्पादन करता है।

श्रीगीता (६।२२) में श्रीभगवान् ने कहा है—जो अनन्य-चित्त कर मेरी उपासना करते है, मैं उन नित्याभियुक्त भक्तों के योग-क्षेम को वहन करता हूँ ॥४६६॥

विशेषतः श्रद्धावान् पुरुष, ऐहिक व्यवहारिक कर्मों के प्रभाव शास्त्रों में सुनकर भी भगवत् सम्बन्धी द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रियाओं के प्रति कभी अविश्वासी नहीं होता। इसलिए उस भक्त का भगवत् सम्बन्धी वस्तुओं में साधारण प्राकृत वस्तुओं के समान ज्ञान रूप दोष-विशेष को देखकर भी कर्म में अप्रवृत्ति या विश्वास नहीं होता है। भगवत्-सम्बन्धी वस्तुओं में उसी प्रकार का वास्तव में प्रभाव रहता है; जैसे कि वृहन्नारदीय पुराण में भगवान् के चरणोदक के सम्बन्ध में कहा गया हैं—

श्रीभगवान् का शुभ-मङ्गलमय चरणोदक अकाल-मृत्यु को नाश करने वाला है, समस्त रोगों को विनाश एवं समस्त दुःखों को शमन करता है ॥५०…

कोई-कोई व्यक्ति श्रद्धावान् होते हुए भी उन भगवत् सम्बन्धी वस्तुओं में अपने अपराध-दोष के कारण तत्काल फल के अभाव को देखकर विरत हो जाते हैं। गरुड़-पुराण में लिखा है—"भगवान् कमल-नयन का जो स्मरण करता है, उसकी बाहरी एवं आन्तरिक पवित्रा सम्पन्न हो जाती है"—इस वाक्य में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति फिर भी स्नानादि करते हैं—(ऐसा क्यों?) ऐसा वे केवल मात्र श्रीनारद-व्यास आदि महत्-पुरुषों के द्वारा प्रवर्त्तित सदाचार के गौरव की रक्षा करने के लिये करते हैं। क्योंकि उस आचरण का उलङ्घन करने से भी अपराध होता है। श्रीनारद-व्यास आदिक ने लोगों

असदाचार को निवारण करने के लिए ही उस प्रकार के समस्त नियमों का विधान किया—ऐसा जानना चाहिये।

श्रद्धा उत्पन्न होने पर सिद्धि एवं असिद्धि—दोनों दशाओं में स्वर्ण-शुद्धि के आकांक्षी व्यक्ति की तरह उस नियम-विधान को सदा पालन करने की चेष्टा ही रहती है। सिद्धि – शब्द से यहां अन्तःकरण स्थित कामादि दोषों को नाश करने वाली परमानन्द को पराकाष्ठा स्वरूप आगामी श्रीकृष्ण-स्फूर्ति ही समझनी चाहिये। उस निरन्तर हरि-स्फूर्ति अवस्था में अपने प्रयोजन साधन की अनुकूल प्रवृत्ति में भी भय, दम्भ, प्रतिष्ठादि चेष्टा का लेशमात्र भी नहीं होता। इसलिए बुद्धि-पूर्वक महत्‌जनों को अविज्ञा का जो अपराध है वह भो नहीं होता, क्योंकि इन दोनों विषयों में विरोध है। इसलिए चित्रकेतु का जो श्रीमहादेव के प्रति अपराध हुआ था, वह उसको स्वाधीन चेष्टा द्वारा भक्त-स्वभाव के ढक जाने से तथा उसके फलस्वरूप भगवत् तत्त्व के अज्ञान के कारण ही मानना चाहिये। यद्यपि श्रद्धावान् व्यक्ति में भी प्रारब्धादिवश विषय-सम्बन्ध का अभ्यास या अनुशीलन हो उठता है, तथापि भक्ति में बाधा होने से विषय के साथ सम्बन्ध होने के समय भी दैन्यात्मिका भक्ति उच्छलित हो उठती है। जैसे कि श्रीभागवत (११।२०।२८) में श्रीभगवान् ने कहा है—

"भक्त समस्त विषयों का भोग करता है, किन्तु उनके फल को दुःख-मय जानकर अपने को धिक्कार भी करता रहता है। (श्लोक ४८२ द्रष्टव्य)। श्रीभागवत (११।१४।१८) में भी कहा है—"मेरा भक्त विषयों द्वारा आकृष्ट होते हुए भी भक्ति के प्रभाव से उनके वशीभूत नहीं होता। (श्लोक ३०५ द्रष्टव्य)

श्रीगीता (९।३०) में जो यह कहा है कि—"यदि कोई सुदुराचारी भी अनन्यभाव से मेरी भक्ति करता है"—इत्यादि (श्लोक ३०४ द्रष्टव्य) इस वचन में अनन्यभाव का उपासक होने से वह श्रद्धा लक्षित हो रही है, किन्तु श्रीगीता (१७।१) में जिसका वर्णन हुआ है कि—"जो लोक शास्त्र विधि का परित्याग करके श्रद्धायुक्त हो पूजन करते हैं[1]। उस तरह की श्रद्धा लोक परम्परा प्राप्त है, वह शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य-निश्चय से उत्थित श्रद्धा नहीं है; क्योंकि शास्त्रीय श्रद्धा जिसके हृदय में उत्थित होती है, वह कभी भी दुराचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है—जो व्यक्ति परपत्नी, पराये द्रव्य एवं परायी हिंसा में बुद्धि या प्रवृत्ति नहीं रखता, वह ही विष्णु-भक्त है। (श्लोक ४८६ द्रष्टव्य) दुराचार से विष्णु-सन्तुष्टि सम्पादन करने में शास्त्रों का विरोध है।

विशेषतः विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है कि जो व्यक्ति भगवान् की बताई हुई मर्यादा या नियम का उलङ्घन करता है, वह कभी भी विष्णु-भक्त नहीं कहला सकता। (श्लोक ४८७ द्रष्टव्य) अतः नियम-मर्यादा के उलंघन

१—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः॥

में भगवद्-भक्तत्व का विरोध है। वह दुराचारता भगवद्-भक्ति की महिमा के प्रति विश्वास से भी उत्थित नहीं है।

'अपि'—शब्द से दुराचारता का हेयत्व या त्याग ही जनाया गया है। 'अपिचेत' आदि श्लोक से अगले श्लोक (गीता ९।३१) में कहा है—"कि वह दुराचारी, जो अनन्यभाव से मेरी भक्ति में लगा हुआ है, शीघ्र ही धर्म-जीवन होकर अर्थात् दुराचार-रहित होकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है।" इस वचन से भी दुराचार का हेयत्व ही प्रतिपादन किया गया है। भक्ति की महिमा जानकर यदि कोई दुराचार में प्रवृत्त होता है तो "श्रीनाम के या भक्ति के बल पर जिस की पाप बुद्धि है, उसका तो यमराज के पास भी इलाज नहीं है"-यह अपराध घटित होता है। अतः वह लोक - परम्परा प्राप्त श्रद्धा भक्ति के शास्त्रीय अधिकारी के विशेषण रूप में ग्रहणीय नहीं है किन्तु भक्ति की प्रशंसा या महिमा के रूप में ग्रहणीय है। उस परम्परा प्राप्त श्रद्धा से भक्ति सत्त्वगुण-साधुता का कारण हो सकती है। किन्तु (गी० १७।१) "जो शास्त्र विधि उल्लंघन-पूर्वक (स्वेच्छा पूर्वक) यजन करते हैं, वे सिद्धि, सुख व परमगति को प्राप्त नहीं कर सकते" इत्यादि वचनानुसार अन्यान्य देवताओं के पूजन की तरह उनका यजन निरर्थक नहीं होता, किन्तु उसी प्रकार उस लौकिक श्रद्धा से अनन्य भक्ति-पूर्वक भगवत् प्राप्ति नहीं होती।

श्रद्धा की परिपूर्ण अवस्था का ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में इस प्रकार वर्णन किया गया है—हे राजन् ! इस लोक में जो कुछ वर्त्तमान है, उस में क्या सत्य है और क्या असत्य ?—इस बात का विचार उपस्थित होता है। विचार करने पर भी जो वस्तु असत्य निश्चित होती है, तब उस का त्याग कर दिया जाता है, तब सत्य वस्तु के प्रति महा फलदायिनी श्रद्धा पूर्णता लाभ करती है ॥५०१॥

इस प्रकार श्रद्धा के उत्पत्ति लक्षणों के वर्त्तमान होने के कारण श्रीभागवत (११।२२।२) में कहा गया है कि—"जो व्यक्ति यदृच्छा क्रम से मेरी कथादिक में श्रद्धायुक्त होता है" इत्यादि। श्रीभागवत (११।२०।९) में कहा है कि—"जब तक मेरी कथा-श्रवण आदि में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती"—इत्यादि। ऐसा विधान किया गया है। अतएव इस प्रकार अनधिकारी एवं अधिकारी का विषय वर्णन करने के लिए श्रीभगवान् तथा श्रीनारद के वचनों की व्यवस्था है। श्रीभगवान् ने श्रीगीता (३।२६) में कहा है—

विद्वान् व्यक्ति को कर्मों में आसक्त अज्ञानी लोगों में बुद्धि-भेद पैदा नहीं करना चाहिये। बल्कि स्वयं कर्मों का आचरण करके उनमें कर्म करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करना चाहिये ॥५०२॥

१—क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

श्रीमद्भागवत (१।५।१५) में श्रीनारद जी ने श्रीव्यासदेव जी के प्रति कहा है—संसारी लोग स्वभाव से ही विषयों में फँसे हुए हैं। धर्म के नाम पर आपने उन्हें निन्दत पशु–हिंसायुक्त सकाम काम करने की भी आज्ञा दे दी है, यह बहुत ही उल्टी बात है, क्योंकि मूर्ख लोग आपके वचनों से पूर्वोक्त निन्दित कर्मों को ही मुख्य धर्म मान बैठेंगे और उसके निषेध करने वाले वचनों को नहीं मानेंगे ।।५०३।।

इसी प्रकार अजित भगवान् के वचन भी अधिकारी व्यक्ति के सम्बन्ध में श्रीभागवत (६।६।४८) में कहे गये हैं—

जो स्वयं परम मङ्गल को जान चुके हैं, वे कभी भी अज्ञानी पुरुषों को प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश नहीं करते। रोगी तो कुपथ्य चाहता है, परन्तु सद्वैद्य उसे कभी भी खाने नहीं देता ।।५०४।।

यहां यद्यपि अधिकार विषय में श्रद्धा ही कारण रूप कही गई है, और वह श्रद्धा मूर्खजनों के लिए असम्भव है, इसलिए वे अधिकार से वञ्चित हैं, तथापि किसी प्राचीन संस्कार को जानकर उनके अधिकार का निर्णय करते हुए उन्हें उपदेश देने में कोई दोष नहीं है—ऐसा जानना चाहिये। अन्यथा श्रद्धा-हीन पुरुष को उपदेश करने वाले को ही दोष लगता है। क्योंकि श्रद्धाहीन विमुख एवं सुनने की इच्छा रहित व्यक्ति को उपदेश देना 'नामापराध' माना गया है। अब हम प्रकृत विषय की आलोचना करते हैं।

गोपालतोषणी टीका—भक्त के लिए समस्त कर्मों के त्याग की शर्त्त है श्रीभगवद्–विषयक श्रद्धा—"मत्कथा श्रवणादौ श्रद्धा यावत् न जायते।" श्रीगीता में श्रीभगवान् ने कहा है—"समस्त धर्मों को त्याग कर तु मेरी शरण में आ"। अर्थात् श्रद्धा एवं शरणागत्ति प्राप्त होने पर फिर नित्य-नैमित्तक कर्मों में साधक का अधिकार या कर्त्तव्य नहीं रह जाता। वास्तव में श्रद्धा और शरणापत्ति एक ही अर्थवाचक हैं। शरणापत्ति एक लक्षण है भगवान् में श्रद्धा उत्पन्न होने का। शरणापत्ति के लक्षण 'श्रीहरि-भक्ति-विलास' में इस प्रकार वर्णन किए गए हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्ज्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप - कार्पण्ये षड़विधा शरणागतिः ।।

१—भगवद्भक्तों के अनुकूल–विषय को व्रतरूप ग्रहण करना, २—उनके प्रतिकूल–विषय का त्याग, ३— "श्रीभगवान् मेरी रक्षा करेंगे" ऐसा दृढ़ विश्वास, ४—रक्षाकर्त्ता रूप में केवल श्रीभगवान् को वरण करना—उनका आश्रय ग्रहण करना, ५—श्रीभगवान् को आत्म-समर्पण करना तथा ६—भगवत्-चरणों में प्रार्थना-आर्ति ज्ञापन करना—ये छः लक्षण शरणागत-भक्त में हुआ करते हैं।

विशेषत: व्यवहारिक व्यापार में कातरता का न होना भी श्रद्धा लक्षण है, क्योंकि उस प्रकार की श्रद्धा शास्त्र उत्पन्न करता है। श्रद्धाव पुरुष भगवत् सम्बन्धी हर वस्तु में विश्वास रखता है। भगवत् चरणोदक वत् प्रसादादि आपात दृष्टि से साधारण वस्तुएँ दीखते हुए भी श्रद्धावान् पु उन्हें चिन्मय ही जानता है।

श्रीभगवन्नाम का स्मरण अन्दर-बाहर की पवित्रा साधित करता श्रद्धावान् का इसमें पूर्ण विश्वास हाता है, फिर भी प्राचीन महत् पुरुषों के द्वा जो मर्यादा-नियम स्थिर किए गए हैं, उनके अनुसार वह स्नानादि करता ही क्योंकि महापुरुषों द्वारा स्थापित नियमों का उलंघन करना अपराध है। स्व को साफ करने वाला पुरुष जैसे बार-बार उसे तपाता है, उसी प्रकार जिन सिद्धि अवस्था प्राप्त हो गई अर्थात् चित्त के कामादि दोष दूर हो गए हैं, वे सिद्धि की उज्ज्वलता के लिए महापुरुषों की मर्यादा का बार-बार अनुस करते हैं, और जिनकी असिद्ध अवस्था है उनको तो सिद्धि लाभ के लिए, चि शुद्धि के लिए महत्-पुरुषों का अनुसरण करना आवश्यक ही है। अतः दो अवस्थाओं में महापुरुषों की नियम-मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक क्योंकि उसके बिना चित्त की मलिनता दूर नहीं होती और चित्त - निर्मलता बिना परमानन्दमय साध्य वस्तु कृष्ण-स्फूर्त्ति नहीं होती। जो लोग साधन क प्रथम अवस्था से ही महत्-पुरुष या गुरुजन प्रर्वत्तित पथ का अनुसरण न करते और अपना मन-माना आचरण करते हैं, वे अपराध के भागी हो जा हैं। जैसे स्वच्छन्द आचरण से चित्रकेतु का श्रीमहादेव के प्रति महापराध हु और श्रीपार्वती जो द्वारा शाप के कारण उसका अध:पतन हो गया था। स्वा धीन आचरण से वास्तविक भक्त-स्वभाव ढक जाता है।

श्रद्धा के भी रूप वणन किए गए है। एक तो लौकिक या परम्परागत श्रद्धा होती है। जिसका संकेत श्रीगीता (६।३०) में मिलता है—सुदराचा भी यदि अनन्यभाव से अर्थात् श्रद्धायुक्त होकर भगवान् का भजन करता है उसे साधु मानना चाहिये। और श्रीगीता (१७।१) में कहा गया है जो शास्त्र विधि-विधान को परित्याग करके श्रद्धा सहित मेरा पूजन करते हैं" इत्यादि इन वाक्यों में जिस श्रद्धा का वर्णन है— वह परम्परा प्राप्त लौकिकी श्रद्धा है दूसरी श्रद्धा है 'शास्त्रीय-श्रद्धा'। इस प्रकार की श्रद्धा से युक्त पुरुष के लिये दुरा चार में प्रवृत्त होने का, अथवा शास्त्रविधि को परित्याग कर भजन करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह कभी दुराचारी एवं स्वच्छन्द आचारी नहीं होता। दुराचारिता का तो हर प्रकार हर अवस्था में त्याग करना शास्त्रों का आदेश है।

परम्परा प्राप्त श्रद्धा से साधुता—सदाचारता प्राप्त हो सकती है, परन्तु परमगति या भगवत् प्राप्ति नहीं, भगवत् प्राप्ति केवल शास्त्रीय श्रद्धा से होती है। किन्तु लौकिकी श्रद्धा भी अन्य देवाराधन की भांति निरर्थक नहीं जाती।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतिपाद का सम्प्रदाय

(क्रमागत)

□ डॉ० शकुन्तला अग्रवाल

श्रीसरस्वतिपाद की 'श्रीवृन्दावन महिमामृतम्' रचना पूर्णतया गौड़ीय मत के अनुसार है । इस में वर्णित नित्यविहार, पंचम-पुरुषार्थ, अचिन्त्य भेदाभेद, ब्रजपरक लीलाएँ, जलकेलि, श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति वन्दनात्मक श्लोकों का होना निश्चय ही इस रचना के रचयिता को चैतन्यानुयायी ही सिद्ध करते हैं ।

श्रीहित-हरिवंशाष्टक को श्रीप्रबोधानन्द जी द्वारा लिखित नहीं माना जा सकता । प्रथम तो—क्या संगीतमाधवम् जैसे महाकाव्य का रचयिता, वृन्दावन-महिमामृतम् के शतकों का निर्मात्ता, गीतगोविन्द का व्याख्याता और चैतन्यचन्द्रामृतं जैसे स्तोत्र काव्य से महाप्रभुजी की वन्दना करने वाला महान् व्यक्ति आठ श्लोकों के अष्टक की रचना कर अपने सम्प्रदाय का त्याग कर अन्य सम्प्रदाय में सम्मिलित हो सकता है क्या ? नितान्त असम्भव है ।

श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् में चैतन्यस्मरण के श्लोक देखकर कुछ लोग यह भी विकल्प करते हैं कि वृन्दावन शतककार और चैतन्यचन्द्रामृतकार प्रबोधानन्द को एक मानकर गौड़ियों ने उसमें चैतन्य-स्मरण के श्लोक लगा दिये हैं । यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि राधावल्लभीय श्रीचन्द्रगोस्वामी ने भी उन श्लोकों का अनुवाद किया है ।[1]

श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् के सतरहवें शतक का श्रीभगवन्त मुदित जी ने अनुवाद किया है । उस में चैतन्य-वन्दनात्मक श्लोकों का अनुवाद है । अगर ये श्लोक प्रक्षिप्त होते तो श्रीभगवन्त मुदित जी उन का अनुवाद क्यों करते ? ।

---

१ –श्रीराधावल्लभो जयति । श्रीहित-हरिवंशचन्द्रो जयति ।

अथ श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् लिख्यते । अथ सवैया ।

श्री राधा मोहन के पद पंकज में चित्त चाव बढ़ैये ।

श्री चैतन्य महाप्रभु की पदरेनु को अपने अङ्ग लगैये ।

—हस्तलिखित प्रति, क्रम संख्या ४४०४, वृन्दावन शोध संस्थान

श्रीप्रबोधानन्द जी को श्रीहित-हरिवंश जी की शिष्य परम्परा में मा
का प्रमाण रसिक अनन्यमाल है। इस रचना को आधार मानकर राधावल्ल
उन्हें राधावल्लभ-सम्प्रदाय का मानते हैं। इस रचना को चैतन्यानुयायी भगव
मुदित की रचना कहा जाता है।

श्रीभगवन्त मुदित की साम्प्रदायिक निष्ठा और उनका भजन चैत
सम्प्रदाय की मान्यताओं से अनुप्राणित था। इन श्रीभगवन्त मुदित के द्वारा र
अनन्यमाल का लिखा जाना सङ्गत नहीं प्रतीत होता। वस्तुत: श्रीभगवन्त मु
एक भावलीन महात्मा थे। रसिक अनन्यमाल जैसी साम्प्रदायिक रचना उ
स्वभाव और प्रकृति के प्रतिकूल ज्ञात होती है। इस रचना में श्रीहित-हरिवंश
के सम्बन्ध में कोई इतिवृत्त नहीं है, यदि वे श्रीहरिवंश जी से प्रभावित थे
उनके सम्बन्ध में अवश्य कुछ न कुछ लिखते। डॉ० स्नातक को स्वयं र
अनन्यमाल में श्रीहित-हरिवंश जी का चरित्र न पाकर और केवल उनके शि
प्रशिष्यों के चरित्र देखकर आश्चर्य में रह जाना पड़ा है।[1] यथार्थत: यह उत्त
दास विरचित कृति है। श्रीभगवन्त मुदित इसके लेखक नहीं हो सकते। इस सन
में चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसन्धाता डॉ० नरेशचन्द्र बंसल के निष्कर्ष विश्वसनी
ज्ञात होते हैं।[2] डॉ० बंसल रसिक अनन्यमाल को नितान्त अप्रमाणिक रच
मानते हैं। उनका कहना है कि 'रसिक अनन्यमाल' में वर्णित घटनाएँ इत
विकृत और संदिग्ध हैं कि सम्प्रदाय विशेष में निष्ठा रखने वाले श्रीभगवन्त मु
की यह रचना नहीं हो सकती। 'भगवन्त मुदित पर आरोपित किया गया
ऐतिह्य विरुद्ध ग्रन्थ है जिसका उद्देश्य श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती और श्रीहरि
व्यासजी तथा उनकी रचनाओं को राधावल्लभीय बताना है।[3] अत: जब आ
ही भ्रामक है तो उस पर आधारित विचार भवन कैसे सुदृढ़ हो सकता है।

बाबा हितदास प्रबोधानन्द सरस्वती को हितानुयायी कहते हैं। उन
इस धारणा का आधार रसिकअनन्यमाल के साथ संलग्न उत्तमदासकृत दिग्दर्शि
है।[4] बाबा हितदास ने स्वयं लिखा है कि श्रीहितहरिवंश के श्रीवृन्दावन आग
के १८ वर्ष पूर्व ही श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती श्रीकृष्ण चैतन्यमहाप्रभु की कृपा प्रा
करके भक्तरूप में वृन्दावन आ चुके थे।[5] इतनी लम्बी अवधि में भी क्या उन
साधना सिद्धावस्था में नहीं पहुंची थी? श्रीप्रबोधानन्दजी की श्रीहितहरिवंशजी
अगर निष्ठा होती या गुरुभाव होता तो अपनी किसी भी रचना में कहीं
उनका नामोल्लेख करते या केवल एक अष्टक की रचना ही गुरु के प्रति श्र
भक्ति को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त है?

---

१ राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५७।

२— चैतन्य-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८२।

३ चैतन्यसम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८३।

४ - प्रबोध कहि मोहि नाम सुनावहु। आयो शरण प्रभु अपुनावौ॥

— दिग्दर्शिनी, चौ० सं०

५ राधासुधानिधि, भूमिका, पृ०, ३७।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० स्नातक श्रीप्रबोधानन्द के सहसा रसमार्ग में परिवर्तित होने को ही हितहरिवंशजी का प्रभाव मानते हैं। डॉ० स्नातक के अनुसार 'यह कहना अधिक अयुक्त और अप्रमाणिक न होगा कि श्रीहरिवंश जी का प्रबोधानन्दजी पर प्रभाव पड़ा था, अन्यथा वे रसमार्ग में सहसा क्यों परिवर्तित होते। जिस शैली से प्रबोधानन्दजी ने बाद में अपनी वाग्धारा प्रवाहित की उस पर भी श्रीहरिवंशजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।[१]

श्रीहितहरिवंश जी की किस शैली का श्रीप्रबोधानन्द की वाग्धारा पर प्रभाव पड़ा, कुछ भी स्पष्ट नहीं किया। राधाभाव के प्राधान्य को लेकर अगर श्रीहरिवंश जी का प्रभाव डॉ० स्नातक श्रीप्रबोधानन्द जी पर मानते हैं तो भी यह तथ्य सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन्होंने चैतन्यचन्द्रामृतम् में प्रेमनामक पुरुषार्थ, श्रीवृन्दावन की सहजमाधुरी तथा माधुर्यरस की पराकाष्ठा श्रीराधा का आविष्कार महाप्रभु श्रीचैतन्य द्वारा ही माना है।[२] नित्यविहार की शिक्षा भी इन्होंने महाप्रभु से ही पाई थी। अतः इनकी रसरीति और वाग्धारा पर श्रीचैतन्य महाप्रभुजी का प्रभाव होना स्वाभाविक है। महाप्रभु के प्रभाव से ही वे अपने शुष्क मायावादी जीवन को त्यागकर रसमार्गी बने थे। वास्तविकता तो यह है कि निकुञ्जोपासना एवं रसोपासना के साधक गौड़ीय गोस्वामीवृन्द श्रीहितहरिवंशजी से पूर्व ही वृन्दावन में इस साधना पद्धति का प्रकाश कर चुके थे। इस कथन को अन्वेषक तथा आधिकारिक विद्वान् डॉ० विजयेन्द्र स्नातक भी मानते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रेमलक्षणा के वैधी रूप के निर्माण में श्रीहितहरिवंश ने ही गौड़ीय गोस्वामियों से कुछ न कुछ ग्रहण किया है।[३]

डॉ० स्नातक श्रीहितहरिवंश जी को श्रीप्रबोधानन्द जी का गुरु कहने का आग्रह नहीं करते। वह स्पष्ट कहते हैं कि उनका गुरु कोई और रहा होगा।[४] निश्चय ही 'वह और' महाप्रभु श्रीचैतन्य हैं, जिनकी रस पद्धति से प्रभावित होकर श्रीप्रबोधानन्द जी ने अपने साहित्य का सृजन किया।

राधासुधानिधि के एक नवीन टीकाकार बाबा किशोरीशरण अलि वृन्दावन रसोपासना को श्रीहरिवंश जी द्वारा आविर्भूत मानते हैं और इसी आधार पर श्रीप्रबोधानन्द को उनका शिष्य कहते हैं।[५]

१—राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ११०

२—प्रेमा नामाद्भुतार्थः श्रवणपथगत कस्य नाम्नां महिम्नः।
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिन माधुरीषु प्रवेशः॥
को वा जानाति राधां परमरस चमत्कार माधुर्य सीमा—
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार॥

— श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम् श्लोक सं० १२९

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५६६।

४—वही, पृष्ठ ११०।

५—श्रीराधासुधानिधि, परिशिष्ट, पृष्ठ १४।

बाबा किशोरीशरण अलि का कथन केवल साम्प्रदायिक दुराग्रह। श्रीहरिवंशजी से पहले वृन्दावन में अनेक विद्वान् और महात्मा पदार्पण कर चुके स्वयं माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी, श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु, श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्री पण्डित, गो० लोकनाथ, गो० भूगर्भ, श्रीसुबुद्धिराय और श्रीरामराय प्रभु आ वृन्दावन को अपनी साधना का नाभिकेन्द्र बनाकर वृन्दावनरस का नूतन स कर रहे थे। वे नवीन भावना क्षितिजों का प्रकाश और उन्मेष करते हुए वृन्दावन में वृन्दावनरस और नित्यविहार, निकुञ्जविहार आदि भावनाओं की अपने-अपने ढङ्ग से प्राण प्रतिष्ठा कर रहे थे।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती इसी भाव के पथिक हैं। उनकी रस सा श्रीहितहरिवंश जी से पूर्व ही परिपक्व हो चुकी थी। अतः इस आधार पर इन्हें श्रीहितहरिवंश जी का शिष्य नहीं कहा जा सकता।

बाबा किशोरीशरण अलि महाप्रभु जी को प्रेमावतार मान कर कहे धामनिष्ठ श्रीप्रबोधानन्द महाप्रभु जी की वन्दना कैसे कर सकते हैं।[1] वास्तव यह उनका प्रश्न बनता ही नहीं, क्योंकि धामनिष्ठ प्रबोधानन्द जी ने महाप्र प्रभावित होकर ही उनकी वन्दना में चैतन्य-चन्द्रामृतम् जैसे स्तुतिपरक ग्रन्थ रचना की। अतः यह तर्क स्वतः ही प्राणहीन है।

श्रीप्रबोधानन्द निश्चित रूप से चैतन्य सम्प्रदाय में ही दीक्षित हु उन्होंने अपनी रससाधना को उत्तरोत्तर चरम अधिष्ठान पर पहुंचा दिया। समकालीन महानुभावों के वे भी सम्पर्क में अवश्य आये, उनसे प्रभावित एवं अनेकों इन से प्रभावित हुए, किन्तु स्वसम्प्रदाय को त्यागकर अन्य सम्प्रदा संक्रमण करने की इन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरे चैतन्य-सम्प्रदा राशि-राशी प्राचीन उल्लेख अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाख्य के आधार पर निष्पक्ष धारणा बनती है कि ये आद्यन्त श्रीचैतन्य-मतानुयायी बने रहे।

श्रीगोपालभट्ट जी ने अपने ग्रन्थ श्रीहरि-भक्ति-विलास के मङ्गला में श्रीप्रबोधानन्द जी का स्मरण गुरु रूप में किया है।[2] श्रीगोपालभट्ट श्री महाप्रभु के अनुगत थे। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती, श्रीगोपालभट्ट के शिक्षा गु श्रीजीवगोस्वामी ने भी लिखा है।[3] यह स्वाभाविक और प्रामाणिक तथ्य है चैतन्यानुयायी चैतन्य सम्प्रदाय के व्यक्ति को ही अपना गुरु कहेगा अन्यथा सं की मान-हानि होगी। अतः इस मङ्गलाचरण से इनका चैतन्यमतानुयायी निश्चित होता है।

(क्रमश

१—श्रीराधासुधानिधि, परिशिष्ट, पृष्ठ ५१।

२—भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्य भगवत् प्रियस्य।
गोपाल भट्टो रघुनाथ दासं संतोषयन् रूप सनातनौ च ॥

३—चन्द्रामृतं रचितं यत् शिष्यः गोपालभट्टः।

श्रीअद्वैताचार्य-प्रभु

व्रज-मण्डल में आते ही श्रीकमलाक्ष का प्रेम सागर उमड़ उठा। 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण' पुकार-पुकार कर उच्चस्वर में हुङ्कार करने लगे और व्रजरज में पछाड़ें खा-खाकर मूर्च्छित हो जाने लगे। श्रीवृन्दावन में इन्हें श्रीश्यामसुन्दर ने स्वप्न में दर्शन देकर आदेश दिया कि कुब्जा द्वारा सेवित मेरा मदनमोहन-विग्रह आदित्य टीला में दबा पड़ा है—उसे बाहर करो। उसकी सेवा स्थापन कर जीवों का कल्याण करो। मेरे नाम-गुण लीला का प्रचार-प्रसार कर कलि जीवों को प्रेम का दान दो। आप मेरे परम अनन्यभक्त महादेव हो।" स्वप्न के अनुसार श्रीविग्रह को आदित्य टीला से अनेक व्रजवासियों की सहायता से इन्होंने बाहर निकाला। चारों ओर बात फैल गई। व्रजमण्डल के लोगों की भीड़ जुड़ गई। महान् उत्सव मनाया गया।

एक दिन यवनों ने मिलकर उस विग्रह को तोड़ कर हिन्दु जाति के उत्कर्ष को मिटाने की सोची। जब मन्दिर में आये तो श्रीविग्रह को वहां न पाया लज्जित होकर लौट गये। पुजारी ने अति दुखित होकर इनसे सब वृत्तान्त आकर कहा। आपने श्रीमदनमोहन जी से अति व्याकुल होकर प्रार्थना की। श्रीभगवान् ने स्वप्न में कहा—"मैं यवनों के आने से पहले एक गुलाब के फूल में छिप गया था। अब फिर मैं सिंहासन पर बैठा हूँ।" आपने पुजारी के साथ मन्दिर में पूर्ववत् श्रीमदनमोहन जी के दर्शनकर अति आनन्द प्राप्त किया। अति लघु विग्रह धारण करने से श्रीमदनमोहन तब से "श्रीमदनगोपाल" नाम से विख्यात हुए।

एक दिन श्रीमदनगोपाल जी ने श्रीकमलाक्ष को स्वप्न में कहा—कमलाक्ष ! तुम मुझसे अभिन्न हो। तुम्हें कलिजीवों का कल्याण-कार्य करना है। अतः मेरे इस श्रीविग्रह को मथुरा के श्री परशुराम चौबे को सेवा के लिये सौंपकर आप आगे का कार्य करिए। इस में मुझे भी बार-बार यवनों के भय से कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।" श्रीकमलाक्ष प्रभु के वियोग से व्याकुल हो उठे, परन्तु उनके आदेश को टालने में असमर्थ से हो गये। तब श्रीभगवान् ने आश्वस्त करते हुए कहा—तुम निकुञ्ज वन में जाओ वहां मेरे नित्य सिद्ध एक चित्र को तम प्राप्त करोगे, जिसे श्रीललिता जी ने रचकर श्रीराधा जी को दिया था। उसके दर्शन कर श्रीराधा भी मोहित हो गई थीं। दूसरे दिन श्री परशुराम चौबे आए। और श्रीमदनगोपाल जी का स्वप्नादेश सुनाया। वह अनुनय-विनय कर मदनगोपालजी को अपने साथ ले गए। यह अति व्याकुल होकर निकुञ्जवन में आए और उन्हें एक झाड़ी में वह नित्यसिद्ध चित्र प्राप्त हुआ। उसे हृदय से लगाया और उसे लेकर शान्तिपुर लौट आये।

एक बार श्रीमाधवेन्द्रपुरी तीर्थाटन करते हुए शान्तिपुर में श्रीअद्वैत-प्रभु के घर पर पधारे। दोनों मिलकर अति प्रेमाविष्ट हो उठे। श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी ने

श्रीराधाकृष्ण-विग्रह स्थापना करने का इन्हें आदेश दिया एवं गृहस्था
में प्रवेश करने की आज्ञा दी ताकि श्रीविग्रह की सेवा की सम्यक् व्यवस्था च
रहे। श्रीआचार्यपाद ने उनकी आज्ञा का पालन किया क्योंकि वे समझ गए थे
भक्ति-प्राप्ति का सहज एवं अनिवार्य उपाय श्रीभगवद् विग्रह की श्रद्धा स
नित्य सेवा करना भी है तथा उनकी सेवा व्यवस्था का भार सुयोग्य पुत्रों को
सौंपा जा सकता है। इस परम्परा से वंश में चिरकाल तक भक्ति के संस्कार
दृढ़ बने रहे आते हैं।

श्रीकमलाक्ष की विद्या कुशलता एवं कृष्ण-भक्ति निष्ठा देखकर श्री
देव वेदान्त वागीश ने इन्हें वेद-पञ्चानन की उपाधि से अलंकृत किया था। इ
यह ख्याति सुनकर श्रीश्यामदास नामक एक दिग्विजयी शास्त्रार्थ में सर्वत्र वि
प्राप्त करता हुआ इनके पास शान्तिपुर पहुंचा। आप श्रीतुलसी के नीचे श्रीगो
मन्त्र का जप-ध्यान कर रहे थे। जब श्रीश्यामदास ने शास्त्रार्थ का आशय प्र
किया, तो इन्होंने उसे सर्ववेदान्त-वेदान्तसार सविशेष, करुणादि-गुण-गणालं
स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का परतत्व-रहस्य समझाया इस प्रकार उनकी प्राप्ति
सर्वश्रेष्ठ साधन-भक्ति का उपदेश दिया। शक्तितत्व तथा सृष्टि तत्व का उद्दे
बताकर उसकी विपरीत धारणाओं का खण्डन किया। श्रीश्यामदास को काशी
उसकी तपस्या के फलस्वरूप श्रीशिव जी ने वरदान दिया था कि सर्वत्र तुम्हा
जय होगी। आज वह पराजित हो मन में सोचने लगा—भगवान् शङ्कर के व
कैसे असत्य हो गए? उसी समय आकाशवाणी हुई—श्यामदास! श्रीकमला
मुझ (हरि-हरि) से अभिन्न तत्व हैं"—श्रीश्यामदास ने चरणों में प्रणाम
कहा—हे अद्वैत! आप मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये। मैं आपको पहचान
सका।" तभी से श्रीकमलाक्ष वेदपञ्चाननजी का नाम सर्वत्र 'श्रीअद्वैताचार्य' ना
से ख्यात हुआ।

श्रीश्यामदास ने श्रीअद्वैताचार्य जी से मन्त्र दीक्षा ली एवं श्रीकृष्णार्च
प्रणाली तथा श्रीभागवत का अध्ययन किया। श्रीआचार्य पाद ने उनका ना
'भगवताचार्य' रखा। वे कृष्ण-प्रेम प्राप्तकर कृतार्थ होकर अपने घर लौट गये
थोड़े दिनों बाद राजा दिव्यसिंह ने आकर श्रीआचार्य से कृष्ण-मन्त्र दीक्षा-शि
ली और उनका नाम श्रीकृष्णदास हुआ। वे श्रीगुरुदेव की सेवा में शान्तिपुर
रहने लगे। गङ्गा के किनारे एक बगीचा बनाकर उस में एक कुटी में रहने लगे
उसका नाम कालान्तर में फुलवाटी ग्राम पड़ा।

श्रीआचार्य कलि जीवों के उद्धार के लिये निरन्तर चिन्तित रहते
और घड़ियाँ गिनते रहते कब स्वयं भगवान् अवतार लेंगे और जीव-जगत् क
निस्तार होगा। इसलिये हर शरणागत प्राणी को श्रीकृष्ण नाम की दीक्षा-शिक्षा
देते और सब को श्रीकृष्ण-कीर्तन करने का आदेश देते।

किसी अज्ञात अपराधवश यवनकुल में उत्पन्न श्रीहरिदास, जिन्होंने पाँच वर्ष तक केवल माता-पिता के घर दूध पर ही जीवन निर्वाह किया और घर को छोड़ तीर्थ भ्रमण के लिए निकल पड़े। घूमते-घूमते शान्तिपुर में आए और श्रीअद्वैताचार्य की शरण ग्रहण की। इन से श्रीहरिदास ने व्याकरण, साहित्य एवं दर्शनादि-शास्त्रों के साथ श्रीभागवत का अध्ययन किया एवं शुद्ध भक्ति की प्राप्ति की।

एक दिन श्रीअद्वैत गङ्गा पर स्नान कर सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे कि नारायणपुर निवासी श्रीनृसिंह भादुड़ी अपनी सीता एवं श्री दोनों कन्याओं के साथ उसी घाट पर उतरे। इनकी अपूर्व नवयौवन भरी सुन्दरता तथा तेज को देखकर श्रीभादुड़ी ने दोनों कन्याओं के स्वीकार करने का प्रस्ताव किया, क्योंकि उन दोनों ने इनके दर्शन करते ही इनके चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया था। श्रीयदुनन्दन आचार्य, पं० श्रीकृष्णदास तथा श्रीहरिदास जी ने श्रीअद्वैत-प्रभु को उनके साथ विवाह की आग्रह-पूर्वक प्रार्थना की।

श्रीसीता के रूप में पौर्णमासी ही आकर श्रीनृसिंह के यहां आविर्भूत हुई थीं। माता के गर्भ से इनका जन्म नहीं हुआ था। एक दिन श्रीनृसिंह भादुड़ी एक सरोवर पर भगवत्-पूजा के लिए कमल-तुलसी लेने गए। वहाँ उन्होंने एक शतदल कमल खिल रहा देखा। बड़ी मीठी भीनी सुगन्ध चारों ओर प्रसारित हो रही है। उस कमल को तोड़ने के लिए जब निकट गए, तो देखा एक अंगुष्ठ-प्रमाण सुन्दर कन्या उस कमल-केसर पर लेट रही है। आश्चर्य की सीमा न रही। कमल सहित उस कन्या को घर ले आए। दैवयोग से उसी समय ही श्रीनृसिंह की पत्नी को एक कन्या पैदा हुई। इधर श्रीनृसिंह कमल सहित कन्या को लाये थे। पत्नी को उस अगुंष्ठा प्रमाण कन्या को दिखाया। वह चकित रह गई। वह बोली यह कन्या कोई दैवीशक्ति प्रतीत होती है। यदि बड़ी होकर शिशु रूप धारण करे तो मैं यही समझूँगी, कि हम पर प्रभु की कृपा हुई है और मुझे दो कन्याएँ एक साथ पैदा हुई हैं। यही हुआ। देखते-देखते वह कन्या एक नवजात-शिशु के रूप में परिणत हो गई। घर में, पाड़-पड़ोस में मङ्गल-गान होने लगा। सब ने यही जाना श्रीनृसिंह के घर यमज कन्याओं ने जन्म लिया है।

दोनों कन्याएँ लक्ष्मी की तरह अति सुन्दर रूप एवं गुणवान् थीं। एक दिन ग्राम में एक संन्यासी आया और सब लोगों ने जाकर उसके दर्शन किए। श्रीसीता एवं श्री भी वहाँ गईं पिताजी के साथ। संन्यासी इनके दर्शन करते ही इनको प्रणाम कर इनकी स्तुति करने लगा। सब आश्चर्य में पड़ गए। श्रीनृसिंह ने संन्यासी से इसका कारण पूछा। उसने कहा—मुझे तो ये दोनों भक्ति एवं मुक्ति ही मूर्त्तिमती दीखती हैं। अलौकिक कन्याएँ हैं ये। यह सुनकर श्रीठाकुरानी ने भक्ति तथा मुक्ति के तत्वों को सुनाया। भक्ति के उत्कर्ष का वर्णन करते हुए मुक्ति को अति तुच्छ कहकर निरूपण किया। सब के आश्चर्य की सीमा न रही। सब नर-नारी इन दोनों कन्याओं को देवी-ठाकुराणी कह कर पुकारते थे।

एक दिन गङ्गा के पार आयोजित किसी उत्सव के दर्शन के लिये श्री नृसिंह दोनों कन्याओं को लेकर गङ्गा तट पर पहुंचे। जोर से हवा चल पड़ी और गङ्गा में उत्तङ्ग तरंगें उठने लगीं। श्रीनृसिंह ने भयभीत होकर कन्याओं को इस पार ही सेवक के पास छोड़ दिया और आप अकेले उत्सव-दर्शन के लिए नौका पर चढ़कर पार चले गये। श्रीसीता एवं श्री से रहा न गया। पिताजी के चले जाने के बाद दोनों एक दूसरे के पीछे गङ्गा में उतर पड़ी और पैदल चलती हुई उत्सव में जा पहुंची। पिता श्रीनृसिंह ने आश्चर्य पाना और मन ही मन दोनों को प्रणाम किया।

इस प्रकार विविध अलौकिक चरित्र गुण सम्पन्न श्रीसीतादेवी तथा श्रीठाकुराणी को पाकर श्रीअद्वैत भी परम प्रसन्न हुए। एक दिन श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी महाराज ने स्वप्न में आकर श्रीसीतादेवी को कहा—हे सीता! तुम श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करो। क्योंकि दीक्षा के बिना स्त्री के हाथ का अन्न श्रीभगवान् भी स्वीकार नहीं करते। वैष्णवों को भी अदीक्षित व्यक्ति का अन्न-भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए"—यह कहकर उन्होंने स्वप्न में ही उसे श्रीकृष्ण मन्त्र सुनाया और चले गए। सवेरे उठ कर श्रीसीता ने श्रीअद्वैताचार्य पाद को वह स्वप्न सुनाया। उन्होंने दोनों "धर्म-पत्नियों" को बुलाकर विधि-पूर्वक मन्त्र-दीक्षा दी। स्त्रियों के लिए अपना पतिदेव ही गुरु है। यदि वह अवैष्णव है तो उन्हें किसी दूसरे कृष्ण तत्ववेत्ता गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए और फिर पतिदेव को भी बार-बार अपने सदाचरण से प्रेरित कर उन्हें दीक्षित कराने की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिए। जिससे गृहस्थ में वैष्णवता का सम्यक् निर्वाह हो सके।

श्रीअद्वैत-प्रभु के भक्तिमय आचरण कृष्ण-प्रेम को देखकर अनेक विद्वानों ने इन से कृष्ण-मन्त्र दीक्षा ली और भक्ति में प्रवृत हुए। श्रीअद्वैत सदा से भगवान् के आविर्भाव की बाट तकते रहते और वे जान चुके थे कि नवद्वीप में प्रभु का करुणामय अवतार होना है। इस आशय को लेकर उन्होंने नवद्वीप में आकर एक पाठशाला खोली, जिस में अनेकों को भक्ति शास्त्रों का अध्ययन कराने लगे।

मिश्र श्रीजगन्नाथ जी की सात सन्तानें शची से उत्पन्न हुईं परन्तु एक भी बालक जीवित न रहा। दुःखी होकर श्रीआचार्य के पास आए और हृदय-वेदना को कहा। उन्होंने मिश्र दम्पति को श्रीकृष्णमन्त्र दिया। और कहा, आप दोनों इस मन्त्र का जाप करें, तुलसी गङ्गाजल से नित्य श्रीविष्णु की आराधना करें। आपके दुःख की शीघ्र निवृत्ति होगी। मिश्र दम्पत्ति श्रद्धा-पूर्वक तदनुसार आचरण करने लगे। समय पाकर उनके घर श्रीविश्वरूप बालक ने जन्म लिया। श्रीअद्वैत उनको महासंकर्षण का अवतार कहते थे। बड़े होकर श्रीआचार्य से भक्ति-शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने भक्ति-धर्म के प्रचार में इनका हाथ बटाया। वे जन्म से ही विरक्त वृत्ति के ही थे।

श्रीमद्भगवद्गीता (तृतीयोऽध्यायः)

हे अर्जुन ! यदि तू कहे कि जीव अपने बन्धक लिङ्गशरीर के योग से कर्म से प्राप्त होने वाले देवादि देहों को प्राप्त करता है। और आप परमेश्वर लिङ्गशरीर रहित हैं। सर्व व्यापक काल-कर्मादि के नियन्ता हैं। "मैं अनेक रूप हो जाऊँ"। इस वेद वाक्य से आप सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप हो ही, तथापि जो आप विशेषभाव से—'हूँ' ऐसा होने पर भी मैं उत्पन्न होता हूँ, ऐसा कहते हो, इससे मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् से विलक्षण-विशेष नित्य शरीर को लोक में प्रकाशित करने के लिये आपका जन्म होता है। इसे स्पष्ट करके बताईये। तो सुन— "मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर आविर्भूत होता हूँ।"

यहाँ प्रकृति-शब्द से यदि बहिरङ्गा मायाशक्ति अर्थ लिया जाय तो माया के अधिष्ठाता परमेश्वर भी उसके द्वारा जगत् रूप में अभिव्यक्त होते हैं—ऐसा मानने में परमात्मा की कोई विशेषता नहीं रहेगी। इसलिये 'संसिद्धि और प्रकृति स्वरूप और स्वभाव' इस अभिधान के अनुसार यहाँ प्रकृति-शब्द का अर्थ स्वरूप ही जानना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान् मायाशक्ति स्वरूप नहीं हैं, उनका स्वरूप (शरीर) सच्चिदानन्द ही है। इसलिये स्वां अर्थात् अपनी शुद्ध सत्वात्मिका प्रकृति में अधिष्ठित होकर के आविर्भूत होते हैं—ऐसा श्री श्रीधर-स्वामिपाद का मत है। श्री रामानुजाचार्य पाद का मत है कि स्वयं ही स्वस्वभाव में अधिष्ठित होकर स्वरूप से स्वेच्छा से श्रीभगवान् आविर्भूत होते हैं।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव, सच्चिदानन्दघन, एकरस इन शब्दों से माया को दूर रखा गया है। अतः स्वां शब्द का अर्थ है निजस्वरूप। श्रुति भी कहती है—"वह भगवान् अपनी ही किसी महिमा में प्रतिष्ठित हैं।" स्व-स्वरूप का अधिष्ठान करके अर्थात् स्वरूप में अवस्थित होते हुए ही वे उत्पन्न होते हैं तथा देह और देही इस भिन्न भाव से रहित हैं। फिर भी वे देही के समान ही व्यवहार करते हैं—ऐसा श्रीमधुसूदन सरस्वती का मत है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—श्रीभगवान् जब अव्यात्मा हैं अनश्वर हैं तब मत्स्य, कूर्म्मादि स्वरूप भी उनके अनश्वर हैं, किन्तु जब श्रीभगवान् इन रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं, तो पहले वाले विद्यमान अनश्वर रूप तथा अवतरित रूप दोनों क्या एक साथ उपलब्ध होते हैं ?—इसके उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा है कि मैं आत्ममाया से आविर्भूत होता हूँ अर्थात् स्वस्वरूप को आवृत तथा प्रकाशित करता हूँ अपनी चित्-शक्ति की वृत्ति द्वारा, जिसका नाम है योगमाया। उस योगमाया की सहायता से पूर्व काल में अवतीर्ण स्वरूपों को पहले आवृत्त कर देता हूँ और वर्त्तमान के अवतार स्वरूपों को प्रकाशित कर देता हूँ।

एक दिन गङ्गा के पार आयोजित किसी उत्सव के दर्शन के लिये श्री नृसिंह दोनों कन्याओं को लेकर गङ्गा तट पर पहुंचे। जोर से हवा चल पड़ी ए गङ्गा में उत्तङ्ग तरंगें उठने लगीं। श्रीनृसिंह ने भयभीत होकर कन्याओं को ते इस पार ही सेवक के पास छोड़ दिया और आप अकेले उत्सव-दर्शन के लिए नौका पर चढ़कर पार चले गये। श्रीसीता एवं श्री से रहा न गया। पिताजी के चले जाने के बाद दोनों एक दूसरे के पीछे गङ्गा में उतर पड़ी और पैदल चलती हुई उत्सव में जा पहुंची। पिता श्रीनृसिंह ने आश्चर्य माना और मन ही मन दोनों को प्रणाम किया।

इस प्रकार विविध अलौकिक चरित्र गुण सम्पन्न श्रीसीतादेवी तथा श्रीठाकुराणी को पाकर श्रीअद्वैत भी परम प्रसन्न हुए। एक दिन श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी महाराज ने स्वप्न में आकर श्रीसीतादेवी को कहा—हे सीता! तुम श्रीकृष्ण-मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करो। क्योंकि दीक्षा के बिना स्त्री के हाथ का अन्न श्रीभगवान् भी स्वीकार नहीं करते। वैष्णवों को भी अदीक्षित व्यक्ति का अन्न-भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए"—यह कहकर उन्होने स्वप्न में ही उसे श्रीकृष्ण मन्त्र सुनाया और चले गए। सवेरे उठ कर श्रीसीता ने श्रीअद्वैताचार्य पाद को सब स्वप्न सुनाया। उन्होंने दोनों "धर्म-पत्नियों" को बुलाकर विधि-पूर्वक मन्त्र-दीक्षा दी। स्त्रियों के लिए अपना पतिदेव ही गुरु है। यदि वह अवैष्णव है तो उन्हें किसी दूसरे कृष्ण तत्ववेत्ता गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए और फिर पतिदेव को भी बार-बार अपने सदाचरण से प्रेरित कर उन्हें दीक्षित कराने की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिए। जिससे गृहस्थ में वैष्णवता का सम्यक् निर्वाह हो सके।

श्रीअद्वैत-प्रभु के भक्तिमय आचरण कृष्ण-प्रेम को देखकर अनेक विद्वानों ने इन से कृष्ण-मन्त्र दीक्षा ली और भक्ति में प्रवृत हुए। श्रीअद्वैत सदा स्वयं भगवान् के आविर्भाव की बाट तकते रहते और वे जान चुके थे कि नवद्वीप में प्रभु का करुणामय अवतार होना है। इस आशय को लेकर उन्होंने नवद्वीप में आकर एक पाठशाला खोली, जिस में अनेकों को भक्ति शास्त्रों का अध्यापन कराने लगे।

मिश्र श्रीजगन्नाथ जी की सात सन्तानें शची से उत्पन्न हुईं परन्तु एक भी बालक जीवित न रहा। दुःखी होकर श्रीआचार्य के पास आए और हृदय वेदना को कहा। उन्होंने मिश्र दम्पति को श्रीकृष्णमन्त्र दिया। और कहा, आप दोनों इस मन्त्र का जाप करें, तुलसी गङ्गाजल से नित्य श्रीविष्णु की आराधना करें। आपके दुःख की शीघ्र निवृत्ति होगी। मिश्र दम्पत्ति श्रद्धा-पूर्वक तदनुसार आचरण करने लगे। समय पाकर उनके घर श्रीविश्वरूप बालक ने जन्म लिया। श्रीअद्वैत उनको महासंकर्षण का अवतार कहते थे। बड़े होकर श्रीआचार्य से भक्ति-शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने भक्ति-धर्म के प्रचार में इनका हाथ बटाया वे जन्म से ही विरक्त वृत्ति के ही थे।

श्रीमद्भगवद्गीता (तृतीयोऽध्यायः)

हे अर्जुन ! यदि तू कहे कि जीव अपने बन्धक लिङ्गशरीर के योग से कर्म से प्राप्त होने वाले देवादि देहों को प्राप्त करता है। और आप परमेश्वर लिङ्गशरीर रहित हैं। सर्व व्यापक काल-कर्मादि के नियन्ता हैं। "मैं अनेक रूप हो जाऊँ"। इस वेद वाक्य से आप सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप हो ही, तथापि जो आप विशेषभाव से—'हूँ' ऐसा होने पर भी मैं उत्पन्न होता हूँ, ऐसा कहते हो, इससे मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् से विलक्षण-विशेष नित्य शरीर को लोक में प्रकाशित करने के लिये आपका जन्म होता है। इसे स्पष्ट करके बताईये। तो सुन—"मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर आविर्भूत होता हूँ।"

यहाँ प्रकृति-शब्द से यदि बहिरङ्गा मायाशक्ति अर्थ लिया जाय तो माया के अधिष्ठाता परमेश्वर भी उसके द्वारा जगत् रूप में अभिव्यक्त होते हैं—ऐसा मानने में परमात्मा की कोई विशेषता नहीं रहेगी। इसलिये 'संसिद्धि और प्रकृति स्वरूप और स्वभाव' इस अभिधान के अनुसार यहाँ प्रकृति-शब्द का अर्थ स्वरूप ही जानना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान् मायाशक्ति स्वरूप नहीं हैं, उनका स्वरूप (शरीर) सच्चिदानन्द ही है। इसलिये स्वां अर्थात् अपनी शुद्ध सत्वात्मिका प्रकृति में अधिष्ठित होकर के आविर्भूत होते हैं—ऐसा श्री श्रीधर-स्वामिपाद का मत है। श्री रामानुजाचार्य पाद का मत है कि स्वयं ही स्वस्वभाव में अधिष्ठित होकर स्वरूप से स्वेच्छा से श्रीभगवान् आविर्भूत होते हैं।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव, सच्चिदानन्दघन, एकरस इन शब्दों से माया को दूर रखा गया है। अतः स्वां शब्द का अर्थ है निजस्वरूप। श्रुति भी कहती है—"वह भगवान् अपनी ही किसी महिमा में प्रतिष्ठित हैं।" स्व-स्वरूप का अधिष्ठान करके अर्थात् स्वरूप में अवस्थित होते हुए ही वे उत्पन्न होते हैं तथा देह और देही इस भिन्न भाव से रहित हैं। फिर भी वे देही के समान ही व्यवहार करते हैं—ऐसा श्रीमधुसूदन सरस्वती का मत है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—श्रीभगवान् जब अव्यात्मा हैं अनश्वर हैं तब मत्स्य, कूर्म्मादि स्वरूप भी उनके अनश्वर हैं, किन्तु जब श्रीभगवान् इन रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं, तो पहले वाले विद्यमान अनश्वर रूप तथा अवतरित रूप दोनों क्या एक साथ उपलब्ध होते हैं?—इसके उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा है कि मैं आत्ममाया से आविर्भूत होता हूँ अर्थात् स्वस्वरूप को आवृत तथा प्रकाशित करता हूँ अपनी चित्-शक्ति की वृत्ति द्वारा, जिसका नाम है योगमाया। उस योगमाया की सहायता से पूर्व काल में अवतीर्ण स्वरूपों को पहले आवृत्त कर देता हूँ और वर्त्तमान के अवतार स्वरूपों को प्रकाशित कर देता हूँ।

श्री श्रीधर स्वामी लिखते हैं—आत्ममाया का अर्थ है सम्यक् प्रच्युत ज्ञान-बल-वीर्यादि सम्पना शक्ति-भक्ति उसके द्वारा श्रीभगवान्—आविर्भूत हुआ करते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य का मत है—आत्ममाया अर्थात् आत्मज्ञान से भगवान् आविर्भूत होते हैं। माया शब्द का अर्थ अभिधान में ज्ञान भी स्वीकृत है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा श्रीभगवान् प्राचीन जीवों का शुभ-अशुभ जानते हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती के मत में श्रीभगवान् वासुदेव में देह-देही भाव नहीं है। उनमें इस रूप की प्रतीति माया-मात्र ही है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सारार्थवर्षिणी टीका—कदा संभवामीत्यपेक्षायामाह-यदेति। धर्म्मस्य ग्लानिर्हानिरधर्म्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिस्ते द्वे सोढ़ुमशक्नुवन् तयोर्वैपरीत्यं कर्त्तुमिति भावः। "आत्मानं देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया" इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः ॥७॥

अनुवाद—हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ ॥७॥

तात्पर्य—श्रीभगवान् कब अवतार लेते हैं—उसे कहते हैं—जब धर्म की ग्लानि अर्थात् हानि होती है, एवं अधर्म का अभ्युत्थान अर्थात् वृद्धि होती है, इन दोनों बातों को जब मैं सहन नहीं कर सकता, तब उनके विपरीत करने के लिये अर्थात् धर्म की वृद्धि तथा अधर्म का नाश करने के लिए मैं आत्मा अर्थात् शरीर का सृजन करता हूँ। नित्यसिद्ध शरीर को सृष्टि की तरह प्रकाशित करता हूँ। श्रीमधुसूदनसरस्वती पाद का मत है कि यही उनकी माया है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

सारार्थवर्षिणी टीका - ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्म्म-हान्यधर्म्मवृद्धी दूरीकर्त्तुं शक्नुवन्त्येव; एतावदर्थमेव किं तवावतारेण? इति चेत्, सत्यम्। अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म्म कर्त्तुं सम्भवामीत्याह—परीति—साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां मद्दर्शनोत्कण्ठास्फुटचित्तानां यद्वैयग्रचरूपं दुःखम्, तस्मात् त्राणाय। तथा दुष्कृतां मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्यैरबध्यानां रावणकंसकेश्यादीनां विनाशाय। तथा धर्म्मसंस्थापनार्थाय मदीयध्यानयजनपरिचर्य्यासंकीर्त्तन-लक्षणं परमधर्म्मं मदन्यैः प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः। युगे युगे प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा। न चैवं दुष्टनिग्रहकृतो भगवतो वैषम्यमाशङ्कनी-

यम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्त्तृकवधेन विविधदुष्कृतफलान्नरकसहप्रणिपातात् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः ॥८॥

अनुवाद—साधुओं की रक्षा के लिये और दुष्टों के विनाश के लिये तथा धर्म की स्थापना के लिये मैं प्रतियुग में अवतार लेता हूँ ॥८॥

तात्पर्य—अर्जुन ने मानो यह प्रश्न किया कि हे कृष्ण ! जब आपके ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि भक्तजन भी धर्म-हानि और अधर्म वृद्धि दूर करने में असमर्थ हैं फिर इतने से प्रयोजन के लिये आप क्यों अवतार लेते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं, तुम्हारी बात ठीक है, किन्तु और भी ऐसे कार्य हैं, जिन्हें दूसरे नहीं कर सकते उनके लिए मैं अवतार लेता हूँ। साधु की रक्षा के लिये अर्थात् मेरे दर्शन की उत्कण्ठा से जिन का चित्त व्याकुल हो रहा होता है उन एकान्त भक्तों की व्याकुलता रूप दुःख से रक्षा करने के लिये मैं अवतार लेता हूँ। मद्भक्तजनों को दुःख देने वाले, असुरों को, जिनका अन्य किसी द्वारा वध नहीं हो सकता, ऐसे रावण, कंस, केशी आदियों के विनाश के लिये मैं ही अवतार लेता हूँ। धर्म संस्थापनार्थ—अर्थात् मेरे ध्यान, पूजन, परिचर्या, संकीर्त्तन लक्षण-युक्त परमधर्म की जिसका मेरे से भिन्न दूसरों द्वारा प्रवर्तन नहीं हो सकता, सम्यक् प्रकार स्थापना करने के लिये मैं प्रतियुग में अथवा प्रतिकल्प में अवतार लेता हूँ।

यहाँ दुष्ट-निग्रह करने में भगवान् में विषमता की आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दुष्ट-असुरों का जब भगवान् अपने हाथ से वध करते हैं तो उन का नरक में पतन नहीं होता और न ही वे संसार चक्र में पड़ते हैं। अतः निग्रह दीखता हुआ भी वास्तविक वह श्रीभगवान् का अनुग्रह ही है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

सारार्थवर्षिणी टीका—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्कर्म्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति । "दिव्यमप्राकृतम्" इति श्रीरामानुजाचार्य्यचरणाः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाश्च; "दिव्यमलौकिकम्" इति श्रीस्वामिचरणाः । लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वादलौकिक—शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थस्तेषामप्यभिप्रेतः । अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वम् । तच्च भगवत्सन्दर्भे—"न विद्यते यस्य च जन्म कर्म्म वा" इत्यत्र श्लोके श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम्; यद्वा, युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्यवलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम् । तत्र पिप्पलाद-शाखायां पुरुषबोधनी श्रुतिः—"एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा" इति । तथा जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वं श्रीभागवतामृते-बहुश एव प्रपञ्चितम् । एवं 'यो वेत्ति तत्त्वतः' इति, 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' इत्यस्मिंस्तथा 'जन्म कर्म्म च मे दिव्यम्' इत्यस्मिंश्च मद्वाक्य

एवास्तिकतया मज्जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वमेव यो जानाति, न तु तयोर्नित्यत्वे काञ्चि
द्युक्तिमप्यपेक्षमाणो भवतीत्यर्थः ; यद्वा, तत्त्वतः 'ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मण
स्त्रिविधः स्मृतः' इत्यग्रिमोक्तस्तच्छब्देन ब्रह्मोच्यते ; तस्य भावस्तत्त्वं तेन ब्रह्म
स्वरूपत्वेन यो वेत्तीत्यर्थः । स वर्तमानं देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, किन्तु मामे
वैति । अत्र देहं त्यक्त्वेत्यस्याधिक्यादेवं व्याचक्षते स्म । स देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म
नैति किन्तु देहमत्यक्त्वैव मामेति । "मदीयदिव्यजन्मचेष्टितायाथार्थ्यज्ञानेन विध्व
स्तसमस्तमत्समाश्रयणाविरोधिपाप्मा अस्मिन्नेव जन्मनि मामाश्रित्य मदेकप्रियो
मामेव प्राप्नोति" इति श्रीरामानुजाचार्य्यचरणाः ॥९॥

अनुवाद—हे अर्जुन ! जो मेरे इस प्रकार के दिव्य जन्म और कर्म को तत्त्व से अर्थात् वास्तविक रूप से जानता है, वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥९॥

तात्पर्य—उक्त लक्षण वाले भगवद् जन्म तथा उन में किये कर्मों के तत्त्वतः ज्ञानमात्र से ही जीव कृतार्थ हो जाता है । श्रीरामानुजाचार्य पाद तथा श्रीमधुसूदन सरस्वतीपाद के मत से दिव्य का अर्थ "अप्राकृत" और श्रीधर स्वामी के मत से 'अलौकिक' । प्रकृति द्वारा ही सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि होने से 'अलौकिक' शब्द का अप्राकृत अर्थ उनका भी अभिप्रेत है । तात्पर्य यह है कि अप्राकृत तथा गुणातीत स्वरूप श्रीभगवान् के जन्म-कर्म नित्य हैं । यह बात श्रीभगवत्सन्दर्भ में "न विद्यते यस्य जन्म कर्म वा भा० ८/३/८" श्लोक की व्याख्या में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने उद्धृत की है । अथवा युक्ति द्वारा सिद्ध न होने पर भी श्रुति-स्मृति वाक्य के बल पर अतर्क्य रूप में यह सिद्धान्त मानने योग्य ही हैं । इस विषय में पिप्पलादि शाखा की पुरुषबोधिनी-श्रुति कहती है—"एक देव नित्य-लीलानुरक्त भक्तव्यापी–भक्तहृदय में अन्तरात्मा स्वरूप से विद्यमान है ।" तथा श्रीभगवान् के जन्म कर्म की नित्यता श्रीभागवतामृत में अनेक स्थानों पर विस्तार से कही गई है । इस प्रकार जो तत्त्व से यह जानता है कि श्रीभगवान् अज एवं अव्ययात्मा होने पर भी अवतीर्ण होते हैं । तथा उनके जन्म और कर्म दिव्य हैं और इस प्रकार के भगवद्-वाक्य में ही आस्तिक बुद्धि से मेरे श्रीभगवान् के जन्म कर्म की नित्यता को जो जानता है तथा उनकी नित्यता में किसी युक्ति की भी अपेक्षा नहीं करता उसे संसार में पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता । अथवा "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः (गीता–१७/२३) इस परवर्ती वाक्य में तत् शब्द से 'ब्रह्म' अभिप्रेत है । उस ब्रह्म का तत्त्व अर्थात् भाव या स्वरूप जो जानता है वह वर्त्तमान देह को त्यागकर पुनर्जन्म नहीं पाता, किन्तु श्रीभगवान् को ही प्राप्त होता है ।

श्रीमहारास-लीला

★

दोऊ श्याम गौर तन पै अद्भुत श्रृङ्गार है।
अलकैं छूटीं बदन पर शोभा अपार है।
इत मधुर मधुर नूपुर धुनि अति रसाल है।
उत पायजेब पायल रूणझुण विसाल है।
कटि काछनी पीताम्बर पटका है जरकसी।
दामन सुरङ्ग सारी प्यारी के क्या लसी।
प्रिया करण फूल झुमका गल हीर हार है।
पिया रतन जटित कुण्डल उर फूल हार है।
चीरे के पेच बांके माथे मुकुट सोहै।
श्यामा के नख छटा पर रवि चन्द्र कोटि मोहै।
गल बाँहि दे परस्पर निरतत आनन्द सों।
गावत मधुर मधुर सुर मुख ललित चन्द सों।
सुरगण चढ़ें विमानन रस रात सुख निहारें।
छबि देखि देखि देव तिया मान प्राण वारें।।
अङ्ग अङ्ग छबि तरङ्ग दोऊन बेशुमार है।
प्यारो ललित लड़ैती प्राणन अधार है ।।२०।।

[दोहा]

नव रस में सबते सरस यह रस रास बिहार।
ललित लड़ैती रसिक बिन और न जाने सार ।।२१।।

[दोहा]

यह लीला अद्भुत करत भक्तन हित नन्दलाल।
ललित लड़ैती गाये ते उपजे प्रेम विशाल ।।२२।।

।। इति श्रीमहारास लीला सम्पूर्णम् ।।

इति श्रीदम्पति-विलास द्वितीय भाग "श्रीललित लड़ैती" विरचित

※ सम्पूर्णम् ※

सांवरी छद्म लीला

[दोहा]

समाजी वचन

विघन हरन मङ्गल करन लीला श्यामा श्याम।
रसिकन दम्पति नाम धनि जीवन श्रीबन धाम ।।१।।

सखी वचन श्रीलालजी प्रति [दोहा]

सुनो लाल ब्रज में रहत एक मोहिनी नार।
कही न जाय देखत बनें शोभा रूप अपार ॥२॥

श्रीलालजी वचन सखी प्रति [दोहा]

कौन गाम क्या नाम वा कहिये कृपा विचार।
कहि विधि वासों मिलन हो एरी गोप कुमारि ॥३॥

सखीवचन श्रीलालजी प्रति [दोहा]

बरसाने में बसत है राधा वाकौ नाम।
त्रिभुवन में पट तरन को ऐसी छबि अभिराम ॥४॥

[दोहा]

फूल लेन हित बाग को जावत राजकुमारि।
नव जोबन नव रूप की मानो खिली फुलवारि ॥५॥

[दोहा]

सखी सहेली संग ले बिहरत वाही ओर।
अबला जन विचरत तहां नहीं पुरुष को ठौर ॥६॥

समाजी वचन [दोहा]

कही वारता प्रिया की जानि गये ब्रजराज।
सोचत मन किम गमन ह्वै बिच अबलान समाज ॥७॥

[दोहा]

लगी चटपटी मिलन की परम रसिक रिझवार।
ललित लड़ैती गये तहां भेष नागरी धार ॥८॥

[वार्तिक]

जब आप बाग में पहुंचे—श्रीजी इनते पहिले फुलवारी ते फूल बीन के मन्दिर में जाय पधारीं ॥९॥

[दोहा]

मणि मन्दिर रतनन जटित रचना विविध प्रकार।
ललित लड़ैतो नई अली ठाढ़ी पौरी द्वार ॥१०॥

नव नागरी वचन द्वार सखी प्रति [देश सोरठ]

सखी मोहि प्यारी दरश करायदै ।
बूझत बूझत यहां लौं पहुँची आवन खबर सुनायदै ॥
उठि सजनी जा भीतर मंदिर तुरत संदेसा लायदै ।
ललित लड़ैती हों भूखी नेह मन की प्रीति जतायदै ॥११॥

सखी वचन नव नागरी प्रति [देश सोरठा]

अरी तू बेगही बेग पुकारे ।
नृपति लली सों आई मिलिवे नैक न बात विचारे ॥
करत सिंगार लाड़िली भीतर बैठी मांग संवारे ।
ललित लड़ैती बिरम नैक लौं जाय कहूं गुण तिहारे ॥१२॥

[वार्त्तिक]

थोरी देर पाछे सखी भीतर गई ॥१३॥

सखी वचन श्रीजी प्रति [राग कालिंगड़ा वा जंगलाको जि०]

प्यारी इक बाल कहूं ते आई ।
मेघ वरण नव तरूण सांवरी बड़े गोप की जाई ॥
बचन रचन मुख झरत फूल से कहा कहुँ रूप निकाई ।
त्रिभुवन में देखी न सुनी कहुं विधना रतन उपाई ॥
फूलन कौ सिंगार सजो तन अतर सुवास फैलाई ।
फूलन चन्द्र कला माथे पै बंदनी फूल सुहाई ॥
फूल झूमका अद्भुत श्रवणन फूलन नथ छबि छाई ।
चम्पा कली हार उर फूलन शोभा नई दरसाई ॥
फूलन के गजरा कर फूलन पायल पगन सुहाई ।
गज गामिन भामिन अति सुन्दर फूली अंग न समाई ॥
मानो उतरी नभ मंडल ते नैक न छल चतुराई ।
ललित लड़ैती सब गुण आगरि दरशन कूं ललचाई ॥१४॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [जंगलाको जि० चालठुमरी]

हम न कबहूं सुनी ऐसो शोभा गुण आगरी ।
रूप छबि की रास मन की मेलो आवें पास ।
याही में गिनूं री मैं अपनो बड़ो भागरी ।
जाओ सखी बेग जाओ भीतर लिवाय लाओ ।
बोलें बतरावें वा नई रूप की उजागरी ।
डोलत इकेली जाके संग न सहेली कोऊ ।
ललित लड़ैती कैसी आई वह नागरी ॥१५॥

सखी वचन नव नागरी प्रति

[चाल ठुमरी

धनि विधि तेरी रची ललाट रेख ।]
निकसी भवन मनाय भवानी कै मुख काहू भले को देख ।
चलरी भीतर बोलै प्यारी भई हिये तेरी चाह विशेष ।
ललित लड़ैती रीझो तो पै या में नहीं कछु मीन मेष ।।१६।।

समाजी वचन

[राग गौरी वा वरिवे पीलूका जि०]

यह सुनिके फूली न समाई उमग्यौ हियौ आनन्द ।
फूल सिंगार छरी कर फूलन झूमत चलत गयन्द ।।
सिमिटत नवति जोर कर दोऊ कहति वचन कछु मन्द ।
ललित लड़ैती करत ओट पट बदन उजागर चन्द ।।१७।।

श्रीजी वचन नव नागरी प्रति

[दोहा]

क्यौं सकुचत तेरौ बदन कहो री कृपा विचार ।
सरकावौ घूंघट तनक देखूं रूप तिहार ।।१८।।

नव नागरी वचन श्रीजी प्रति

[राग गौरी]

घूंघट मार कहन यों लागी नव नागरि सुकुमारी ।
मैं घर ते कबहूं नहिं निकसी एरी राजदुलारी ।।
घनें दिनन ते आस करति ही तुम भेंटन को प्यारी ।
ललित लड़ैती दरसन करबे आई पौरी तिहारी ।।१६।।

श्रीजी वचन नव नागरी प्रति

[ठुमरी खम्माच का जि०]

सुनिरी सखी सांवरी तैं सोच मन दिलाई री ।
घूंघट पट ओट करत दामिन सौ मुख दमकत ।
कहूं न देखी सुनी तिया तिया तें लजाई री ।
उपजो अचरज समाज यह अनमिल तौ सो साज ।
बिन देखे बिन कहीं मिले प्रीति उर उपाई री ।
फूलन को तन सिंगार वचन कहति भरे लाड़ ।
ललित लड़ैती नख शिख लौं अधिक निकाई री ।।२०।।

नव नागरी वचन श्रीजी प्रति

[राग देश सोरठ]

प्यारी प्रगट भेंट भई तुम सों आज ।
पै मै स्वप्ने हूं देख्यौ सुख समाज ।
हंस रस हुलसत संग रसिक राज ।

क्रमशः

❀ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ❀

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

एतत् षड्वर्ग-हरणं रिपु-निग्रहणं परम्।
अध्यात्ममूलमेतद्धि विष्णोर्नामानुकीर्त्तनम्॥
हृदि कृत्वा तथा काममभीष्टं द्विजपुङ्गवाः।
एवं नाम जपेद् यस्तु शतं कामानवाप्नुयात्॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९७, मार्च १९८२ { अंक ३

रस-नागर श्याम रची होरी

रस नागर श्याम रची होरी।
श्यामा रूप बने मनमोहन श्याम स्वरूप बनी गोरी।
मनमोहन सिर लसत चन्द्रिका मुकुट विराजत सिर गोरी।
रमकि झमकि सब सखी सहेली, आय मिलीं निज ओरी॥
अबीर गुलाल कुमकुमा केसर मार मची रस रङ्ग बोरी।
डफहिं बजावत गावत चाचरि उमड़ि चली श्रीवन खोरी॥
'मुदरा सखी' युगल छबि निरखत बार बार लखि तृण तोरी।

---

* श्रीकृष्णनाम का कीर्त्तन काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ-मत्सर इन छयों का विनाशक है। सर्व शत्रुओं के नाश का परमोपाय है। अध्यात्म ज्ञान का मूल तत्व या उसकी प्राप्ति का यही मूल कारण है। हे द्विज श्रेष्ठ! जो व्यक्ति हृदय में किसी भी अभीष्ट कामना को लेकर इस श्रीकृष्णनाम का जप करता है, उसकी सौ-सौ कामनाओं की यह पूर्त्ति करने वाला है।

श्रीहरिभक्तिविलास ११।१८९

❊ श्रीराधिकायै नमः ❊

श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचिता

प्रार्थना-पद्धति

अथ प्रार्थनाया राधां प्रसादयति—

शुद्धगाङ्गेयगौराङ्गीं कुरङ्गीलङ्गिमेक्षणाम् ।
जितकोटीन्दुबिम्बास्यामम्बुदाम्बर संवृताम् ॥१॥

अब प्रार्थना के द्वारा श्रीराधाजी को प्रसन्न करते हैं—हे वृन्दावनेश्वरि! आपके श्रीअङ्ग शुद्ध सुवर्ण से भी अधिक उज्ज्वल हैं। आपकी विलोकन हरिणी से भी अति मनोहर है। आपका श्रीवदन कोटि-कोटि चन्द्रमाओं के समान सुशोभित है। आप श्याम घन वर्ण के समान नीलाम्बर धारण कर रही हैं ॥१॥

नवीनबल्लवीवृन्दधम्मिल्लोत्तंसमल्लिकाम् ।
दिव्यरत्नाद्यलंकारसेव्यमानतनुश्रियाम् ॥२॥

आप नवीन रमणियों की चूड़ामणि-मल्लिका स्वरूपा हैं। आपके श्रीअङ्गकी शोभा दिव्य रत्न-जटित अलंकारोंसे सेवित-विभूषित हो रही है ॥२॥

विदग्धमण्डलगुरुं गुणगौरवमण्डिताम् ।
अतिश्रेष्ठवयस्याभिरष्टाभिरभिवेष्टिताम् ॥३॥

हे राधे! चातुर्य-मण्डल की आप गुरु स्वरूपा हैं एवं सौहार्द-कोमलतादि गुणों की गरिमा से आप विभूषित हैं। अति प्रिय श्रीललिता विशाखा आदि आठ सखियों से आप सदा वेष्टित रहती हैं ॥३॥

चञ्चलापाङ्गभङ्गेन व्याकुलीकृतकेशवाम् ।
गोष्ठेन्द्रसुतजीवातुरम्यबिम्बाधरामृताम् ॥४॥

चपल कटाक्ष-तरङ्गों से आप श्रीकृष्ण को व्याकुल करने वाली हैं। आपके रमणीय विम्बाधरों का अमृत ही व्रजराज नन्दन श्रीकृष्ण का जीवन है ॥४॥

त्वामसौ याचते नत्वा विलुठन्यमुनातटे ।
काकुभिर्व्याकुलस्वान्तो जनो वृन्दावनेश्वरि ॥५॥

उपर्युक्त अनन्त गुणगणालंकृता हे श्रीवृन्दावनेश्वरि ! मैं आपकी दासी यमुना तट पर विलुण्ठन करती हुई व्याकुल होकर गद्गद् हृदय से यही याचना करती हूँ ॥५॥

किं याचसे तत्राह—
कृतागस्केऽप्ययोग्येऽपि जनेऽस्मिन्कुमतावपि ।
दास्यदानप्रदानस्य लवमप्युपपादय ॥६॥

मैं अनेक अपराधों युक्त हूँ, अयोग्य हूँ तथा कुबुद्धि हूँ, तो भी मुझे दासियों के उपयुक्त जो भी दान दिया जाता है, उसका कणिका मात्र मुझे प्रदान कीजिए ॥६॥

नन्वयोग्ये तद्दानं कथं तत्राह—
युक्तस्त्वया जनो नैव दुःखितोऽयमुपेक्षितुम् ।
कृपाद्योतद्रवच्चित्तनवनीतासि यत्सदा ॥७॥

अयोग्य के प्रति दास्य-दान कैसे कर दूं ?—यदि आप ऐसा कहो, तो सुनिये मैं दुखित-दासी आपके द्वारा उपेक्षित होने योग्य नहीं हूँ। क्योंकि आपका चित्त पराये दुख हरने की इच्छा रूप कृपा से सदा नवनीत भांति द्रवित होने वाला है ॥ अतः हे वृन्दावनेश्वरि ! आप मुझे अपनी दासी-उपयुक्त सेवा का दान प्रदान कीजिये—यही मेरी प्रार्थना है ॥७॥

मांझ

श्याम रंग अरु नैन सलौने, अलक रही बल खाई ।
मोर मुकुट शिर अधिक बिराजै, मुरली मधुर बजाई ॥
मुक्ताहल नासा बिच राजै, लाल अधर पर वारी ।
"दासीदया" दरस की प्यासी, किरपा करो बिहारी ॥

—श्रीदयाबाई जी

साधक सावधान !

- गुरु-पादाश्रय के बिना अध्यात्म-पथ में चलना कर्णधार के बिना नौका की यात्रा है।
- श्रीगुरु द्वारा भजन की शिक्षा तथा अनुभूत योग प्राप्त होते हैं।
- शिक्षा-गुरु अनेक हो सकते हैं, किन्तु दीक्षा-गुरु एक होता है।
- श्रीगुरु एवं शिष्य में आराध्य इष्टदेव तथा भावों की एकता होना अनिवार्य है।
- श्रीगुरुदेव से अपने दोषों का दुराव भजन को कभी शुद्ध नहीं होने देता।
- श्रीगुरुदेव से भजन-जिज्ञासा करना श्रेयस्कर है।
- श्रीगुरु की सर्वतोभाव से सेवा से भगवत्-कृपा अति शीघ्र प्राप्त होती है।
- स्त्री के लिए अपना वैष्णव-पति ही गुरु है।
- गृहस्थ के लिये गृहस्थ एवं विरक्त के लिए विरक्त गुरु होने में सम्बन्ध का सम्यक् निर्वाह होता है।
- कृष्णतत्ववेत्ता ही गुरु करने योग्य है, चाहे वह किसी वर्णाश्रम का क्यों न हो।
- शुद्ध सत्वोज्ज्वल चित्त-गुरु के आश्रय से भगवत् साक्षात्कार होता है।
- केबल मन्त्र जानने के लिये गुरु का प्रयोजन नहीं, कृपा-प्राप्ति के लिये है
- श्रीगुरु में दोष-दृष्टि अधः पतन का कारण है।
- श्रीगुरु-वचन पालनीय है, उनका आचरण अनुकरणीय नहीं।
- श्रीगुरु के शास्त्रीय-वचन ही सदा पालनीय हैं।

श्रीभक्तिसन्दर्भः

जैसे वास्तविक फल प्रदाता आराधन तो केवल श्रीकृष्ण का है, उसी प्रकार वास्तविक फल प्रदायिनी एक मात्र शास्त्रीय-श्रद्धा ही है, उसे पूर्णा कहा जाता है। लौकिकी श्रद्धा पूर्णा नहीं कही जाती।

इस प्रकार की शास्त्रीय श्रद्धा तभी पूर्णता लाभ करती है, जब सत्य-असत्य का विचार करने पर कोई व्यक्ति इस निर्णय पर पहुँचता है कि परिदृष्यमान जगत् की सब वस्तुएँ असत्य हैं। उनकी प्राप्ति में केवल दुःख ही दुःख है। एक मात्र श्रीभगवान् ही परम सत्य तत्त्व हैं। उनकी प्राप्ति में ही समस्त कामनाओं की निवृत्ति हो शाश्वत आनन्द की उपलब्धि होती है।

श्रीभगवान् ने, शास्त्रों ने इस श्रद्धा के लिए अर्थात भगवत् शरणागति के लिए अधिकार एवं अनधिकार का विवेचन किया है। श्रीभगवान् ने यह भी कहा है कि हर व्यक्ति भगवद् विषयक श्रद्धा का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः जो अज्ञ अथवा कर्म-ज्ञानादि अन्यान्य मार्गों में लगे हुए हैं, उन्हें भक्ति का उपदेश देना भी एक अपराध है। परन्तु किसी प्राचीन संस्कार को विचार कर अनधिकारी के प्रति उपदेश का विधान भी है। किन्तु जो इस परम गुह्यतम सार वचनों को सुनने या मानने का इच्छुक नहीं अथवा अनेक बार उपदेश सुनने पर भी अमल नहीं करता, मनन नहीं करता उसे उपदेश करना भी नामापराध है। अतः ऐसे लोगों में बुद्धि भेद—पैदा नहीं करना चाहिये ॥

१७४—तदेवं योगत्रयं तदधिकारहेतुश्चोक्त्वा कर्मणोऽपि यथा भगवत्सारम्ख्यरूपत्वं स्यात्, तथाह (भा० ११।२०।१०-११)—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्ग-नरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥५०५॥

अस्मिल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिञ्च यदृच्छया ॥५०६॥

टीका च—अनाशीःकामोऽफलकामः। अन्यन्निषिद्धम्, नरकयानं हि द्विधैव भवति, विहितातिक्रमाद्वा निषिद्धाचरणाद्वा। अतः स्वधर्मस्थत्वान्निषिद्धवर्ज्जनाच्च नरकं न याति, अफलकामत्वात् न स्वर्गमपीत्यर्थः। किन्तु अस्मिल्लोके अस्मिन्नेव देहे। अनघो निषिद्धपरित्यागी, अतः शुचिर्निवृत्तरागादिमलः यदृच्छयेति केवलज्ञानादपि भक्तेर्दुर्ल्लभतां द्योतयति" इत्येषा। अत्र अफलकामत्वं केवलेश्वराज्ञाबुद्ध्या कुर्व्वाणत्वम्। अत्र ज्ञानिसंगे सति तन्मात्रत्वमेव भगवदर्पणं भवेत्। भक्तसङ्गे तु तत्सन्तोषमयत्वम्। अतो यदृच्छयेति पूर्व्ववद् भक्तसङ्ग-तत्कृपालक्षणं भाग्यं बोधितम्। यदुक्तम् (भा० २।३।११-)—एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः" इत्यादि ॥ श्रीभगवान् ॥

इस प्रकार कर्म-योग, ज्ञान-योग एवं भक्ति-योग तथा इन में अधिकार के कारण का निरूपण कर अब इसका वर्णन करते हैं कि कर्म भी किस प्रकार भगवद्-सन्मुखता रूप में सिद्ध होता है—

श्रीमद्भागवत (११।२०।१०-११) में श्रीभगवान् ने कहा है— हे उद्धव जो लोग स्वधर्मों का पालन करते हुए फल को कामना रहित होकर यज्ञादि का यजन करते हैं, वे यदि अन्य आचरण न करें, तो उनको भी स्वर्ग या नरक की प्राप्ति नहीं होती ॥५०५॥

परन्तु स्वधर्म पालन-कर्त्ता पापरहित पावन व्यक्ति इस लोक में विशुद्ध ज्ञान-योग अथवा भाग्यवश मेरे भक्ति-योग को प्राप्त करता है ॥५०६॥

श्री श्रीधर स्वामी टीका में लिखते हैं—'अनीशः काम'—अर्थात् फल कामना रहित। 'अन्य'—शब्द का अर्थ है निषिद्ध। नरक में जाना दो कारणों से होता है। एक तो, शास्त्र विहित नियमों का आचरण न करने से, दूसरे शास्त्र-निषिद्ध दुराचार को करने से। इसलिए जो व्यक्ति स्वधर्म पालन करता है और निषिद्ध आचरण नहीं करता, वह नरक नहीं जाता। क्योंकि वह स्व-धर्म (वर्णाश्रम धर्म) का फल नहीं चाहता, इसलिए वह स्वर्ग में भी नहीं जाता। 'इहलोक' - शब्द का अर्थ है इस वर्त्तमान देह में 'अनघ', अर्थात् जो निषिद्धाचरण रहित है। इसलिये वह 'शुचि' अर्थात् राग-द्वेषादि मैल, दोषों से रहित है। 'यदृच्छा'—शब्द द्वारा केवल-ज्ञान से भक्ति की दुर्लभता प्रकाशित की गई है।

यहां 'फल की कामना-रहित होने' का तात्पर्य है—केवल मात्र ईश्वर की आज्ञा जानकर कर्मानुष्ठान का करना। ऐसे निष्काम कर्मानुष्ठान-कर्त्ता व्यक्ति को यदि ज्ञानी पुरुष का सङ्ग प्राप्त हो जाए तो कर्मानुष्ठान मात्र का भगवदर्पण हुआ करता है, परन्तु यदि उसे भक्त का सङ्ग प्राप्त हो जाए तो कर्मार्पण से श्रीभगवान् की सतुष्टता भी सम्पादन हो जाती है। इसलिए 'यदृच्छा'—शब्द से भक्तसङ्ग एवं उसका कृपा रूप सौभाग्य ही कहा गया है। जैसा कि श्रीभागवत (२।३।११) में श्रीभगवान् ने कहा है—जितने भी उपासक हैं, उनका सब से बड़ा हित या सौभाग्य यह है कि वे श्रीभगवद्-भक्तों का सङ्ग प्राप्त कर मुझ में अविचल प्रेम प्राप्त करें। (श्लोक ५१ द्रष्टव्य) ॥

[सारांश यह है कि यदि फल की कामना त्याग कर अपने वर्णाश्रम धर्मों का दुराचार त्यागपूर्वक अनुष्ठान किया जाये, और उन सब कर्मों को भगवदर्पण कर दिया जाए तो यज्ञादि कर्म भी भगवत् साम्मुख्य प्रदान करने वाले हो जाते हैं। ज्ञान-मार्ग के साधक का इस प्रकार का कर्मार्पण केवल कर्मार्पण ही रह जाता है, परन्तु भक्ति-साधक का यह कर्मार्पण श्रीभगवान् की सन्तुष्टि का भी हेतु बन जाता है। ज्ञानी एवं भक्तों के कर्मार्पण में यही अन्तर है।]

१७५—तदेवं कर्म्मार्पणकेवलज्ञानकेवलभक्त्योऽधिकारिभेदेन व्यवस्थापिताः। ततः स्वाधिकारानुसारेणैव स्थातव्यमित्याह—(भा० ११।२०।२६)—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्य्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेव निश्चयः ॥५०७॥इति॥

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

इस प्रकार अधिकारी भेद के अनुसार कर्मार्पण—अनुष्ठान में केवल ज्ञान तथा केवल-भक्ति निर्दिष्ट की गई है, अर्थात् इस तरह के स्वधर्मानुशीलन से ज्ञान भी कर्म-मिश्रित नहीं होता और न ही भक्ति कर्म मिश्रा होती है। इसलिए अपने-अपने अधिकार के अनुसार ही सब को अवस्थान करना चाहिए, जैसे कि श्रीभागवत (११।२१।२) में श्रीभगवान् ने कहा है—

अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है, उसे 'गुण' कहा गया है। और उसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना 'दोष' है, यही दोनों का निर्णय किया गया है ॥५०७॥

१७६—तत्र साम्मुख्यद्वारभूतस्य कर्मणः साक्षात् साम्मुख्यरूपज्ञानभक्त्युदयपर्य्यन्तत्वात् स्वयमेव ताभ्यां न्यक्कारः। तत्र साक्षात् साम्मुख्ये च निर्विशेषसाम्मुख्यं ज्ञानम्। सविशेषस्यापि तत्त्वस्य भगवत्त्वं परमात्मत्वञ्चेति मुख्यमाविर्भावद्वयमिति सविशेषसाम्मुख्यरूपाया भक्तेस्तु मुख्यं भेदद्वयं भगवन्निष्ठत्वं परमात्मनिष्ठत्वञ्चेति। तदेतत्त्रयं श्रीगीतासूक्तम्। तत्र (गी० ८।३)—'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्यक्षर-शब्देन पूर्व्वोक्तं ब्रह्म। तत्साम्मुख्यरूपं ज्ञानात्मकमुपासनञ्चोत्तरोक्तं यथा (गी० ८।११)—"यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" इत्यादि', तथा परमात्मानमपि (गी० ८।४)—पुरुषश्चाधिदैवतम् इति, "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर इति च, विराड़्व्यष्टिरूपाधिष्ठानद्वयभेदेन भिन्नप्रायमुक्त्वा, भक्तिरीतिद्वयी तयोरेकप्राया दर्शिता। तत्र (गी० ८।८) "अभ्यासयोगयुक्तेन" इत्यादिनैका। (गी० ८।९) "कविं पुराणमनुशासितारम्" इत्यादिनान्या। यथा मच्छब्दोक्तश्रीकृष्णाख्य भगवद्भक्तिप्रकारश्चायम् (गी० ८।१४)—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥५०८॥इति॥

तदेतत् साम्मुख्यत्रयं श्रीकपिलदेवेनाप्युक्तम् (भा० ३।३२।२६)—

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥५०९॥इति॥

दृशिर्ज्ञानम्। पृथक् परस्परमन्यादृशो भावों भावना येषु तथाविधैर्ज्ञानादिभिरेक एव परिपूर्ण स्वरूपगुणः परब्रह्मेयेते परमात्मेयते भगवांश्चेयते। तत्र ज्ञानेने परब्रह्मतया ज्ञायते। भक्ति विशेषेण परमात्मतया, पूर्णया भक्त्या भगवत्तयेति ज्ञेयम्। परब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं ज्ञानमात्रमिति परमात्मन ईश्वरः पुमानिति भगवतो भगवानित्येव। विवृतञ्चैतत् साम्मुख्यत्रयं भगवत्परमात्मसन्दर्भयोः—ब्रह्मणः (भा० १०।१४।६) अथापि भूमन् इत्यादिना। परमा-

त्मनः (भा० २।२।८) केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेश - मात्रं पुरुषं वसन्तम इत्यादिना, भगवतः (भा० १।७।४) भक्तियोगन मनसि इत्यादिना च। तथा च यद्यपि साम्मुख्यत्वेनाविशिष्टं ज्ञानादित्रयमपि तद्वै मुख्यप्रतियोगि भवेत् तथापि (भा० १०।१४।४) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल-बोधलब्धये तेषाम् "इत्यादौ भक्तिं विना केवलज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात्.अत्रापि च (भा० '१।२०।३१) तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य इत्यादौ भक्तेस्तन्निरपेक्षत्वात् (भा० ११।२०।३२)यत्कर्म्मभिर्यत्तपसा इत्यादौ आनुषङ्गिकसर्व्वफलत्वाच्च ज्ञानमपि न्यक्कृतम् ततोऽवशिष्टायां सविशेषोपासनारूपायां भक्तौ च श्रीविष्णुरूपमवहुमन्यमानाः केचिन्निराकारेश्वरस्यान्याकारेश्वरस्य चोपासनं यां मन्यन्ते,सापि न्यक्कृतास्ति-यतो हिरण्यकशिपोरपि (भा० ७।२।२२) नित्य आत्माव्ययः शुद्धः इत्यादि-तद्वाक्येन (भा० ७।२।३९) यदृच्छयेशः सृजतीदमव्ययः इत्यादि-तदुदाहृतेतिहास-वाक्येन तेन कृत ब्रह्मस्तवेन च ब्रह्मज्ञानं निराकारेश्वरज्ञानमन्याकारेश्वर-ज्ञानञ्च तस्यास्तीति वर्ण्यते। श्रीविष्णौ देवतासामान्यदृष्टिर्निन्द्यते च स इति। तथान्यत्राहंग्रहोपासना च न्यक्कृता, पौण्ड्रकवासुदेवादौ यदुभिरिव शुद्धभक्त-रुपहास्यत्वात्। (भा० ३।२९।१३) सालोक्यसार्ष्टि सारूप्य इत्यादिषु तत्फलस्य हेयतया निर्द्देशात्। तदुक्तं श्रीहनुमता को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति इति । तदेतत् सर्व्वमभिप्रेत्य निष्किञ्चनां भक्तिमेव तादृशभक्तप्रशंसाद्वारेण सर्व्वोद्‌र्ध्वमुपदिशति—(भा० ११।२०।३४)—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥५१०॥

टीका च – धीरा धीमन्तः, यतो ममैकान्तिनो मय्येव प्रीतियुक्ताः, अतो मया दत्तमपि न गृह्णन्ति, किं पुनर्वक्तव्यं न वाञ्छन्तीत्यर्थः । अपुनर्भवमात्यन्ति-कमपि कैवल्यमित्येषा । ईदृशानामेकान्तिनामेव परम महिमा गारुड़े –

ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते ।
सत्रयाजीसहस्रेभ्यः सर्व्ववेदान्तपारगः ॥५११॥
सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते ।
वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते ॥५१२॥इति॥

कर्म साम्मुख्य (सन्मुखता या भगवत्-प्राप्ति) के द्वार स्वरूप हैं । ज्ञान एवं भक्ति साक्षात् साम्मुख्य स्वरूप हैं । अतः ज्ञान एवं भक्ति के उदय काल तक ही केवल कर्मों की स्थिति रहने के कारण वे अपने-आप ज्ञान एवं भक्ति की अपेक्षा निकृष्ट सिद्ध होते हैं । साक्षात् साम्मुख्य में निर्विशेष तत्त्व का जो साम्मुख्य है, वह 'ज्ञान' है । सविशेष-तत्त्व के भगवान् एवं परमात्मा—ये दो आविर्भाव हैं । अतः सविशेष साम्मुख्यरूपा भक्ति के भी भगवन्निष्ठता और परमात्म-निष्ठता रूप दो मुख्य भेद हैं । इन तीनों साम्मुख्यों—ज्ञान-निष्ठता, भगवन्निष्ठता तथा परमात्म-निष्ठता का श्रीगीता में वर्णन किया गया है ।

श्रीगीता (८।३) के "अक्षरं ब्रह्म परमम्"[1] -- परम अक्षर ब्रह्म है, यहाँ अक्षर-शब्द से पूर्वोक्त ब्रह्म अर्थात् निर्विशेष-तत्त्व है। उस ब्रह्म की साम्मुख्यरूप ज्ञानात्मिका उपासना का भी श्रीगीता (८।११) में वर्णन किया गया है कि—"वेद को जानने वाले विद्वान् जिसे अक्षर - सच्चिदानन्द रूप"[2] कहते हैं। इसी प्रकार श्रीगीता (८।४) में "पुरुष ही अधिदैव" है एवं हे देहि-श्रेष्ठ ! मैं ही इस देह में अधियज्ञ रूप से विद्यमान हूँ"[3]—इस प्रकार विराट् और व्यष्टि रूप अधिष्ठान भेद से भिन्नरूप में उल्लेख कर परमात्मा के दो प्रकार के रूपों का वर्णन किया गया है। इन दो प्रकार के परमात्मा रूपों की उपासना रूपा भक्ति की रीति दो प्रकार की होते हुए भी एक तो श्रीगीता (८।८) "परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग" इत्यादि[4] एवं दूसरी श्रीगीता (८।९) सूर्यसदृश नित्य चेतन शुद्धि सच्चिदानन्द परमात्मा[5] को स्मरण करता है—इत्यादि वचनों में प्राय एक प्रकार की दिखाई गई है।

और मत्-शब्द से प्रयुक्त श्रीकृष्ण-नामक भगवान् की भक्तिरीति श्रीगीता (८।१४) में इस प्रकार दिखाई गई है—

हे अर्जुन ! जो अनन्यचित्त व्यक्ति सर्वदा मेरा स्मरण करता है, मैं उस नित्ययुक्त भक्त योगी को सहज में प्राप्त हो जाता हूँ ।।५०८।।

इन तीन प्रकार के साम्मुख्य का श्रीकपिलदेव ने भी श्रीभागवत (३।३२।२६) में वर्णन किया है –

अद्वय ज्ञानस्वरूप सद्विग्रह एक ही श्रीभगवान् दृश्य, द्रष्टा एवं करण (इन्द्रिय.वृत्ति) भेद से परब्रह्म, परमात्मा एवं पुरुष (भगवान्) रूपों से अभिव्यक्त होते हैं ।।५०९।।

'दृशि'—का अर्थ है ज्ञान। परस्पर विभिन्न भावना हैं जिसमें, ऐसे ज्ञानादि के कारण परिपूर्ण स्वरूप, परिपूर्ण गुणविशिष्ट एक हो पुरुष परब्रह्म रूप

१—अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।

२—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।

३—अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।

४—अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।

५—कविं पुराणमनु शासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।

से परमात्मा रूप से एवं भगवान् रूप से प्रतीयमान होता है। ज्ञानद्वारा परब्रह्म रूप से, भक्ति विशेष से परमात्मा रूप से एवं पूर्ण भक्ति से भगवान् श्रीकृष्ण रूप से वे जानने चाहिये। परब्रह्म का स्वरूपलक्षण 'ज्ञानमात्र' है, परमात्मा का 'ईश्वर' एवं 'पुमान' तथा भगवान् का 'भगवान्' कहा गया है—इन तीनों प्रकारों के सामुख्य की व्याख्या भगवत्-सन्दर्भ तथा परमात्म-सन्दर्भ में की जा चुकी है। वहां श्रीभागवत (१०।१४। :) के "अथापि भूमन्" श्लोक में ब्रह्म सामुख्य का वर्णन है।

श्रीब्रह्माजी ने कहा—"हे अनन्त ! आप के गुणों की महिमा का ज्ञान होना कठिन है, फिर भी उसका ज्ञान विशुद्ध निर्मल अन्तःकरण वालों को प्राप्त होता है। विशेष आकार रहित आत्माकार अन्तःकरण के स्वानुभव से स्वयं प्रकाश रूप में उसका साक्षात्कार होता है।[1]

श्रीभागवत (२।२।८) के केचित् स्वदेहान्तहृदयावकाशे प्रादेश मात्रं पुरुषं वसन्तम्" श्लोक में परमात्म सामुख्य का वर्णन है—

कोई-कोई साधक अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में विराजमान भगवान् के प्रादेशमात्र स्वरूप की ऐसी धारणा करते हैं कि श्रीभगवान् की चार भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं।[2]

तथा श्रीभागवत (१।७।४) के "भक्तियोगेन मनसि"—श्लोक में भगवत्-सामुख्य का निरूपण किया गया है। (अनुच्छेद ११८ द्रष्टव्य) फिर यद्यपि ज्ञानादि तीनों ही सामुख्य की विशेषता युक्त हैं एवं भगवद्-विमुखता के विरोधी हैं, तथापि श्रीभागवत (१०।१४।४) वर्णित जो भक्ति श्रेय पथ को छोड़ कर केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए क्लेश उठाते हैं, उनके हाथ में धान के छिलके कूटने वाले व्यक्ति की भांति केवल श्रम ही श्रम हाथ पड़ता है"—इन वचनों के अनुसार भक्ति के बिना केवल ज्ञान की निकृष्टता ही सिद्ध होती है (श्लोक २०६ द्रष्टव्य)।

यहां भी श्रीभागवत (११।२०।३१) के "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य" श्लोक में भक्ति का ज्ञान-निरपेक्षत्व वर्णन किया गया है। (श्लोक ४८३ द्रष्टव्य) और श्रीभागवत (११।२०।३२) के "यत्कर्मभिर्यत्तपसा" श्लोक में भक्ति का आनुषङ्गिकरूप में सर्वफल-प्रदानत्व वर्णित होने के कारण ज्ञान भी तिरस्कृत है।

१—अथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्य बोध्यात्मतया न चान्यथा॥

२—केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग शङ्ख गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

जाता है। (श्लोक १३५ द्रष्टव्य)। तदनन्तर अवशिष्टा सविशेषोपासना रूपा भक्ति में भी कोई-कोई श्रीकृष्णरूप का अनादर कर निराकार-ईश्वर तथा किसी अन्य आकृति विशिष्ट ईश्वर की जो उपासना को श्रेष्ठ मानते हैं, वह उपासना भी निष्प्रयोजन सिद्ध होती है।

क्योंकि श्रीभागवत (७।२।२२) में हिरण्यकशिपु के इस प्रकार वचन हैं कि—"आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वांगत, सर्वज्ञ और देह-इन्द्रियादि से पृथक् है। वह अपनी अविद्या से ही देह आदि की सृष्टि कर के भागों के साधन सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करता है।[1]

श्रीभागवत (७।२।३९) में यमराज ने कहा है—"जो अविनाशी ईश्वर अपनी इच्छा से इस जगत् को बनाता है, पालन करता और नाश करता है, उस प्रभु का यह जगत् एक खिलौना मात्र है। वह इस चराचर जगत् को दण्ड देने में एवं इस पर अनुग्रह करने में समर्थ है।[2]—इत्यादि हिरण्यकशिपु द्वारा उद्धृत इतिहास-वाक्यों में एवं ब्रह्म-स्तुति में ब्रह्मज्ञान, निराकार ईश्वर-ज्ञान और अन्य आकृति विशिष्ट ईश्वर के अस्तित्व का वर्णन मिलता है। (किन्तु यह सब मत या वाद भक्ति-वाद के द्वारा तिरस्कृत हो जाते हैं।) श्रीविष्णु को भी अन्यान्य देवताओं की तरह सामान्य जानने से वह हिरण्यकशिपु निन्दित ही हुआ है।

अन्यान्य अहंग्रहोपासनादि का भी तरस्कार किया गया है। क्योंकि यादवगण ने जैसे पौण्ड्रक वासुदेव का उपहास किया था, उसी प्रकार शुद्ध भक्तजन भी इस अहंग्रह-उपासकों का उपहास हो करते हैं। क्योंकि श्रीभागवत (३।२९।१३) में जब यह कहा गया है कि भगवद् भक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्यादि पञ्च प्रकार की मुक्तियों को श्रीभगवान् के देने पर भी स्वीकार नहीं करते; (अनुच्छेद ११५ तथा श्लोक ६८० द्रष्टव्य) तब अहंग्रहोपासना का फल तो अपने-आप तुच्छता प्राप्त करता है।

श्रीहनुमान जी ने यही बात हो कही है—ऐसा कौन मूर्ख व्यक्ति होगा जो प्रभु के दासत्व को प्राप्तकर के पराभव-पद प्राप्ति की इच्छा करेगा?" इस प्रकार हर दृष्टि से विचार करने पर निष्किञ्चन भक्तों द्वारा प्रशंसित निष्किञ्चना भक्ति ही सर्वोत्तम रूप से उपदेश की गई है। श्रीभागवत (११।२०।३४) में कहा गया है—

मेरे एकान्तिक साधु, धीर भक्तजन मेरे देने पर अपुनर्भव कैवल्य की भी इच्छा नहीं करते हैं ॥५१०॥

१—नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥

२—य यच्छयेशः सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितुश्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥

श्री श्रीधर स्वामिपाद इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—'धीरा'—अर्थात् जो बुद्धिमान् हैं, 'ममैकान्तिनो' अर्थात् जो केवल मुझमें प्रीति रखते हैं, अतएव वे मेरे देने पर भी ग्रहण नहीं करते हैं, उन्हें फिर-फिर कहने का क्या प्रयोजन ? वे इच्छा नहीं करते। 'अपनुभवम्'—अर्थात् आत्यन्तिक कैवल्य या सायुज्य-मुक्ति। ऐसे एकान्तिक भक्तों की ही परम महिमा गरुड़ पुराण में वर्णन की गई है—

हजार ब्राह्मणों में एक यज्ञ करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, हजार यज्ञ करने वाले व्यक्तियों से सर्ववेदान्त शास्त्र को जानने वाला एक व्यक्ति ही श्रेष्ठ है।।५११।।

फिर सर्ववेदान्त शास्त्र जानने वाले कोटि व्यक्तियों से एक विष्णु-भक्त श्रेष्ठ है। हजार विष्णु-भक्तों से एक एकान्तिक विष्णु भक्त श्रेष्ठ है।।५१२।।

गोपालतोषणी टीका—पहले यह कहा जा चुका है कि कर्मों का भगवत्-प्राप्ति से सीधा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ज्ञानी कर्मार्पण द्वारा शुद्ध ज्ञान के साध्य को प्राप्त कर लेता है। अतः कर्म केवल दोनों मार्गों में साध्य का द्वार स्वरूप हैं—इसका साध्यों तक जाने का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु ज्ञान और भक्ति साक्षात् साम्मुख्य स्वरूप हैं, अर्थात् पर-तत्त्व वस्तु का साक्षात्कार कराने वाले हैं। परतत्त्व वस्तु अद्वयज्ञान सच्चिदानन्द स्वरूप है। व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान तत्त्व स्वरूप हैं। वह अद्वयतत्त्व निर्विशेष अर्थात् ब्रह्म तथा सविशेष स्वरूपों में अभिव्यक्त है। सविशेष स्वरूप फिर परमात्मा एवं भगवान् इन दो नामों से आविर्भूत होता है। साधकों की विभिन्न रुचि अनुसार वह अद्वयतत्त्व ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन स्वरूपों में आत्म प्रकट करता है। ज्ञान-मार्ग के साधकों के लिए वह निर्विशेष ब्रह्म रूप में प्रकाशित होता है, जो सविशेष की अङ्ग कान्ति स्वरूप है। योग-मार्ग के साधकों के लिए वह परमात्मा-रूप से तथा भक्ति-मार्ग के साधकों के लिए वह भगवान् रूप से अनुभूत होता है। श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद् गीता में इन तीनों स्वरूपों का वर्णन है एवं इनकी उपासना का भी विधान है—अनेक प्रमाण उपर्युक्त अनुच्छेद में उद्धृत किए गए हैं। शास्त्रों में निराकार ईश्वर तथा अन्यान्य आकृति वाले स्वरूपों का भी वर्णन मिलता है, किन्तु वे उपर्युक्त तीनों स्वरूपों के अन्तर्भुक्त हैं। उनकी उपासना निष्कृष्ट एवं तुच्छ मानी गई है।

ज्ञान के द्वारा उस अद्वय तत्त्व श्रीकृष्ण की केवल अङ्गकान्ति, ज्योतिर्मय स्वरूप की प्राप्ति होती है। योग के द्वारा सविशेष परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति होती है जो उस अद्वयतत्त्व का अंश हैं। किन्तु उस परमात्मा के न तो कोई लीला परिकर हैं न उनमें शक्ति-क्रिया का विकाश। श्रीभगवान् में पूर्ण शक्ति-विकाश है, लीला-परिकर हैं, उनका धाम है। वह परिपूर्ण स्वरूप हैं। अतः उनको प्राप्ति भी परिपूर्ण प्राप्ति है, जो भक्ति द्वारा सम्भव है।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद का सम्प्रदाय

(क्रमागत)

☐ डॉ० शकुन्तला अग्रवाल

चैतन्यानुयायी महाकवि कर्णपूर ने श्रीप्रबोधानन्द को तुंगविद्या सखी का अवतार तथा सर्वशास्त्र विशारद कहा है।[1] महाकवि का यह कथन इनके चैतन्यानुयायी होने का ही प्रमाण है।

श्रीदेवकीनन्दनदास ने वैष्णव बन्दना में श्रीप्रबोधानन्द जी को महाप्रभु जी से भक्ति प्राप्त करने तथा उनके गुणों का गान करने वाला कहा है।[2] श्री-महाप्रभु का गुणगान उनका भक्त और अनुयायी ही कर सकता है। इस वन्दना के स्वर श्रीप्रबोधानन्द को चैतन्य मतानुयायी ही व्यक्त कर रहे हैं।

गौड़ीय ग्रन्थों के महान् ज्ञाता श्रीजीव गोस्वामी ने अपनी सुखबोधिनी टीका श्रीप्रबोधानन्द की कृष्णवल्लभा टीका के तारतम्य में लिखकर प्रबोधानन्दजी को चैतन्यानुयायी सिद्ध किया है।[3]

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर—प्रबोधानन्दजी के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनके प्रत्येक ग्रन्थ में चैतन्यवन्दना और चैतन्य स्मरण के श्लोक हैं।[4] चैतन्यचन्द्रामृत तो सम्पूर्ण रूप से उनकी वन्दना और महिमा का

१—तुंगविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्र विशारदा।
सा प्रबोधानन्द यति गौरोद्गान सरस्वती॥

२—सुद्ध सरस्वती वन्द बड़ शुद्धमति।
महाप्रभुर पायै जार सुद्ध भकति॥
प्रवौधानन्द गोसाईं वन्दौ करिया जतन।
जे करिल महा प्रभुर गुणेर वर्णन॥

३—हस्तलिखित प्रति वि० सं० १८२१।

४—(क) श्री चैतन्यमहाप्रभोः पदरजः स्वात्मानमेवार्पयन्।
—वृन्दावनमहिमामृतम् श्लोक संख्या १।१

(ख) स्तुमस्तं चैतन्याकृतिमतिविमर्य्यादपरमा-
—चैतन्यचन्द्रामृतम् १।१

वर्णन ही है। ये श्लोक और चैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थ इन को निश्चित रूप से चैतन्यानुयायी सिद्ध करते हैं।

महाप्रभु चैतन्य प्रेमावतार थे। उन्होंने ही प्रेम नामक पंचम पुरुषार्थ तथा वृन्दावन की परममाधुरी को प्रकाशित किया था। श्रीप्रबोधानन्द जी ने इन्हीं सूत्रों को ग्रहण कर अपनी रचना का मुख्य विषय बनाया। वृन्दावन की परममाधुरी के वर्णन में उन्होंने सहस्राधिक श्लोकों की रचना की। वृन्दावन ही उनका सर्वस्व बन गया।[1] वृन्दावनमहिमामृतम् का एक एक श्लोक उनकी वृन्दावननिष्ठा का परिचायक है। वृन्दावन के गुणगान में उनकी वाणी कभी मूक नहीं हुई। उनकी आँखों में उस धाम के दर्शन की ही लालसा समाहित रहती थी और वह तो वृन्दावन से एक पग भी बाहर नहीं जाना चाहते।[2] क्या ये कथन इन को महाप्रभुजी का अनुगत सिद्ध नहीं करते ?

जीवन के चारों पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष को त्याग कर इनकी श्रद्धा महाप्रभुजी द्वारा कथित पंचम पुरुषार्थ पर ही है। अपने काव्य में अनेक स्थलों पर इन्होंने चारों पुरुषार्थों की भर्त्सना[3] करते हुए पंचम पुरुषार्थ प्रेम की महत्ता प्रतिपादित की है। अन्य चारों पुरुषार्थ तो कहीं भी प्राप्त किये जा सकते हैं।[4]

महाप्रभुजी ने अपनी शिक्षाओं में कृष्णनाम-कीर्तन को भगवदुपासना का मूलाधार माना है। इन्होंने भी इसी संकीर्तन को करते हुए 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण'[5] उच्चारण पूर्वक वृन्दावनवास किया। संसार सिन्धु को पार करने के लिए संकीर्तन रूपी अमृत को ही पान करने का आदेश देते हैं।[6] भगवान के नामों

१—त्वं मातेव पितेव सत्सुहृदिव भ्रातेव सद्बन्धुवत्।
कान्तावत् परदेवतेव गुरुवत् सन्नेजवत् प्राणवत्॥

—वृ० म० श्लो० सं० १०।७१

२—न वृन्दावन सीमातः पदं मे चलतु क्वचित्।

—वृन्दावनमहिमामृतम्, १७।३४

३—त्यक्त्वा धर्म्मं चार्थकामौ—वृ० म०, १४।५४

४—अपरतः पुरुषार्थचतुष्टयं भगवतो भजनञ्चभवेद्दृढ।—वृ० म०, १५।२४

५—हरे कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति मुख्यान्
महाश्चर्य नामावली सिद्ध मंत्रान्।
कृपामूर्ति चैतन्य देवोपगीतान्॥—वृ० म०, १७।८९

६—संसार सिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्
सङ्कीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत्।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति
श्चैतन्यचन्द्रचरणे शरणं प्रयातु॥—चैतन्यचन्द्रामृतम्, श्लोक सं० ९२

का कीर्तन करते हुये समेय व्यतीत हो, यही इनकी प्रार्थना है।[1] महाप्रभुजी द्वारा प्रदर्शित प्रेमभक्ति मार्ग का ही इन्होंने अनुसरण किया है। ये मधुरभावोपासक थे। इसीलिए इनके ग्रन्थों में श्री श्रीराधाकृष्ण के माधुर्यरूप का ही वर्णन है। उनका ऐश्वर्य भी माधुर्य मण्डित है।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने अपनी रचनाओं में नित्यविहार और परकीया रूप का वर्णन महाप्रभुजी को रसरीति के आधार पर ही किया है। उनके श्री श्रीराधाकृष्ण वृन्दावन के कुन्जों में पुष्पशैया पर निरन्तर कामरंग के मधुर विलास से प्रकाशित रहते हैं।[2] श्री श्रीराधाकृष्ण महोन्मद रस में अवश हैं। परकीया का वर्णन संगीतमाधवम्, राधारससुधानिधि तथा आश्चर्यरासप्रबन्धम् में इन्होंने किया है।

महाप्रभुजी के दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्य भेदाभेद का वर्णन गोपालतापनी की कृष्णवल्लभा टीका में इन्होंने इस प्रकार किया है। श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। उन्हीं श्रीकृष्ण की उपासना प्रबोधानन्दजी को प्रिय है। अन्य देवता का भजन उनका अभीष्ट नहीं। श्रीराधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। जीव परम साधक है, आराध्य की उपासना हो उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। वृन्दावन चिद् जगत् है। श्रीगौरचन्द्र के द्वारा प्रकटित श्रीवृन्दावनतत्व श्रीराधाकृष्णतत्व तथा आत्मतत्व को ही ये स्मरण करते हैं।[3]

चैतन्य सम्प्रदाय की कामगायत्री और गोपालमन्त्र की विस्तृत व्याख्या इन्होंने अपने लघुग्रन्थ कामगायत्री व्याख्या में की है। इन्होंने अपने गीतगोविन्द व्याख्यान तथा श्रुति स्तुति व्याख्या में, श्रीमद्भागवत, भक्तिरसामृतसिन्धु उज्जवलनीलमणि आदि ग्रन्थों के उद्धरण देकर गौड़ीय ग्रन्थों के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त कर स्वयं को चैतन्यानुयायी सिद्ध किया है। साथ ही इनके ग्रन्थों में राधा-

---

१ चैतन्येति दयामयेति परमोदारेति नानाविध
प्रेमावेशितर्वसभूतहृदयेत्याश्चर्यधामन्निति
गौराङ्गेति गुणार्णवेति रसरूपेतिस्वनामप्रिये
त्यश्रान्तं मम जल्पतो जनिरियं यायादिति प्रार्थये।

—वही, श्लोक सं० ६७

२ —श्रीवृन्दावनकुन्जपुष्प-शयने वृन्दावनाधीश्वरी
सङ्गा भंगुर कामरङ्ग मधुरो वृन्दावनैकोदयः ।।

—वृन्दावनमहिमामृत १५।१

३—श्रीवृन्दावन तत्वं श्रीराधाकृष्णयो स्तत्वम्।
निजतत्वं च सदा स्मर यत् प्रकटितमस्ति गौरचन्द्रेण ।।

—वृन्दावनमहिमामृतम् २।६५

माधव, राधारमण, मदनमोहन, गौरनील नामों का प्रयोग इनको श्रीचैतन्य सम्प्रदाय का ही सिद्ध करते हैं।

श्रीप्रबोधानन्दजी को चैतन्य सम्प्रदायी मानने का सबसे प्रबल और प्रमुख प्रमाण है, उनकी रचना चैतन्यचन्द्रामृतम्। श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी विनम्रता से प्रभावित कर इनको अपना अनुयायी बनाया था। इन्हें पूर्ण और अटूट विश्वास था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु का नामोच्चारण करने से ही उनके दुःख दूर हो जायेंगे। श्रीगौरचन्द्र के चरणों में ही इनका चित्त आसक्त है। गौरहरि ही इनकी गति है।[1] इनकी दृष्टि में समस्त संसार अचैतन्ञ है, श्रीमहाप्रभु ही चैतन्य हैं।[2]

इनके ग्रन्थों में चैतन्य दृष्टि समाहित है। इनकी रसोपासना भक्ति-भावना सभी चैतन्य दृष्टि से अनुप्रेरित हैं। अतः श्रीप्रबोधानन्द चैतन्य सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे। इस धारणा को मानने में किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

□

विनय

तुम गुणवंत मैं अवगुन गारी।
तुम्हरी ओट खोट बहु कीन्हैं, पतित उधारन युगल बिहारी॥
खान पान बोलत अरु डोलत, पाप करत है देहि हमारी।
कर्म बिसारौं तो नहीं छूटों, जो छूटौं तो कृपा तुम्हारी॥२॥
मैं आधीन माया बस होकरि, तुम स्वाधीन माया सूँ न्यारे।
मैं अनाथ तुम नाथ गुसाई, सब जीवन के प्रान पियारे॥३॥
भव सागर में डर लागत है, अब मोहि बेग उतारौ पारी।
चरनदास गुरु किरपा सेती, "सहजोबाई" शरन तिहारी॥४॥

—श्रीसहजोबाई जी

१—प्रकटगौरिमा मे गतिः।

—चैतन्यचन्द्रामृतम्, श्लोक सं० ७८

२—अचैतन्यमिदं विश्वं यदि चैतन्यमीश्वरम्॥

—वही श्लोक संख्या ९८

श्रीअद्वैताचार्य-प्रभु

श्रीअद्वैत प्रभु, श्रीहरिदास, श्रीवासादि सब भक्त मिलकर उच्चस्वर में कृष्णनाम संकीर्तन में श्रीकृष्ण का व्याकुल चित्त से आह्वान करते। नित्यप्रति तुलसी गंगाजल से उनका ध्यान-स्मरण करते। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण समय पाकर (सं० १५४२) श्रीविश्वम्भर नाम से श्रीजगन्नाथ-शची के घर आविर्भूत हुए। माता इन्हें निमाई नाम से पुकारा करतीं। श्रीअद्वैतादि समस्त भक्तों का आनन्द सागर उमड़ उठा। नित्यप्रति श्रीहरिनाम संकीर्त्तन, नृत्य कर प्रभु के दर्शन करते हुए उन्हें रिझाने लगे।

श्रीनिमाई के बड़े भाई श्रीविश्वरूप श्रीअद्वैत प्रभुके पास उठते-बैठते एवं शास्त्रों का अध्ययन करते। संसार से विरक्त होकर घर-बार छोड़कर चले गए। श्रीनिमाई भी,गदाधरादि अनेक सहपाठियों के साथ श्रीआचार्य के पास शास्त्र चर्चा किया करते। श्रीअद्वैत तो श्रीगौर तत्व के ज्ञाता थे ही ! इन्होंने ही श्रीगौरांग के अवतार के लिए प्रतिज्ञा की थी। उनके दर्शन कर अति आनन्द लाभ करते। श्रीगौरांग इन्हें गुरु स्थानीय मान कर आदर करते, प्रणाम करते। इनकी पूजा स्तुति भी करते। किन्तु श्रीअद्वैत प्रभु इनकी कृपा प्राप्त करने की ही तदवीरें सोचा करते। ये अपने को श्रीगौराङ्ग का दास ही मानते थे। उनकी पूजा स्तुति किया करते।

श्रीआचार्य प्रभु श्रीभगवद्गीता के प्रत्येक श्लोक की भक्तिपरक व्याख्या किया करते। एक दिन "सर्वतः पाणिपाद"—(श्रीगीता १३।१३) श्लोक की भक्ति-परक व्याख्या आचार्य न कर पाये। अति व्याकुल हो गए। सोचने लगे कि यहां कोई पाठान्तर होना चाहिए। श्रीभगवद् मुखोक्ति है, इसका भक्ति में ही पर्यवसान होना आवश्यक है। किन्तु कहीं मन टिक न पाया। आपने खाना-पीना छोड़ दिया और रोते-रोते रात को सो गए। रात में एक सुवर्णकान्ति बालक—श्रीगौरांग ने स्वप्न में आकर उपर्युक्त श्लोक के अर्थ बताए। और कहा—अद्वैत ! तुमने तो उपवास कर लिया, मेरा क्या अपराध ? जो मुझे भी भोग न लगाया। मुझे यदि भक्त भोग नहीं लगाता तो मैं भूखा-प्यासा रह जाता हूँ। उठो, अब भोग लगाओ और स्वयं भी प्रसाद ग्रहण करो। आंख खुली, श्रीआचार्य ने उस व्याख्या पर ध्यान दिया और चमत्कृत रह गए। उसी समय भगवान् को भोग लगाया और प्रसाद ग्रहण किया।

एक बार श्रीआचार्य को श्रीगौरांग की कृपा प्राप्त करने की अनोखी तदबीर सूझी। इन्होंने देखा, श्रीगौरांग मेरे इष्ट हैं परन्तु सबके सामने मेरी पूजा-स्तुति यहां तक कि चरणधूलि लेने लगते हैं। इनको अति दुख होता। यह चाहते थे कि श्रीगौरांग एक बार सबके सामने मुझ पर क्रोध करें और मेरा शासन करें,

ताकि मेरा अपकर्ष होकर श्रीगौरांग का उत्कर्ष स्थापित हो। यह सोचकर श्री आचार्यपाद शान्तिपुर में आकर सभा में भक्ति विरोधी योगवाशिष्ट ग्रन्थ का पाठ सुनाने लगे। सदा भगवत् प्रेम में मत्त रहते हुए भी केवल प्रभु का शासन पाने के लिये भक्ति से बढ़कर ज्ञान का उत्कर्ष प्रतिपादन करने लगे। ज्ञान के बिना विष्णु भक्ति में कोई भी शक्ति नहीं है—इस प्रकार ज्ञान के गुण गाने लगे। श्रीहरिदास जी इनकी बातों को सुनकर हंसने लगे और जान गये कि कोई अद्भुत लीला होने वाली है।

सर्वान्तर्यामी प्रभु नवद्वीप में यह सब जान गए कि आचार्य क्या चाहते हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु को साथ लेकर अचानक शान्तिपुर आ पहुंचे। श्रीगौरांग को आया जान श्रीआचार्य और जोर-जोर से जानबूझ कर ज्ञान की महिमा बखान करने लगे। श्रीहरिदास जी ने प्रभु के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया। श्रीअद्वैत की गृहिणी सीतादेवी ने एवं उनके सुपुत्र श्रीअच्युत ने प्रभु को प्रणाम किया, परन्तु श्रीअद्वैत अद्वैत के नशे में इधर-उधर डोलते रहे। तू भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म, फिर प्रणाम कैसी और किसको ?

श्रीमन्महाप्रभु के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे, कोटि कोटि सूर्यों के समान तेज ! झट इन्हें पकड़ा और पर्यङ्क से घसीट कर अपनी ओर खींच लाये। बोले—क्यों रे बुड्ढे ! ज्ञान बड़ा कि भक्ति ? पतिव्रता सीतादेवी के व्याकुल वचन सुनकर प्रभु ने अपने क्रोध को सम्भाला और कहने लगे—अरे ! मुझे तुम क्यों ले आये यहां ? मैं तो क्षीर सागर में मजे की नींद सो रहा था। जगत् को भक्ति देने के लिए मेरा अवतार ही क्यों कराया ? यदि तुम्हें ज्ञान, माया और तत्त्वमसि की रट लगानी थी। जानते हो, मैं कौन हूँ ? कंस किस ने मारा था, रावण का सर्वनाश किसने किया और हिरण्यकश्यपु का परिणाम जानते हो क्या ? जय हो आचार्यप्रभो ! प्रभु शासन मनोवाञ्छित था आपका, उसे पाकर आनन्द मग्न हो उठे। परमानन्द में नाचने लगे। "प्रभो ! अति सुन्दर ! मेरे अपराध के अनुरूप दण्ड आपने दिया हैं। हे प्रभो ! आपने आज मुझ अपना दास स्वीकार किया है। हे करुणामय ! फिर कभी मेरी स्तुति-पूजा नहीं करना। लोगों के सामने मेरा कभी आदर-सम्मान नहीं करना—यही मेरी आपके चरणों में विनम्र प्रार्थना है। हे करुणामय ! मैं तो अद्वैत हूँ और आपके सिवाय मेरा और कोई भी नहीं है—सदा-सदा का चरणदास हूँ मैं। यह कहकर श्रीअद्वैत श्रीगौरांग के चरणों पर गिर पड़े, और श्रीमहाप्रभु शान्त हो गये, इन्हें उठाकर गले से लगा लिया। अद्भुत कृपा और अनोखी थी तदबीर उसकी प्राप्ति कें लिये—ठीक कहा है कवि ने—

यह सांवरे के मनाने की राह करते हैं।
कि जान-बूझ के कुछ-कुछ गुनाह करते हैं॥

लीला है लीलामय की, दूसरी ओर आप श्रीअद्वैत के प्रति महान सत्कार-सम्मान करते थे। यहां तक कि माता शची को श्रीअद्वैत का अपराधी कहकर श्रीगौरांग ने उस पर कृपा न की। महा प्रकाश लीला में बुला-बुला कर सब पर कृपा की। जब शची माता की बारी आई तो बोले—"यह कहती है, यह अद्वैत कैसा ? यह तो द्वैत की मूर्त्ति है। इसने मेरे पुत्र विश्वरूप को वैरागी बना कर मेरा घर बिगाड़ डाला। इस शची का श्रीअद्वैत के प्रति वैष्णव अपराध है। अत: यह मेरी कृपा को प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं है। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु से माता शची का अपराध क्षमा कराया, फिर उस पर आपने कृपा प्रकाशित की। ऐसा भाव था श्रीमहाप्रभु का आचार्य के प्रति।

संन्यास ग्रहण करने के बाद श्रीमन्महाप्रभु जब राढ़ देश में प्रेमोन्मत्त होकर भ्रमण कर रहे थे। उन्हें दिशा-विदिशा का ज्ञान न था। वे वृन्दावन की ओर जाने लगे तो श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु उन्हें यमुना जी का कहकर गंगा तीर पर ले आये और इधर श्रीचन्द्रशेखर जी को भेज कर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु को बुला भेजा। आप नौका लेकर जब इस पार आये तो श्रीमहाप्रभु इन्हें देखकर चकित हो उठे—आचार्य ! तुम यहां कैसे ? तुम्हें किसने बताया कि मैं वृन्दावन में हूँ ? श्रीआचार्य ने कहा —"**तुमि यांहा सेई वृन्दावन।**" हे प्रभो ! आप जहां रहो, वहां ही वृन्दावन है। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने आपकी वञ्चना नहीं की—आपने जिस पश्चिम धारा में स्नान किया है वह यमुना-धारा ही है। आप महाप्रभु को श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ नौका में बिठाकर अपने घर ले आए। असंख्य व्यञ्जनों का भोग श्रीकृष्ण, श्रीगौरचन्द, श्रीनिताइचान्द को अर्पण किया। दोनों को अतिशय प्रेम-आग्रह से भोजन कराया। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु से आपका अद्भुत प्रेम-कलह हुआ। श्रीनिताईचान्द ने अपने झूठे चावल श्रीअद्वैताचार्य पर दे मारे। ये आनन्द में भर कर नाचने लगे—निताईचान्द ! तुमने मझे आज परम पावन कर दिया। अनेक प्रेम भरे कथनोपकथन के बाद दोनों भाईयों ने वहां अनेक दिन तक निवास किया। प्रतिदिन रात्रि में समस्त भक्तों के सहित श्रीनाम संकीर्त्तन का अद्भुत महोत्सव होता। माता शची तथा नवद्वीप वासी असंख्य नर-नारी वृन्द ने श्रीआचार्य के घर आकर मस्तक-मुण्डित श्रीनिमाई के दर्शन किये थे। यहां से विदा होकर श्रीमहाप्रभु नीलाचल की ओर पधारे थे। श्रीअद्वैत प्रभु अनेक बार नीलाचल रथ-महोत्सव के अवसर पर जाकर श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन करते एवं उनकी लीला-माधुरी का आस्वादन करते।

श्रीहरिदास जब शान्तिपुर निवास कर रहे थे तो श्रीअद्वैत प्रभु उन्हें नित्य भिक्षा कराते। आपने एक दिन श्राद्ध का भोजन भी श्रीहरिदास जी को कराया यह कहकर—"**तुमि खाईले हय कोटि ब्राह्मण-भोजन।**" वैष्णव-निष्ठा एवं सदाचार की पराकाष्ठा थी इनमें।

श्रीजगदानन्द ने जब शान्तिपुर में आकर इनके सामने श्रीमन्महाप्रभु

की दिव्योन्माद-अवस्था का वर्णन किया तो आप भी विह्वल हो उठे। सारी रात श्रीमन्महाप्रभु के गुणों का श्रवण-कीर्त्तन करते बिता दी। आप जान गए कि मैं ने जिस उद्देश्य से प्रभु को जगत् में आविर्भूत कराया था, वह उद्देश्य अब पूर्ण हो चुका है। और ब्रजेन्द्रनन्दन ने भी राधा-भावद्युति सवलित हो अपनी ब्रज की अपूर्ण वाञ्छाओं को पूरा कर लिया है। अब प्रभु नित्य अप्रकट लीला में प्रवेश करना चाहते हैं। इन्होंने श्रीजगदानन्द के साथ एक सन्देश पहेली के रूप में श्रीमन्महाप्रभु को भेजा, जिसका तात्पर्य केवल श्रीमन्महाप्रभु ही जान सके और थोड़े ही दिनों में उन्होंने अप्रकट-लीला में प्रवेश किया। श्रीमन्महाप्रभु के विच्छेद में जो दशा श्रीअद्वैताचार्य की हुई, अवर्णनीय है। उसे सुनकर पत्थर भी चीत्कार करने लगते हैं। सन् १६०७ में श्रीआचार्यपाद ने भी अपनी लीला का संवरण कर लिया।

श्रीसार्वभौम द्वारा रचित—१. श्रीअद्वैत द्वादश नामस्तोत्र, २. श्रीअद्वैताष्टकम् तथा ३. श्री अद्वैताष्टोत्तर शतनाम स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। श्रीअद्वैताचार्यपाद द्वारा रचित श्रीमन्महाप्रभु-प्रत्यङ्ग वर्णन-स्तोत्र भी प्रसिद्ध है श्रीध्यानचन्द्र रचित पद्धति में श्रीअद्वैताचार्य ध्यान, मन्त्र एवं गायत्री का उल्लेख है।

श्रीकृष्णचैतन्यप्रेम-कल्पवृक्ष के दो महान स्कन्ध माने गए हैं। ऊर्ध्व-स्कन्ध रूप है श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु तथा दूसरे स्कन्ध है श्रीअद्वैताचार्य प्रभु। श्रीअद्वैताचार्य स्कन्ध की शाखाओं के रूप में अनेक शिष्यों के नामों का वर्णन मिलता है श्रीचैतन्यचरितामृत आदि लीला द्वादश परिच्छेद में। वे सबके सब कृष्णप्रेम समृद्ध हुए एवं जगत् जीवों को कृष्णभक्ति, हरिनाम-प्रेमदान देकर कृतार्थ किया। कुछ एक शिष्य ऐसे भी हुए जो श्रीअद्वैताचार्यपाद के उस आचरण एवं उपदेश का उद्देश्य न समझ सके, जो इन्होंने श्रीमन्महाप्रभु की कृपा प्राप्ति के लिए अथवा उनका शासन-प्रसाद प्राप्त करने के लिए किया था। अतः वे ज्ञान को ही प्रधानता देने लगे थे। श्रीआचार्यपाद ने उनका परित्याग कर दिया और उन्हें कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी ने 'असारग्राही' कहकर वर्णन किया है।

श्रीलाद्वैत ! जगद्गुरो ! गुणनिधे ! गौरांगदेवप्रिय !
सीतानाथ ! दयासुधार्णव ! विभो ! सद्भक्तिविस्तारक !
हीनार्थाधिकसाधक ! द्विजमणे ! सत्प्रेमहेमाचल !
स्वामिन् ! कातरकिङ्करेषु करुणादृष्टिं मनाङ् निक्षिप ॥

यहां 'देह को त्याग कर' इस वाक्य की आधिक्य भाव से व्याख्या की गई है। वह व्यक्ति देह को त्याग कर पुनर्जन्म नहीं पाता, ठीक है किन्तु बिना देह त्याग किये ही वह भगवान् को प्राप्त करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—मेरे दिव्य जन्म कर्म के यथार्थ ज्ञान से मेरी प्राप्ति के विरोधी सम्पूर्ण पाप विध्वंस हो जाते हैं और इसी जन्म में मेरा आश्रय लेकर एकमात्र मेरा प्रिय भक्त मेरे को ही प्राप्त हो जाता है—ऐसा श्रीपाद रामानुजाचार्य का मत है ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

सारार्थवर्षिणी टीका—न केवलमेक एवाधुनिक एव, मज्जन्मकर्म्मतत्त्वज्ञानमात्रेणैव मां प्राप्नोत्यपि तु प्राक्तना अपि पूर्व्वपूर्व्वकल्पावतीर्णस्य मम जन्मकर्म्मतत्त्वज्ञानवन्तो मामापुरेवेत्याह—वीतेति । "ज्ञानमुक्तलक्षणं मज्जन्मकर्म्मणोस्तत्त्वतोऽनुभवरूपमेव तपस्तेन पूताः" इति श्रीरामानुजाचार्य्यचरणाः । यद्वा, ज्ञाने मज्जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वनिश्चयानुभवे यज्ञानाकुमततर्ककुयुक्तिसर्पीविषदाहसहनरूपं तपस्तेन पूताः; तथा च श्रीरामानुजभाष्यधृता श्रुतिः—"तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति—धीरा धीमन्त एव तस्य योनिं जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः । वीतास्त्यक्ताः कुमतप्रजल्पितेषु जनेषु रागाद्या यैस्ते न तेषु रागः प्रीतिर्नापि तेभ्यो भयं नापि तेषु क्रोधो मद्भक्तानामित्यर्थः । कुतो मन्मया मज्जन्मकर्म्मानुध्यानमननश्रवणकीर्त्तनादिप्रचुराः । मद्भावं मयि प्रेमाणम् ॥ १०॥

अनुवाद—राग, भय और क्रोध से रहित मेरे में एकाग्रचित और मेरे शरणागत होकर बहुत से व्यक्ति ज्ञान और तपस्या से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

तात्पर्य—श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे जन्म कर्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा मेरे इस अवतार काल में कोई विरला एक व्यक्ति मेरे को प्राप्त कर सका हो, ऐसी बात नहीं है; अपितु प्राचीन काल में भी पूर्व-पूर्वकल्पों में अवतीर्ण मेरे जन्म कर्मतत्त्व को जानकर अनेक जन मेरे को प्राप्त कर चुके हैं। ज्ञान-तप से अर्थात् पूर्वोक्त मेरे जन्मकर्म का जो तत्वस्वरूप-अनुभव है, उससे पवित्र हुए हैं—ऐसा श्री रामानुजाचार्यपाद की व्याख्या है। अथवा मेरे जन्म-कर्म की नित्यता का निश्चय सहित अनुभव करने में जो नाना कुमत-कुतर्क-कुयुक्तिरूप सर्पों का विषदाह सहन करना पड़ता है, वही तप है, उससे वह व्यक्ति पवित्र हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्यभाष्य में उद्धृत श्रुतिमें कहा गया है, धीर-बुद्धिमान् पुरुष ही उन श्रीभगवान् की योनि अर्थात् जन्म-प्रकार को जानते हैं। वीतराग वे हैं जिन्होंने कुमत जल्पनाकारी जनों में रागादि छोड़ दिये हैं। अब उनमें राग-प्रीति नहीं है,

तो फिर उनसे भय भी नहीं, क्रोध भी नहीं रहता। इस प्रकार के भक्तजन पवित्र हो चुके हैं, क्योंकि वे भगवान् के जन्म-कर्म-ध्यान-मनन-श्रवण-कीर्तनादि में निरन्तर समासक्त एवं उनके प्रेम में निमग्न रहते हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

सारार्थवर्षिणी टीका—ननु त्वदेकान्तभक्ताः किल त्वज्जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वं मन्यन्त एव, केचित्तु ज्ञानादिसिद्ध्यर्थं त्वां प्रपन्नाः ज्ञानिप्रभृतयस्त्वज्जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वं नापि मन्यन्त इति तत्राह—य इति। यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तेनैव प्रकारेण भजामि, भजनफलं ददामि। अयमर्थः—ये मत्प्रभोर्ज्जन्मकर्म्मणी नित्ये एवेति मनसि कुर्व्वाणास्तत्तल्लीलायामेव कृतमनोरथविशेषा मां भजन्तः सुखयन्त्यहमपीश्वरत्वात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमपि समर्थस्तेषामपि जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वं कर्त्तुं तान् स्वपार्षदीकृत्य तैः सार्द्धमेव यथासमयमवतरन्नन्तर्द्धानश्च तान् प्रतिक्षणमनुगृह्णन्नेव तद्भजनफलं प्रेमाणमेव ददामि। ये ज्ञानप्रभृतयो मज्जन्मकर्म्मणोर्नश्वरत्वं मद्विग्रहस्य मायामयत्वञ्च मन्यमानाः मां प्रपद्यन्ते अहमपि तान् पुनः पुनर्नश्वरजन्मकर्म्मवतो मायापाशपतितानेव कुर्व्वाणस्तत्प्रतिफलं जन्ममृत्युदुःखमेव ददामि। ये तु मज्जन्मकर्म्मयोर्नित्यत्वं मद्विग्रहस्य च सच्चिदानन्दत्वं मन्यमाना ज्ञानिनः स्वज्ञानसिद्धचर्थं मां प्रपद्यन्ते, तेषां स्वदेहद्वयभङ्गमेवेच्छतां मुमुक्षूणामनश्वरं ब्रह्मानन्दमेव सम्पादयन् भजनफलमाविद्यकजन्ममृत्युध्वंसमेव ददामि। तस्मान्न केवलं मद्भक्ता एव मां प्रपद्यन्ते, अपितु सर्व्वशः सर्व्वेऽपि मनुष्या ज्ञानिनः कर्म्मिणो योगिनश्च देवतान्तरोपासकाश्च मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते—मम सर्व्वस्वरूपत्वात् ज्ञानकर्म्मादिकं सर्व्वं मामकमेव वर्त्मेति भावः ॥ ११ ॥

अनुवाद—जो जिस भाव से मेरे को भजते हैं, मैं भी उनको उसी भाव से भजता हूँ। हे पार्थ ! मनुष्यगण सर्व प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण किया करते हैं ॥ ११ ॥

तात्पर्य—अर्जुन ने मानो यह शंका की कि हे भगवन् ! आपके एकान्त भक्त तो आपके जन्मकर्म की नित्यता मानते हैं परन्तु ज्ञानिप्रभृति कुछ जन ज्ञानादि की सिद्धि के लिये ही आपका आश्रय लेते हैं और वे आपके जन्मकर्म की नित्यता स्वीकार नहीं करते। उनका क्या होगा ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं—जिस प्रकार मेरा आश्रय लेकर जो व्यक्ति मेरा भजन करते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार से भजता हूँ अर्थात् उसी प्रकार का भजनफल देता हूँ। जो जन मेरे जन्मकर्म को सर्वथा नित्य मानकर तत्तत लीलाओं में विशेष मनोरथ करते हुए मेरा भजन (सेवा) करते हैं, मैं भी सब कुछ करने, न करने तथा मिटाने में समर्थ ईश्वर होने के कारण उन भक्तों के जन्मकर्म को नित्य बनाने के लिए उन्हें अपना

पार्षद बना लेता हूँ। उनके साथ ही समय-समय पर अवतार लेता हूँ तथा अन्तर्धान होकर उनको प्रतिक्षण अनुग्रहपूर्वक उनके भजनफल प्रेम को ही प्रदान करता हूँ। जो ज्ञानीप्रभृति मेरे जन्म-कर्म की नश्वरता मानते हैं तथा मेरे विग्रह को मायामय मानकर मेरा आश्रय लेते हैं, मैं भी उनको बारबार नश्वरजन्म-कर्म वाले मायापाश में डाल कर उसका प्रतिफल जन्म-मृत्यु-दुःख ही देता हूँ। परन्तु जो ज्ञानीजन मेरे जन्म-कर्म की नित्यता तथा मेरे विग्रह की सच्चिदानन्दमयता मान कर ज्ञान सिद्धि के लिए मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं ऐसे उन स्थूल सूक्ष्म देहद्वय का भंग चाहने वाले मुमुक्षुजनों को ब्रह्मानन्द प्रदान कर उनके अविद्याजनित जन्म-मृत्यु का ध्वंस कर देता हूँ। इस प्रकार केवल मेरे भक्त ही मेरा आश्रय नहीं लेते, अपितु ज्ञानी, कर्मी, योगी तथा अन्य देवों के उपासक सभी मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं, क्योंकि मैं सर्वस्वरूप हूँ इसलिए ज्ञान-कर्मादि सभी मेरे ही मार्ग हैं ।। ११ ।।

काङ्क्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ।।१२।।

सारार्थवर्षिणी टीका—तत्रापि मनुष्येषु मध्ये कामिनस्तु मम साक्षाद्भूतमपि भक्तिमार्गं परिहाय शीघ्रफलसाधकं कर्म्मवर्त्म एवानुवर्त्तन्त इत्याह-काङ्क्षयन्त इति कर्म्मजा सिद्धिःस्वर्गादिमयी ।। १२ ।।

अनुवाद—कर्मों के फल को चाहने वाले इस मनुष्य लोक में देवताओं को पूजते हैं। इसलिये उनके कर्मों के फल की सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है। १२।

तात्पर्य—श्रीभगवान् ने कहा—उन समस्त मनुष्यों में जो सकामी पुरुष हैं वह मेरी साक्षात्स्वरूपा भक्ति के मार्ग को छोड़ कर शीघ्र फलसाधक कर्म पथ का अनुगमन करते हैं। उन्हें मेरी प्राप्ति न होकर कर्मजा सिद्धि अर्थात् स्वर्गादि प्राप्ति रूपा सिद्धि मिल जाती है ।। १२ ।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ।।१३।।

सारार्थवर्षिणी टीका – ननु भक्तिज्ञानमार्गौ मोचकौ,कर्म्ममार्गस्तु बन्धकाइति सर्व्वमार्गस्रष्टरि त्वयि परमेश्वरे वैषम्यं प्रसक्तम्,तत्र न हि नहीत्याह-चातुर्व्वर्ण्यमिति। चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्—स्वार्थे ष्यञ्। अत्र सत्त्वप्रधाना- ब्राह्मणास्तेषां शमदमादीनि कर्म्माणि; रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां शौर्य्ययुद्धादीनि कर्म्माणि, तमोरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिगोरक्षादीनि कर्म्माणि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां परिचर्य्यात्मकं कर्म्मेत्येवं गुणकर्म्मविभागशो गुणानां कर्म्मणाञ्च विभागैश्चत्वारो वर्णा मया कर्म्ममार्गाश्रितत्वेन सृष्टाः। किन्तु तेषां कर्त्तारं स्रष्टारमपि मामकर्त्ता-

रमस्रष्टारमेव विद्धि, तेषाँ प्रकृतिगुणसृष्टत्वात् प्रकृतेश्च मच्छक्तित्वात्, स्रष्टारमपि माँ वस्तुतस्त्वस्रष्टारन्, मम प्रकृतिगुणातीतस्वरूपत्वादिति भावः। अतएवाव्ययम्—स्रष्टृत्वेऽपि न मे साम्यं किञ्चिद्व्येर्त त्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मणादि चारों वर्ग मेरे द्वारा ही रचे गये हैं, उन सबका कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को अकर्ता ही समझ ॥ १३ ॥

तात्पर्य—अर्जुन ने कहा—आपके भक्ति और ज्ञानमार्ग तो मुक्तिदाता हैं परन्तु कर्ममार्ग बन्धनकारक है, सर्व मार्ग के स्रष्टा आप परमेश्वर में यह विषमता कैसे ? इस उत्तर में कहते हैं—चार वर्णों में सत्वप्रधान ब्राह्मणों के शम-दमादि कर्म, रजःसत्व प्रधान क्षत्रियों के शौर्य-युद्धादि कर्म, तमःरजः प्रधान वैश्यों के कृषि-गोरक्षादि कर्म और तमः प्रधान शूद्रों के परिचर्यात्मिक कर्म—इस प्रकार गुण और कर्म विभागों के द्वारा चारों वर्ण कर्म मार्ग के आश्रित रूप से मैंने बनाये हैं। किन्तु उनका कर्ता होने पर भी मेरे को अकर्ता ही समझ। प्रकृति के गुणों से उनकी सृष्टि हुई है तथा प्रकृति मेरी शक्ति है। इसलिये कर्ता (स्रष्टा) होने पर भी मेरा स्वरूप प्रकृति के गुणों से अतीत है। इस प्रकार स्रष्टा होता हुआ भी मैं वस्तुतः अस्रष्टा ही हूँ। इसलिये सृष्टि के कर्ता होने पर भी मेरे में से कुछ भी व्यय नहीं होता है, मैं अव्यय रूप में ही स्थित रहता हूँ ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

सारार्थवर्षिणी टीका—नन्वेतत्तावदास्ताम्, सम्प्रति त्वं क्षत्रियकुलेऽवतीर्णः क्षत्रियजात्युचितानि कर्म्माणि प्रत्यहं करोष्येव, तत्र का वार्त्तेत्यत आह—न मामिति। न लिम्पन्ति जीवमिव न लिप्तीकुर्व्वन्ति, नापि जीवस्येव कर्म्मफले स्वर्गादौ स्पृहा, परमेश्वरत्वेन स्वानन्दपूर्णत्वेऽपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव मे कर्म्मादिकरणमिति भावः। इति—मामिति, यस्तु न जानाति स कर्म्मभिर्बध्यत इति भावः॥१४॥

अनुवाद—कर्म समूह मेरे को लिप्त, अर्थात् आसक्त नहीं कर सकते, कर्मों के फलों में मेरी स्पृहा नहीं है, इस प्रकार जो मेरे को जानता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता ॥ १४ ॥

तात्पर्य—अर्जुन ने कहा—ठीक है आपकी बात, परन्तु अब तो आप क्षत्रियवंश में अवतीर्ण हुए हैं, क्षत्रिय जाति के उचित कर्म प्रतिदिन आप करते हैं। फिर आपको अकर्त्ता कैसे मान लूँ ? इसके उत्तर में कहते हैं। जीव के समान मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। जीव के समान कर्म के फल स्वर्गादिकी स्पृहा भी मुझे नहीं है। परमेश्वर होने से मैं निजानन्द में पूर्ण हूँ, तथापि लोक प्रवर्तन के लिये मैं कर्म करता हूँ। मेरे इस स्वरूप को जो नहीं जानता वह कर्मों से बँधता है ॥१४॥

सांवरी छद्म लीला

तेरी छबि निहार छकि गई जो प्रेम,
बिसरे सब कुल कृत धर्म नेम।
गहबन विचरूं तज लोक लाज ॥
भले नाम धरो सब पुरुष नारि।
उनसौं का ललित लड़ैती काज ॥ २१ ॥

समाजी वचन [राग देश सोरठ]

रह सुनि के हरषी हिये प्यारी,
भरी अंक साँवरी सुकुमारी।
सखी लै बलैयां होय बलिहारी ॥
परसत अंग तन की दशा बदली,
इक संग दबाई मदन छली।
भूली सुधि बुधि भई मतवारी ॥
इत ललित लड़ैती रही निहार,
कोस्तुभ मणि की पर गई चिन्हार।
नहीं सांवरी यह वोही बनवारी ॥ २२ ॥

सखी वचन परस्पर [राग मल्हार वा दादरा पीलूका जि०]

देखौरी भयो कौतुक भारी।
हम जानी भोरी ब्रज,भामिन यह निकस्यौ छलिया बनवारी।
कैधौं या पै जादू जंत्र कोउ कैधौं तंत्र देत भरमारी।
कै या पै बसीकरन मोहिनी जासों करत वावरी सारी।
नैक हूं छद्म जाय नहिं जान्यौ ऐसो यह लंगर छलवारी।
ललित लड़ैती एक दृष्टि में मोहे सबरे सुरनर नारी ॥ २३ ॥

समाजी वचन [दोहा]

राजकुमारि हंसि हंसि परत देखि छली छल छन्द।
देत असीस सकल सखी अचल रहौ दोऊ चन्द ॥ २४ ॥

[वार्तिक]

तब प्रीतम मुसिक्याय के बोले,हे प्यारी हमने काहू के मुख तें सुनी हुती या बाग में लुगाई ही रही आवें,पुरुष की गम नाहि,याहि लिये नागरी भेष धारिके आपके देखिवे कारणआयौ। श्रीजी ने कही,सो तो हम पहिले विचार रहीं ॥ २५ ॥

[दोहा]

गाई यह लीला नई दम्पति हास विलास।
ललित लड़ैती सुनें तें होवैं कारज रास ॥ १६ ॥

इति श्री सांवरी छद्म लीला।

सांवरी सखी की छद्म लीला

[दोहा]

प्रात समय घर ते चले धूर्त्त शिरोमणि छैल।
तिया भेष धरके फिरत राजभवन की गैल ॥ १ ॥

सांँवरी सखी वचन द्वार सखी प्र० [दोहा]

भूप पौरि पै जायके कही साँवरी नारि।
खबरि वेग करि राज घर अरी सहचरी द्वार ॥ २ ॥

सखी वचन श्रीजी प्र० [दोहा]

बड़ भाग या नगर मे आई इक नव बाम।
निपट सलौने नैन जो देखन की अभिराम ॥ ३ ॥

श्रीजी वचन सखी प्र० [दोहा]

जा लिवाय ला भवन में दे आदर सनमान।
हमहूं देखें री सखी ऐसी रूप निधान ॥ ४ ॥

सखी वचन साँवरी सखी प्र० [दोहा]

चलरी मेरे संग तू याद करी बलिहार।
प्यारी के ढिग बैठिके कछु चर्चा विस्तार ॥ ५ ॥

समाजी वचन [दोहा]

कोमल चित मिल प्रियासौं होत अधिक आधीन।
भई अचरज सगरी सखी लखि नई बैस नवीन ॥ ६ ॥

सखी वचन साँवरी सखी प्र० [दोहा]

चन्दहू जोहै छबि बदन ऐसी निपट नवीन।
धन्य दई की तू रची करत हमें आधीन ॥ ७ ॥

[वार्त्तिक]

जब सखीजन साँवरी की अधिक बड़ाई करके हँसवे लगीं—वाने उदास है के मुख फेर लियो, तब प्रियाजी बोलीं ॥ ८ ॥

श्रीजी वचन साँवरी सखी प्र० [राग आसावरी वा जंगला को जि०]

तू उदास जिनि हो सुकुमारी।
यह अति ही भोरी ब्रज वासिन हास प्रेम इन गोप कुमारी।
देखि नई भामिन गज गामिन होय रहीं सब कौतुक भारी।
ललित लड़ैती परम मोहिनो तू मोहि लगत प्राण तें प्यारी ॥ ९ ॥

[पद सोरठ का जिला]

तू नैनन कूं सुख देत वीर,
चित कूं ऐंचत नई छवि सरीर।

तेरे अंगन ह्वै रही भ्रमर भीर।
कहां लौं बरणों तेरी शोभा रूप,
वारूं तो पै नव सुता भूप।
तोहि देखि कौन मन धरै धीर ॥
अचरज सौं ललित लड़ैती लगत,
ऊँचौ ललाट तेरौ भाग्य लसत।
डोलत इकली द्दग चलत नीर ॥ १० ॥

साँवरी सखी वचन श्रीजी प्र० [राग देश सोरठ]

प्यारी मोकूं प्रिय युवतिन समाज।
याहि तें डोलूं तज लोक लाज।
घर बार सों मेरो कौन काज।
नित डगर बगर निरभय विचरूं,
नई बधुअन सौं नेह प्रीति करूं।
मानूं या में सुख अधिक साज।
घर बैठि त्रिया तलफत ज्यौं मीन,
यद्यपि नृप तनया पराधीन।
मेरौ ललित लड़ैती अभय राज ॥ ११ ॥

श्रीजी वचन साँवरी सखी प्रति [राग कान्हरा बागेसरी वा व० पी० जि०]

नित उठिके तू घर-घर डौलैरी।
सुन्दर परम ऊजरे तनकी डगर चलत अपनी छबि तोलैरी।
योगी कीसी देत है फेरी कबूं मौन मुख कबहूं बोलैरी।
प्रीति लगाय करें कहा तो सों ललित लड़ैती भाव न खोलैरी ॥ १२ ॥

सांवरी सखी वचन श्रीजी प्र० [राग आसावरी वा जंगला० जि०]

ऐसे वचन कहौ जिन प्यारी।
धक पक होय जिय में मेरे श्रवण करत यह बात तिहारी।
तुमसी कौन कृपाल जगत में सीलवंत हित करने हारी।
निर्मल प्रीति करी तुम मोसों ललित लड़ैती जाय न टारी ॥ १३ ॥

समाजी वचन [राग झंझौटी वा बरिवे पीलूं का जि०]

यह सुनि मुदित भई जिय प्यारी।
घर बैठे निधि पायके फूली अंक भरो साँवरी सुकुमारी।
परसत अंग दशा बदली तन घबराई लखि राज दुलारी।
ललित लड़ैती यह भयौ कौतुक देखि सखी होवत बलिहारी ॥ १४ ॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [राग आसावरी का जि० वा ब० पी० जि०]

याही भली विधि तुम परखौरी।
या में दीसत छल चतुराई हम अति भोरी गोप किशोरी।

चंचल नैन सैन सों बतियाँ अधरन हँसत करत चित चोरी।
ललित लड़ैती बिन समझे यों गरवी प्रीति न दीजै तोरी ॥ १५ ॥

[वार्त्तिक]

तब ललिता श्रीप्रिया जी की उतीरन अंगिया लेके साँवरी सखी को पहिरायवे लगी ॥ १६ ॥

[राग छद्म कालिंगड़ा]

ललिता लगी पहिरावन चोली।
जबहिं स्वरूप प्रकाश्यौ अपनौ अति सुन्दर छबि जाय न तोली ॥
हैं यह नन्द किशोर साँवरो अली सुजान प्रिय सौं यह बोली।
ललित लड़ैती हँसी सखिन संग मची भवन में धूम ठठोली ॥ १७॥

[दोहा]

यह लीला गाई नई जामें कौतुक प्रेम।
दरसावत रसिकन गली जहां नहीं कछु नेम ॥ १८ ॥

इति साँवरी सखी छद्म लीला

★

नवल सखी की छद्म लीला

समाजी वचन [दोहा]

श्याम सखी को भेष धरि चले गली वृषभान।
सुन्दर फुलवारी निरख बैठ रहे छबि खान ॥ १ ॥

सखी वचन श्रीजी प्र० [राग जैजैवंती वा आसावरी]

आई कहूं ते बाल नवेली।
बेर बेर ले नाम तिहारो कहिलावो मेरी मन मेली ॥
परदा की सी तरुण पद्मिनी संग साथ न सखी सहेली।
ललित लड़ैती जानि परत नहिं काहे घर तज फिरत अकेली ॥ २ ॥

[वार्त्तिक]

तब श्रीजी ने बूझी—वह ऐसी है कहा—पुनि सखी बोली ॥ ३ ॥

[राग देश सोरठ]

प्यारी निपट रसीले वचन कहत।
हंसि मुसिक्यावत मानो फूल झरत।
निज नैन सैन सों मन को हरत।
रही घूघंट पट सौं वदन ढाँप।
पर पुरुष बचन सुनि उठति काँप।
वह अति ही लजीली दृष्टि परत।
है कुलवंत न दिखात अंग।

※ श्री श्री कृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ※

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

सर्वमङ्गलमङ्गल्यमायुष्यं व्याधिनाशनम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं दिव्यं वासुदेवस्य कीर्त्तनम्॥
परिहासोपहासाद्यैर्विष्णोर्गृह्णन्ति नाम ये।
कृतार्थास्तेऽपि मनुजास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥ ※

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९७, अप्रैल १९८२ { अंक ४

राम जपु राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव नीरनिधि नाम निज नाव रे॥
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि रोग जोग संशय समाधि रे॥
भलो जो है पोच जो है दाहिनो जो वाम रे।
राम नामही सों अन्त सबही को काम रे॥
जग नभ बाटिका रही है फलि फूल रे।
धुवां कैसे धौरहर देखि तू न भूल रे॥
राम नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
"तुलसी' परोसो त्यागि मांगै कूर कौर रे॥

※ श्रीकृष्ण के नाम-कीर्तन से समस्त मङ्गलों की प्राप्ति होती है एवं आयु-वृद्धि, रोगों का विनाश होता है। हर प्रकार के भोग तथा मुक्ति और दिव्य--लोकातीत वैकुण्ठधाम की प्राप्ति होती है। परिहास अथवा तिरस्कार करते हुए भी जिस मनुष्य के मुख से श्रीकृष्णनाम उच्चारित होता है, वह मनुष्य कृतकृत्य या धन्य है, अतः उसको भी बारम्बार नमस्कार है॥

श्रीहरिभक्तिविलास ११।१९०।१९१

साधक ! सावधान !!

★

★ श्रीनाम-संकीर्तन सदा-सर्वदा-नित्य भगवत्-प्राप्ति का परम उपाय है।

★ श्रीनाम संकीर्तन चारों युगों में सर्वोपरि साध्य-साधन है।

★ कलियुग में तो एक मात्र श्रीनाम संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ साधन है।

★ श्रीकृष्ण स्वयं कलि में श्रीनाम संकीर्तन करते हैं, अतः कलि में इसकी समधिक विशेषता है।

★ श्रीनाम संकीर्तन से समस्त पाप नाश हो जाते हैं।

★ जाने-अजाने श्रीनाम संकीर्तन अपना फल प्रदान करता है।

★ श्रीनाम-संकीर्तन किसी विधि-निषेध की अपेक्षा नहीं रखता।

★ सर्वावस्था, सर्वकाल में श्रीनाम संकीर्तन किया जा सकता है।

★ श्रीनाम संकीर्तन का आनुषङ्गिक फल है पाप-नाश।

★ श्रीनाम संकीर्तन का मुख्य फल है कृष्णप्रेम जो श्रीकृष्ण–प्राप्ति का मूल कारण है।

★ अपराध रहित होकर श्रीनाम संकीर्तन करने से प्रेम की प्राप्ति होती है।

★ श्रीनाम संकीर्तन अपराधों का विचार अवश्य करता है।

★ अपराधी पुरुष में श्रीनाम संकीर्तन का मुख्य फल कृष्णप्रेम आविर्भूत नहीं होता।

★ श्रीनाम संकीर्तन भक्ति के समस्त अङ्गों को पुष्ट करता है।

★ श्रीनाम संकीर्तन कर्म, योग-ज्ञानादि साधनों का फल प्रदान करता है।

★ समस्त फल प्रदान करने में श्रीनाम संकीर्तन निरपेक्ष एवं परम स्वतन्त्र है। किन्तु श्रीनाम संकीर्तन के बिना कर्म-योग-ज्ञानादि अपना भी फल प्रदान करने में सक्षम नहीं हैं।

★ श्रीनाम संकीर्तन सकामी, मुमुक्ष एवं योगसिद्धि चाहने वालों का मनोभीष्ट पूर्ण करने में सर्व समर्थ है।

★ श्रीनाम संकीर्तन का आभास मात्र मुक्ति देने वाला है।

★ श्रीनाम संकीर्तन प्राकृतेन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है।

★ श्रीनाम संकीर्तन आश्रय लेने वाले की जिह्वा पर स्वतः करुणापूवक स्फुरित होता है।

★ नृत्य पूर्वक श्रद्धासहित श्रीनाम संकीर्तन करने वाले मनुष्य के आधीन रहते हैं श्री भगवान्।

श्री श्रीकृष्णचैतन्य देव के जयन्ती महोत्सव उपलक्ष्य में
श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन के
बीसवें वार्षिकोत्सव

श्री हरिनाम संकीर्तन सम्मेलन का दिग्दर्शन

परम करुणामय राधा-भाव-द्युति-सुवलित श्रीकृष्ण स्वरूप, प्रेम-पुरुषोत्तम कलियुग पावनावतार भगवान् श्रीकृष्णचैनन्यदेव के परम मंगलमय विश्वपावन ४९७ वें आविर्भाव-महोत्सवोपलक्ष्य में मण्डल का बीसवां वार्षिकोत्सव फाल्गुन शुक्ल एकादशी से त्रयोदशी तक तदनुसार ६ मार्च दिनांक शनिवार से ८ मार्च दिनांक सोमवार तक बसन्तीवाई धर्मशाला में पूर्ण समारोह से मनाया गया—

दिनांक ६ मार्च प्रातः काल ८ बजे श्रीमन्नित्यानन्दप्रभुपाद-वंशोदभव प्रभुपाद गोस्वामी श्रीअपूर्वानन्दजी महाराज द्वारा मङ्गल-घट की स्थापना की गई। घट स्थापन, श्रीगणेशपूजन-स्वस्तिवाचन आदि पूजा कार्य सम्पन्न कराये पं० श्री विधिचन्द जी तथा पं० श्रीवलराम जी मिश्र ने। अनेक वैष्णवों द्वारा सम्मिलित 'हरेकृष्ण' महामन्त्र की सस्वर मधुरध्वनि से पिण्डाल गूँज रहा था। मण्डल के सदस्यों के साथ-साथ श्रीसत्यनारायण जी अग्रवाल (दिल्ली) श्रीशुभकरण जी धरणीधरका (वम्वई), श्रीकाशीप्रसाद जी श्रीवास्तव (जयपुर) श्रीव्रजराजसिंह जी (अहमदाबाद) तथा डा० श्रीमोतीलाल जी गुप्त (भरतपुर) ने पूजा कार्य में सम्मिलित होकर महोत्सव के शुभाधिवास को सुशोभित किया।

तदुपरान्त सम्मिलित श्रीनाम संकीर्तन के बाद 'श्रीहरिबाबा गौरांग-कृष्ण-लीला मण्डल, वृन्दावन के संस्थापक स्वामी श्रीकृष्णलाल गिरिराज प्रसाद शर्मा की मण्डली द्वारा श्रीगौरांग लीलान्तर्गत बाल्यलीला का अनुकरण दर्शन सबने किया। श्रीगौरांग ने एव तैर्थिक ब्राह्मण पर कृपा की। वह ब्राह्मण स्वयं-पाकी है। रसोई वनाकर अपने श्रीगोपाल का ध्यान कर उन्हें भोग अर्पण करता है। परन्तु साक्षात् गौर गोपाल ही आकर उसके भोग को पाने लगते हैं। अति क्रोधित हो उठता है यह देखकर कि मिश्र जगन्नाथ के शिशु ने मेरी रसोई अपवित्र कर दी एवं भगवान् गोपाल का भोग झूँठा कर दिया। श्रीमिश्रजी के आग्रह पर एक बार नहीं, दो

बार रसोई पुनः बनाता है, परन्तु श्रीगौरांग आकर भोग लगाते हैं। पं० जगन्नाथ मिश्र भी अति दुःखी होते हैं। श्रीगौरांग को एक कमरे में बन्द कर दिया जाता है। परन्तु अब भी वह ब्राह्मण ध्यान करते ही गौरांग-गोपाल को भोजन करते देखता है। तब श्रीगौरांग उसे अपने निजस्वरूप का दर्शन कराते हैं। उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती—उन्हें साक्षात् अपना इष्टदेव श्रीगोपालकृष्ण जान कर साष्टांग प्रणाम करता है एवं प्रसाद ग्रहण कर कृतार्थ हो जाता है। इस लीला में श्रीमहाप्रभु अपने कृष्णस्वरूप का दर्शन उस तैर्थिक ब्राह्मण को दिखाते हैं।

इसी दिन बाल्यलीला के अन्तर्गत दूसरी लीला का भी सबने आस्वादन किया—अलंकारों से विभूषित श्रीगौरांग को दो चोर उठा ले जाते हैं। जाना चाहते हैं वे जङ्गल की ओर, परन्तु लौट आते हैं माता शची के घर पर। कन्धे पर विराजमान कराने वाले वे चोर प्रभु की महिमा को देखकर दंग रह जाते हैं। समस्त पाप दुराचारों को छोड़ एक महत् पुरुषों के रूप में उनका जीवन पलट जाता है श्रीबाल गौरांग के स्पर्श-दर्श से।

इसी प्रकार दूसरे दिन गया-गमन लीला का सबने दर्शन किया—इस लीला में श्रीमन्महाप्रभु ने तीर्थों में जाकर वैष्णवपुजारी आदि सब लोगों की निन्दा से रहित होकर दर्शन करने की शिक्षा प्रदान की।

आपने परम भागवत श्रीईश्वरपुरी जी महाराज को पहले श्रीगोपाल मन्त्र सुना कर पुनः उन से श्रीगोपाल मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की। साधक समाज के लिए गुरुपादाश्रय अनिवार्य रूप में ग्रहण करने का आदर्श स्थापन करते हुए यह दिखाया कि श्रीगुरुदीक्षा के बाद भगवत्प्रेम-भक्ति का उद्गम सहज में हो उठता है। दीक्षा के बाद श्रीमन्महाप्रभु कृष्ण-प्रेम में व्याकुल हो उठते हैं एवं सर्वत्र उन्हें श्रीकृष्ण-स्फूर्ति होने लगती है। जब नवद्वीप वापिस लौटे तो अब वे चञ्चल निमाई पण्डित न थे; थे एक कृष्णप्रेमोन्मत परम भागवत।

तीसरे दिन भी श्रीगौरलीलान्तर्गत 'नाम संकीर्तन आरम्भ' लीला का प्रदर्शन हुआ। गया से लौट कर श्रीमहाप्रभु ने अपनी यात्रा का सब विवरण कह सुनाया किन्तु बीच-बीच में 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर बेसुध हो जाते थे। सबको प्रभु ने श्रीकृष्ण नाम संकीर्तन में प्रवृत कराया। सब विद्यार्थी समाज को एक मात्र कृष्ण-नाम का पाठ पढ़ाकर नवद्वीप में ही नहीं, सर्वत्र श्रीकृष्णनामामृत का सागर प्लावित कर दिया।

इस प्रकार तीनों दिन प्रातःकाल के कार्यक्रम में श्री श्री गौरसुन्दर की लीलाओं का दर्शन कर असंख्य नर-नारी गौर प्रेम में विभोर हो उठे।

अन्तिम दिन श्रीप्रिया-प्रीतम की होली का भी दर्शन हुआ एवं ब्रजलोक गीत एवं रसिया नृत्य-गान के साथ प्रातःकालीन आयोजन समाप्त हुए।

मध्याह्नोत्तर की विशाल-सभायें

इन सभाओं में तीनों दिन अनेक आचार्य, सन्त एवं विद्वद् प्रवक्ताओं ने अपने सारगर्भित प्रवचनों से भक्तसमाज को आनन्दित किया। प्रवक्तावृन्द के प्रवचनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

बाबा श्रीगणेशदास जी भक्तमाली आपने श्रीवृन्दावन धाम के नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा—"**धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च।**"—श्रीवृन्दावन में आकर भक्तिरानी परम सुन्दर स्वरूप को प्राप्त करती है और यहां नृत्य करती रहती है। अतः यह श्रीवृन्दावन धन्य है। साधन भूमि होते हुए भी यह परम साध्य भूमि है। यहाँ अनायास सत्संग अर्थात् भगवद्भक्तों का सङ्ग प्राप्त होता है। महत्सङ्ग प्राप्त होता है। सत्सङ्ग ही भक्ति का जन्म मूल है—**कृष्ण-भक्ति जन्ममूल हय साधुसङ्ग।**" आपने आगे बताया—साधुसंग जिस प्रकार भक्ति के उदय का कारण है, उसी प्रकार साधनों में भी उसकी परम आवश्यकता है, यहां तक कि सिद्ध अवस्था में भी सत्सङ्ग निरन्तर विद्यमान रहता है—परम आस्वादनीय होता है।

सत्सङ्ग के प्रभाव का वर्णन करते हुए आपने श्रीप्रियादास जी के एक कवित्त का उल्लेख किया -

भक्तितरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरीहू कौ, बारिदै विचार वारि सींच्यो सत्संग सों।
लाग्योई बढ़न, गोंदा चहुँदिशि कढ़न, सो चढ़न अकाश, यश फैल्यो बहुरंग सों।
संत उर आल-बाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सों।
देखौ बढ़बारि जाहि अजाहू की शंका हुती, ताहि पेड़ बांधे झूमें हाथी जीते जंग सों॥

किसी महत् पुरुष की कृपा से भक्ति का बीज जब किसी मनुष्य के हृदय में रोपण होता है तो भक्ति उस समय एक नवीन छोटे से पौधे की तरह फूट निकलती है। जैसे छोटे पौधे की बकरी आदि पशुओं से हानि की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार इस नवीन भक्ति पौधे को भी अजा अर्थात् बकरी या माया द्वारा विघ्न पैदा होकर नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

नये पौधे की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बारी या घेरा बना दिया जाता है, उसी प्रकार भक्ति की रक्षा के लिए सद्-असद् विचार का घेरा लगाना जरूरी है अर्थात् भगवत् स्वरूप का ज्ञान तथा जीव-जगत के स्वरूप का विचार रखते हुए भक्ति की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु केवल घेरा लगा देना पौधे के लिए काफी नहीं होता, उसे पानी से सीचना बहुत आवश्यक है। यहां भक्तिरूपी पौधा को सत्सङ्गरूपी जल से सींचना अति आवश्यक है। जल के बिना जैसे कोई भी पौधा फल-फूल नहीं सकता, उसी प्रकार सत्सङ्ग के बिना भक्ति कभी फल-फूल नहीं सकती। भक्ति का प्राण है सत्सङ्ग। सत्सङ्ग के द्वारा भक्ति रूपी पौधा बढ़ने लगता है और सरल साधु-हृदय साधक के हृदय में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण

कर लेता है। उस भक्तिरूपी वृक्ष की छाया में आकर संसार के तापों से संतप्त अनेक जीव विश्राम पाते हैं। परमानन्द का अनुभव करते हैं। जिस के हृदय में भक्ति सुदृढ़ रूप से आविर्भूत हो उठती है, उस के प्रभाव से, उसके संग से अनेक जीवों को शांति प्राप्त होती है। जैसे सुदृढ़ वृक्ष का बड़े-बड़े हाथी भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। बल्कि उससे बन्धे रहते हैं। उन का कोई जोर-जबर उस पर नहीं चलता। उसी प्रकार भक्ति की दृढ़ता हो जाने पर काम-क्रोध-लोभ-मोहादि बलवान शत्रु भी भक्त का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उस भक्तिवृक्ष में समय पाकर प्रेमरूपी फल लगता है, जिसके द्वारा भक्त श्रीभगवान् की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

इसके बाद श्रीबाबा महाराज ने भक्ति के मुख्य अङ्ग श्रीनामाश्रय के सम्बन्ध में भी विवेचना की। उन्होंने बताया अनेक भक्त ऐसे भी हुए हैं जो नाम ग्रहण को छिपा कर रखते हैं और अन्तर्निष्ठ रहते हैं। और अनेक ऐसे भक्त हैं जो उच्च स्वर से श्रीनाम का उच्चारण करने में निष्ठा रखते हैं। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव ने तथा उनके अनुयायी गोस्वामिवृन्द ने उच्चनाम ग्रहण का ही उत्कर्ष स्थापन किया है। क्योंकि श्रवण तथा कीर्तन भक्ति के दोनों अङ्ग एक साथ अनुष्ठित होते हैं। विशेषत: स्थावर-जङ्गम समस्त का कल्याण उच्च श्री नाम संकीर्तन से सम्पादन होता है। उच्चनाम गान से सर्व दिशाओं से वृत्ति सिमट कर मन एकाग्र होकर श्रीनामी में आविष्ट हो जाता है और प्रेमोदय में सहज सहायता मिलती है।

गोस्वामी श्रीपीयूष जी—ने श्रीमन्नारायण-नारायण की नाम ध्वनि करते हुए कहा, श्रीभगवान् ही नाम-स्मृति की जीवन है और विस्मृति मृत्यु है। भगवत् स्मृति के बिना जीवन निरर्थक है।

आपने कहा भगवान् श्रीकृष्ण ने युद्ध के मैदान में भी श्रीअर्जुन के प्रति यही कहा कि— हे अर्जुन ! तू हर समय निरन्तर मेरा स्मरण कर, युद्ध भी कर अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्मों का या प्रकृत कर्मों का आचरण भी कर, और मेरा स्मरण करता रह। मेरे स्मरण द्वारा अपने मन को मेरे अर्पण कर दे। अपनी बुद्धि को मुझ में लगा दे, फिर नि:सन्देह तू मेरे को प्राप्त होगा—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

श्रीभगवान् ने आगे कहा—हे पार्थ ! मेरे नाम-स्मरण के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास के द्वारा मन फिर किसी और विषय की ओर नहीं भागता। इस प्रकार मेरा चिन्तन करते हुए मुझ मायातीत परम पुरुष की प्राप्ति होती है।

श्रीगोस्वामी जी ने आगे कहा—श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला-धाम

का निरन्तर चिन्तन ही उनका स्मरण है, उस में भी नाम-स्मरण का सर्वोत्कर्ष है, क्योंकि नाम के स्मरण से उनके रूप-गुण-लीला-धाम की अपने-आप स्मृति जाग उठती है। अतः नाम का एक अपूर्व वैशिष्ट्य है। उन्होंने कहा—सच्चिदानन्द पर-तत्व की दो रूपों में अभिव्यक्ति है—एक तो ब्रह्म रूप में अर्थात् निर्विशेष निराकार अव्यक्तशक्तिक एवं ज्योति स्वरूप में। दूसरे, सविशेष, साकार, सर्वशक्तिमान स्वरूप राघवेन्द्र श्रीराम, श्रीकृष्णादि स्वरूपों में। किन्तु ब्रह्म अर्थात् निराकार स्वरूप तथा श्रीराम अर्थात् साकार स्वरूप, इन दोनों से श्रीनाम की सर्वाधिक विशेषता है। निर्गुण तथा सगुण दोनों स्वरूपों की प्राप्ति जीव के लिए सहज में नहीं होती। दोनों स्वरूप अगम एवं दुरुह हैं, किन्तु श्रीनाम के द्वारा ये दोनों स्वरूप सुगम हो जाते हैं—

उभय अगम जुग सुगम नाम ते।
कहेऊं नामु बड़ ब्रह्म राम ते॥"

इसलिए श्रीमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कहा कि—

ब्रह्म राम ते नामु बड़ वरदायक वर दानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिए महेस जिय जानि॥

ब्रह्म(निराकार-निर्विशेष) स्वरूप से तथा श्रीराम(साकार-सविशेष स्वरूप) से श्रीनाम बड़ा है, वरप्रदाताओं को भी वर प्रदान करने वाला है, अर्थात् वर प्रदाता श्रीरामनाम की ही कृपा से वर प्रदान करते हैं।

श्रीगोस्वामीपाद ने श्रीकबीर जी के निम्नोल्लिखित दोहे से नाम तत्व को न जानने वाले लोगों में जो भ्रांति पैदा होती है, उसका युक्तिपूर्वक समाधान किया। श्रीकबीर जी ने लिखा है—

माला फेरत युग गया गया न मन का फेर।
कर का मनका छोड़ दे मनका मनका फेर॥

साधारण लोग इसका यही अर्थ लगा लेते हैं, माला फेरने से क्या लाभ? जब तक मन श्रीभगवान् की ओर नहीं घूमता, माला फेरना निरर्थक है। इसलिए माला-फेरना छोड़ कर मन को भगवान् की ओर घुमाना चाहिए।

श्रीकबीर जी की वाणी परम सत्य है, किन्तु उनका तात्पर्य माला फेरने के त्याग में नहीं है। उनका जोर है कि मन लगाकर श्रीभगवान् के नाम की माला फेरी जाए। उनका स्मरण पूर्णमनोयोग से किया जाना चाहिए।

विचार पूर्वक देखा जाए तो साधक-अवस्था में भगवन्नाम के स्मरण का उद्देश्य ही है मन को सांसारिक विषयों से हटा कर श्रीभगवान् में निविष्ट करना यदि किसी के मन का आवेश श्रीभगवान् में पूरी तरह है, तो उसके लिए फिर माला फेरने का क्या प्रयोजन? उसके हृदय में तो स्वतः ही श्रीनामी अपने नाम-गुण-लीला-धाम सहित सतत् निवास करते हैं। एक रागी अपने मधुर कण्ठ से

गान या राग का आलाप करता है, फिर उसे बाजे, तानपूरा या तबला आदि किसी वाद्य की क्या जरूरत ? परन्तु देखा जाता है कि वाद्य उस रागालाप में पूर्ण सहायक होते हैं। उसकी स्वरताल मनोवृत्ति को स्थिर किये रहते हैं, उसी प्रकार माला के मनकों पर जो श्रीनाम का स्मरण है, वह नामाश्रय-ग्रहणकारी के मनोभिनिवेश में निश्चञ्चलता तथा स्थिरता में पूर्ण सहायक होता है।

आगे श्रीपीयूष जी ने कहा—श्रीभगवान् की भक्ति के अनुशीलन की जो बात कही गई है, वहां मन से, वाणी से तथा शरीर से—मनसा-वाचा-कर्मणा भक्ति के अनुष्ठानों का आदेश किया गया है। श्रीनामग्रहण में जहाँ मन द्वारा अभिनिवेश तथा वाणी द्वारा नामोच्चारण की आवश्यकता है तो शरीर द्वारा या क्रिया द्वारा तुलसीमाला का फेरना भी कोई आपत्तिजनक नहीं हो सकता। अतः श्रीकबीर जी के बचनों का यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि नामग्रहण में माला निषिद्ध है या जब तक मन इधर-उधर घूमता है तब तक नामग्रहण का कोई लाभ नहीं, या वह चिन्तन वास्तविक चिन्तन नहीं है। मन के फेरने के लिए माला का फेरना भी उतना आवश्यक है जितना एक ध्यान करने वाले योगी के लिए एकान्त स्थान।

उन्होंने आगे कहा—श्रीनामस्मरण में तो कोई विधि या नियम की भी अपेक्षा नहीं है—भाव से, मन लगाकर, अथवा कुभाव से, मन के न लगते पर भी आलसवश, अवहेलना पूर्वक भी श्रीनाम अपना फल निश्चितरूप से प्रदान करता है और जीवों का कल्याण करता है—

भायँ कुभाएँ अनख आलसहूं। नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥

अन्त में आपने यही कहा कि कोई भी मनुष्य यदि बाहर एवं भीतर उस विभुतत्व परमेश्वर श्रीभगवान् के दर्शन करना चाहता है तो उसे जिह्वा रूपी देहरी द्वार पर श्रीरामनाम-मणि दीपक को सदा विराजमान करना चाहिये—

राम नाम मणिदीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुं जौं चाहसि उजियार ॥

●

आचार्य श्रीकिशोरी रमणजी – आप ने राजा परीक्षित् द्वारा किये गए उस प्रश्न की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया, जो उन्होंने श्रीशुकदेव मुनि से पूछा था—

अतः पृच्छामि संसिद्धि योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥

हे योगियों के परम गुरो ! आप से मैं यह पूछता हूँ कि संसार में सम्यक् सिद्धि प्राप्त करने का क्या उपाय है ? और जिस मनुष्य की मृत्यु निकट आ गई हो, उसे सर्वतोभाव से क्या करना चाहिए ?"

इसके उत्तर में श्रीशुकदेव मुनि ने कहा—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ।।

हे राजन् ! तुम पूरे प्रयत्न से भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में विराजमान करो, उनकी स्मृति के प्रभाव से मृत्युको निकट प्राप्त करने वाला व्यक्ति परमगति को प्राप्त कर लेता है और मानवजन्म का एकमात्र लाभ यही है कि अन्त समय में श्रीनारायण की स्मृति बनी रहे ।

श्रीआचार्य जी ने कहा--हर मनुष्य को अपनी-अपनी मृत्यु का पता है, सब जानते हैं कि आज न कल अवश्य मरना है, फिर भी सब सांसारिक वस्तुओं में आसक्त होकर त्रितापों में निरन्तर सन्तप्त हो रहे हैं और भगवत्-स्मृति के विना अपने जीवन को अकारण खो रहे हैं ।

प्रभु-स्मृति अभिनिवेश के विना सम्भव नहीं है । जब तक श्रीभगवान् के चरण कमलों की सेवा प्राप्ति के लिए यह मानव लालायित नहीं होता, उनको हृदय में विराजमान करने के लिए आविष्ट नहीं होता, तब तक उसके लिए निरन्तर भगवत्-स्मृति सम्भव नहीं हो पाती । प्राय: मनुष्य धर्म, अर्थ, काम-इन तीनों पुरुषार्थों में आविष्ट रहते हैं, कोई वर्णाश्रम धर्मों या दान-पुण्यादि कर्मों के द्वारा इस लोक एवं परलोक के सुख-भोग करना चाहते हैं, तो कोई एक-मात्र धन सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए पागल हो रहे हैं । और कोई स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति में ही अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं । कोई विरले लोग ऐसे भी हैं जो माया के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं या मोक्ष के इच्छुक हैं । परन्तु धर्म-अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों में अभिनिवेश रखने वाले मनुष्यों के हृदय में न तो श्रीभगवान् श्रीश्यामसुन्दर विराजमान होते हैं और न ही उनकी स्मृति जागरूक होती है । अत: न तो वे परम संसिद्धि को प्राप्त करते हैं और न भगवत्-स्मृति को, जो मानव जन्म का परम लक्ष्य है। इसके लिए तो नाम, रूप, लीला एवं धाम इन चारों में अभिनिवेश की अनिवार्यता है । नाम-रूप-लीला के अभिनिवेश में भगवान् निरन्तर हृदय में विराजते हैं तथा उनकी स्मृति भी सतत् जागरूक रहती है । धाम-अभिनिवेश या निष्ठा में नाम-रूप-लीलादि की सहज रूप में स्वत: स्फूर्त्ति प्राप्त होती है ।

श्रीआचार्य पाद ने आगे कहा—यही कारण है कि श्रीब्रह्माजी तथा परम भागवत श्रीउद्धवादिक ने धाम—श्रीवृन्दावन की रेणु को प्राप्त करने की प्रार्थना की है, गुल्म-लता बनकर भी वे श्रीधाम में रहना चाहते हैं । धामवासियों को चारों प्रकार की मुक्तियां तो सहज प्राप्त हैं ही । उनके लिए मोक्ष-कामना का प्रश्न ही नहीं उठता ।

आपने आगे कहा—अभिनिवेश ही भागवत्-स्मृति को जन्म देता है और

फिर वियोग प्रतिक्षण भगवत् स्मृति को पुष्ट करता है। अभिनिवेश की पुष्टि होती है आत्म-समर्पण में। पूर्ण रूप से शरणापन्न हो जाने में ही आत्मसमर्पण सिद्ध होता है। सर्वविध आत्म समर्पण होने पर भगवान् श्रीकृष्ण जीव को अपने समान मायातीत कर देते हैं—

शरण लज्जा करे कृष्णे आत्म-समर्पण।
कृष्ण तारे करे तत्काले आत्म-सम॥

अन्त में श्रीआचार्य जी ने शरणागत-भक्तों के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा —श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों के अनुकूल विषयों को जो लोग व्रत रूप में ग्रहण करते हैं, और प्रतिकूल विषयों को सदा त्याग कर देते हैं, वे शरणागत भक्त हैं जिनको यह दृढ़ विश्वास है कि श्रीभगवान् निश्चय ही उनके रक्षक हैं, अतः जो उनको सदा रक्षकरूप में वरण करते हैं, भगवान् को जो हर प्रकार आत्म समर्पण कर देते हैं और सदा उनके चरणों में आर्ति ज्ञापन करते रहते हैं वे शरणागत-भक्त हैं।

इस प्रकार शरणापन्न होकर जो सदा श्रीभगवान् को हृदय में विराजमान कर सदा उनके नाम-रूप-लीला धाम का चिन्तन करते रहते हैं, वे ही परम गति को प्राप्त करते हैं तथा उनका ही जीवन सार्थक है।

सन्त श्रीवैरागी जी—आपने कहा मानव-जीवन भक्तिरस के बिना नीरस है। श्रीभगवान् ही रस-स्वरूप हैं। उनके सम्बन्ध तथा सेवन के बिना भला रस की प्राप्ति कैसे हो सकती है? रसहीन वृक्ष को जैसे ठूंठ ही कहा जाता है, उसी प्रकार भक्तिहीन मनुष्य मृतक के समान ही है। केवल मनुष्य ही नहीं, वह जाति, वह शास्त्र, वह जप-तप साधन भी, जिनमें भक्ति का सम्बन्ध नहीं है, सब निर्जीव हैं, केवल दिखावा मात्र हैं—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्येव देहस्य मण्डनं लोकरंजनम्॥

अतः मानव के लिए एक मात्र भक्ति की प्राप्ति के लिए ही उद्यम करना उचित है। इसी में जीवन का जीवत्व है। जीव में जब तक देह-दैहिक पदार्थों में, मान-प्रतिष्ठा तथा धन-सम्पत्ति में आसक्ति है, जब तक मनोवृतियों का स्रोत संसार की ओर प्रवाहित होता रहता है, तब तक श्रीभगवान् की आसक्ति इस जीव के हृदय में पैदा नहीं होती और न ही वह भक्ति साधन में प्रवृत होता है।

श्री वैरागी जी ने आगे कहा—श्रीभगवान् की माया बड़ी प्रबल है। उनकी दैवी शक्ति है। भगवद्बहिर्मुख जीवों को अपने स्वामी श्रीभगवान् की ओर मोड़ने के लिए सदा यत्न करती रहती है। अपने रज-तम गुणों से जीव के स्वरूप को

ढककर उसे संसार में अनेक दुखों को भोग कराती है। जीव जिन पदार्थों में सुख समझ कर दिन-रात दौड़ रहा है, उनके नश्वर तथा अन्ततः दुख स्वरूप का अनुभव कराकर बहिर्मुख जीवों को बार-बार जन्म मरण रूप संसार में डालती है, जिससे किसी प्रकार वे जीव इस संसार की असारता तथा दुखरूपता को अच्छी तरह अनुभव कर भगवान् की तरफ अग्रसर हों और उसके लिए किसी महत्पुरुष की शरण ग्रहणपूर्वक भक्ति पथ के पथिक बनें।

माया की आवरणात्मिका शक्ति जीव में अज्ञान पैदा कर उसके कृष्णदासत्व स्वरूप को ढक देती है। तभी वह माया का दास बनकर जगत् के नाशवान पदार्थों की ओर भागता रहता है। इसी प्रकार माया की विक्षेपात्मिका शक्ति उसमें विपरीत धारणाओं को पैदा कर काम-क्रोध लोभादि की वृत्तियों को बढ़ावा देती है। इस प्रकार वह जीव माया-बन्धन में पड़ कर शाश्वत सुख से वञ्चित रह कर जीवन वृथा गँवा बैठता है।

आपने आगे कहा—माया से बचने का एक मात्र उपाय है मायापति श्री भगवान् की शरणागति—**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥**

उस शरणागति को प्राप्त करने के लिए सात्विक गुणों का संग्रह करना आवश्यक है। समस्त पापों एवं अपराधों से रहित होना जरूरी है। उसके लिए श्रीमन्महाप्रभु ने स्पष्ट उद्घोष किया है—

एक कृष्ण नाम करे सर्व पाप नाश।
प्रेमेर कारण भवित करेन प्रकाश ॥
अनायासे भव क्षय कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाई एत धन ॥

एक ही श्रीकृष्णनाम समस्त पापों को नाश कर देता है और उस भक्ति को आविर्भूत करता है जो प्रेम को उदित करने वाली है। बिना किसी यत्न के संसार बन्धन निवृत हो जाता है तथा प्रेम पूर्वक श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति होती है-इतनी सम्पत्ति एक श्रीकृष्णनाम के फल से प्राप्त होती है—फिर ऐसा कौन अभागा मनुष्य होगा जो श्रीनामग्रहण में प्रवृत्त न होगा ?

बाबा श्रीराधामाधवदास जी—ने श्रीमन्महाप्रभु के विशिष्ट अवतार के कारण पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा श्री महाप्रभु साधारण युगावतार नहीं हैं। उस समय देश में शाक्त-शैवों तथा मायावाद का ही बोल-बाला था, उस समय प्रभु अवतीर्ण हुए। यद्यपि अन्यान्य वैष्णवाचार्यपाद श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता तथा उनके अद्वय ज्ञान तत्व स्वरूपत्व के प्रतिपादन में भूमिका निभा रहे थे और उन्होंने जीव-जगत् को भक्तिपथ की ओर मोड़ दे दिया था, तथापि ब्रह्मसूत्र के प्रकृतभाष्य श्रीमद्भगवत का महत्व उन्होंने सम्यक् स्थापन न किया था।

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को प्रमाण शिरोमणि स्थापित कर सम्बन्ध, अभिधेय एवं पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम को प्रयोजन-तत्व रूप में प्रकाशित कर जीव-जगत् को अभूतपूर्व अवदान प्रदान किया। इस प्रकार विद्वान् प्रवक्ता ने थोड़े समय में ही श्रीमन्महाप्रभु के मत-परिचायक इस श्लोक की व्याख्या सुना कर सब को आनन्दित किया—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनय स्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महा-
श्रीचैतन्यमहाप्रभो र्मतस्तत्रादरो नः ॥

*

श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामिपाद--आपने साधन-भजन में सबसे बड़ा विघ्न कीर्ति या मान-प्रतिष्ठा की कामना को बताया, आपने कहा भक्तिलता के साथ-साथ अनेक उपशाखाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। शास्त्र एवं सदाचार निषिद्ध आचरण, कुतर्क, कुटिलता, प्राणियों को दुख देना, धन-सम्पत्ति का लोभ तथा सम्मान-कीर्ति प्राप्त करने की कामनायें भक्ति लता की उपशाखाएँ हैं, जो श्रवण-कीर्तनादि का जल पाकर बढ़ने लगती हैं और मूल भक्तिलता स्तब्ध हो जाती है। वह बढ़ने से रुक जाती है। इन सब में यश-कीर्ति की कामना सबसे बड़ी बाधा है भक्ति वृद्धि में।

श्रीगोस्वामिचरण ने कहा—अनेक कामनायें हैं। वे सब पुत्रेषणा, वित्तेषणा तथा लोकेषणा--इन तीनोंके अन्तर्गत आ जाती हैं। पुत्रकी कामना, पुत्र प्राप्ति के बाद अथवा वृद्धावस्था के आ जाने पर अपने-आप शान्त हो जाती है। वित्तेषणा अर्थात् धन की कामना भी धन प्राप्ति के बाद शमन हो सकती है किन्तु लोकेषणा अर्थात् यश-कीर्ति तथा जगत् में सम्मान की कामना सांसारिक लोगों में तो प्रबल होकर रहती ही है, संसार से विरक्त, संन्यासी ज्ञानी तथा भजन-शील पुरुषों का भी पीछा नहीं छोड़ती। अतः कीर्ति की कामना कामिनी-काञ्चन की कामनाओं से भी प्रबल है। सब शास्त्रों ने प्रतिष्ठा को शूकर की विष्टा के समान तथा सम्मान को महान् विष के समान कहा है।

श्रीरूपगोस्वामिपाद ने तो भक्ति के लक्षणों का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम यही कहा है—जो अन्याभिलाष–शून्य है, जिसमें कर्म के फल स्वर्गलोक के भोगों की, ज्ञान के फल मुक्ति की तथा योग के फल अष्ट सिद्धियों की कामना नहीं है, अनुकूल भाव से मनसा-वाचा-कर्मणा श्रीकृष्ण का अनुशीलन ही उत्तम-भक्ति है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

श्रीकविराज ने श्रीचैतन्यचरितामृत में भी यही कहा है—

अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान कर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥

एकमात्र श्रीकृष्ण सेवा-कामना को छोड़कर भक्ति में किसी कामना का स्थान नहीं है। जब मुक्ति-भुक्ति कामना तथा अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा तक की कामना को भी भक्ति का विघ्न माना गया है, तब यश-कीर्ति की कामना जो अत्यन्त निकृष्ट है, उसे महान् विघ्न कहा जाय तो बेजा क्या है ?"

श्रीभगवान् ने काम को अर्थात् किसी प्रकार की भी कामना को मनुष्य को नाशकर देने वाला कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

हे अर्जुन ! विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति होती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। कामना की पूर्ति न होने से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से संमोह या विवेक-शून्यता का जन्म होता है तथा अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रंश हो जाती है। स्मृति के भ्रंश हो जाने पर बुद्धि या ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है। बुद्धि के नष्ट हो जाने पर साधक अपनी साधना से या लक्ष्य की प्राप्ति से गिर जाता है–सर्वनाश हो जाता है उसका। अतः काम या सांसारिक कामनाएँ ही जीव के पक्ष में बहुत बड़े अनर्थ का कारण हैं।

इसी सन्दर्भ में श्रीआचार्यपाद ने आगे कहा कि द्वन्द्व दूसरा महान् शत्रु है भक्ति-साधन में। द्वन्द्व अर्थात् कलह-रण या युद्ध। एक दूसरे की आलोचना। दूसरे की प्रतिष्ठा, वैभवादि को देखकर जलना। परस्पर संघर्ष तथा राग, द्वेष, शोक-मोह तथा आत्म-प्रतिष्ठा की होड़—ये एक ऐसा रण है जो जीवन के जीवत्व कृष्ण-प्राप्ति में महा विघ्न है। इस द्वन्द्व में महान् अपराधों का निवास है। निन्दा हिंसा तथा पाप आदि सब अवगुण इस द्वन्द्व के पीछे सेना के रूप में लगे रहते हैं, जो साधक-जीवन को समाप्त करने में तत्पर हैं।

विचार पूर्वक देखा जाए तो हर समय मनुष्य के जीवन में एक रण या संघर्ष चल रहा है। दुःख के नाश के लिए, सुख की प्राप्ति के लिए, कभी सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए तो कभी धन-सम्पत्ति के लिए मनुष्य एक संग्राम ही कर रहा है। परन्तु माया इतनी प्रबल है कि हर पक्ष में मानव को पछाड़े दे रही है। सुख चाहने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होने देती और दुख न चाहने पर भी मानव निरन्तर दुखी है। अनादि काल से विविध कामनाओं की पूर्ति के संस्कारों का अन्त नहीं होने पाता। संस्कार ऐसी प्रबल वस्तु है कि महाप्रलय हो जाने पर जीव के साथ ये हिरण्यगर्भ में प्रवेश कर विद्यमान रहते हैं। सृष्टि के समय फिर उन्हीं संस्कारों

को लेकर जीव अनन्त कामनाओं की पूर्ति के लिए संग्राम में जुट जाता है। अतः जब तक मनुष्य निर्द्वन्द्व एवं संघर्ष रहित नहीं होता, तब तक इसे शान्ति नहीं मिल सकती।

श्रीआचार्यपाद ने तीसरी बात कही मरण के सम्बन्ध में, अर्थात् मृत्यु का भय इस मनुष्य के हृदय में ऐसा घुसा बैठा है कि यह कर्तव्य-अकर्तव्य को भी निर्णय नहीं कर पाता। मृत्यु से बचने के लिए लाखों-लाखों तदवीरे सोचता है। रोगों से होने वाली मृत्यु को टालने के लिए न जाने क्या-क्या करता है, कहाँ-कहाँ भटकता है। परन्तु इस बात को यह मनुष्य नहीं समझ पा रहा है कि मरण नाम है पशुबुद्धि का। वास्तव में पशुबुद्धि का नाश ही मरण का नाश है। जैसे श्रीशुकदेवमुनि ने अपने अन्तिम उपदेश में राजा परीक्षित् जी से कहा था—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्राग्भूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

हे राजन्! मैं मर जाऊंगा'—इस पशुबुद्धि का तू त्याग कर। जैसे शरीर पहले नहीं था, अब है, फिर नहीं रहेगा"—उसी प्रकार तू अपने विषय में न सोच कि पहले तू नहीं था, अब और फिर नहीं रहेगा। ऐसा सोचना पशुबुद्धि है, अविवेकपूर्ण है।

आपने आगे कहा, मरण तो अनिवार्य है और पुनः जन्म की सूचना देने वाला है। मरण से डरना या उसके लिए कोई चेष्टा करना निरर्थक ही नहीं, महान् मूर्खता है! बुद्धिमत्ता तो यह है कि पुनः जन्म न हो। जननी के जठर या मल-मूत्र की कोठी में फिर आकर महान् कष्ट न सहना पड़े—उपाय तो इस बात का ढूँढ़ना है। जन्म का मूल कारण हैं अनादि संस्कार। समुद्र की तरंगों का कारण है पवन, उसी प्रकार मन में उठने वाली समस्त कामनाओं का, समस्त राग-द्वेषादि संग्राम का तथा मृत्यु के भय या देहाभिनिवेश का मूल कारण है संस्कार। उन्हीं के कारण काम, चाम, नाम एवं दाम के लिए सुबह-शाम संग्राम हो रहा है।

श्रीगोस्वामिचरण ने अपने तीन दिन के प्रवचन का उपसंहार करते हुए कहा—स्मर (काम) रण (द्वन्द्व) तथा मरण (मृत्यु) इन तीनों के कारण जीवों का अन्तःकरण दूषित हो रहा है। जब मन-अन्तःकरण दूषित होता है तो 'स्मरण' छूट जाता है।

मन दुष्ट हैले न हय कृष्ण स्मरण।
कृष्णस्मृति विनु हय निष्फल जीवन॥

कृष्णस्मरण के बिना समस्त जीवन निष्फल हो जाता है। इस कृष्ण-'स्मरण' में पूर्वकथित स्मर-रण तथा मरण इन तीनों को निर्मूल करने की स्वाभाविकी शक्ति है। कृष्णविस्मृति ही जीव के अशेष-विशेष दुःखों का कारण है।

अनादि संस्कारों को जला डालने की यदि शक्ति है तो कृष्ण-स्मृति में। स्मर-रण तथा मरण का यदि एकीकरण होकर स्मरण में बदल जाए तो मानव जीवन सार्थक हो जाता है। सब कामनाएं यदि एक मात्र श्रीकृष्ण के सुख तात्पर्य में पर्यवसित हो जाएँ, श्रीकृष्ण-सुख एवं कृष्ण-प्राप्ति की कामना तीव्ररूप में जाग उठे तो संसार भर की कामनाएँ स्वतः निरस्त हो जाती हैं। श्रीकृष्णचरण-द्वन्द्व के स्मरण में आविष्ट होने पर समस्त द्वन्द्वों का नाश हो जाता है। समस्त राग कृष्णानुराग में बदल जाते हैं और द्वेष कृष्ण-प्रेमावेश में। स्मरण में मरण भी धन्य हो जाता है; सदा के लिए अमरत्व में बदल जाता है। धन्य हो गया गीधराज का मरण, जब श्यामल-कान्ति श्रीराघवेन्द्र अपने पीताम्बर से उसके तन के घावों को पोंछ रहे थे। बाली ने जीवनदान स्वीकार न कर मरण का ही वरण किया। साक्षात् भगवान् उसकी स्मृति पथ पर अपनी माधुर्य-छटा बखेर रहे थे। अतः जीवन के सर्वविध संग्राम तथा त्रितापों की दहकती आग से बचने का यदि कोई उपाय है तो है कृष्ण-स्मरण।

इस कृष्ण-स्मरण का मूल कारण है कृष्णस्मरण कर्ताओं का सत् समागम। जब तक भटकते हुए इस जीव को सत्संग नहीं प्राप्त होता, महत् पुरुषों के मुख निसृत भगवत् नाम-गुण-लीला कथामृत के आस्वादन का महाप्रसाद नहीं प्राप्त होता, तब तक जीव के प्रमाद, विषाद, वाद-विवाद का अन्त नहीं होता, न ही उसे शाश्वत अह्लाद की प्राप्ति हो सकती है।

भवापवर्गो भ्रमतो यदि भवेत् जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमोर्यहि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥

—हे अच्युत ! इस संसार में भ्रमण करते-करते जब कोई व्यक्ति संसार से उद्धार पाने के रास्ते पर आने वाला होता है, तभी उसे महत् पुरुष का अर्थात् भक्त का सङ्ग प्राप्त होता है। उसे आपकी महिमायुक्त लीलाओं के श्रवण का सुअवसर प्राप्त होता है और भक्तकृपा से भक्तों की एकमात्र गति तथा कार्य-कारण के नियन्ता स्वरूप आप में उसकी प्रीति जाग उठती है और वह आपके स्मरण की ओर अग्रसर होता है।

भगवत्-स्मृति ही समस्त साधनों का प्राण है, सर्व विधियों की विधि है। श्रीनाम स्मरण में ही रूप-लीला-गुण-धाम का स्मरण निहित है। श्रीनाम-स्मरण का आश्रय लेने पर शेष कर्त्तव्य जीव के पक्ष में कुछ नहीं रह जाता।

सततं स्मर्तव्यो विष्णु विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करो, उनको कभी मत भूलो—समस्त विधियां एवं निषेध इन दोनों के अनुपूरक तथा परिपूरक रूप किङ्कर ही हैं। इन वचनों के साथ श्रीआचार्यचरण ने अपने प्रवचन को विश्राम दिया।

●

आचार्य श्रीअच्युतलाल भट्ट—आपने कहा, संसार नाम ही दुख का है, दुख के सागर का है। जिस प्रकार सागर में रहने वाली वस्तुओं का कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार संसार में वर्तमान दुखों का कोई पार नहीं पा सकता असंख्य एवं अनन्त दुख हैं। किन्तु उन दुखों के पात्र कौन हैं? जो सुख तत्व के सम्बन्ध से परे पिछड़ गए हैं या सुख स्वरूप श्रीभगवान् के अथवा उनके भक्तों से विमुख हो चुके हैं। उनकी विमुखता का कारण जीव की अणु स्वतन्त्रता कह लो, या संस्कार कह लो, अथवा पापाचरण या अविद्या अस्मिता के गर्त्त में उनका पतन मान लो। अनेक प्रकार के दुखों द्वन्द्वों को एक ही नाम दिया जा सकता है क्लेश। क्लेश शब्द में ही पापाचरण एवं उससे पैदा होने वाले दुख आ जाते हैं, पापों के अनादि संस्कार आ जाते हैं तथा अविद्या-अस्मिता, राग-द्वेष द्वन्द्व तथा देह-दैहिक अनात्म वस्तु को नित्य-सत्य मानना और दुखको सुख तथा सुखको दुख यह सब क्लेश ही हैं। इन्हीं क्लेशों में आबद्ध होकर जीव अनेक प्रकार की कामनाओं का शिकार हो रहा है तथा उन कामनाओं की पूर्ति के लिए राग-द्वेष द्वन्द्व और युद्ध कर रहा है और अपने को शरीर मान कर या अनात्म वस्तु को आत्म-वस्तु मान कर मरण के भय से जीते-जी मरा जा रहा। इस पशु-बुद्धि के कारण समस्त विवेक ज्ञान को खोकर अशेष-विशेष दुखों का भोग कर रहा है।

इन विविध दुख-दर्दों के मूल क्लेश से बचने के लिए सर्व शास्त्रों का सार-रूप वचन हमें श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु में मिलता है—

> **क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा ।**
> **सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥**

भगवद्भक्ति समस्त क्लेशों को नाश करने वाली अर्थात् पाप, पापों के बीज रूप संस्कार या पाप-वासनाएं तथा अविद्या को नाश करने वाली है। भगवद् भक्ति समस्त शुभों को प्रदान करने वाली है। जगत् के समस्त प्राणियों को सन्तुष्ट करना, सब की प्रीति प्राप्त करना, दया आदि सद्‌गुणों से युक्त होना और हर प्रकार का सुख प्राप्त होना—ये चारों 'शुभ' कहे गए हैं। भक्ति इन चारों शुभों को प्रदान करने वाली है।

श्रीभट्टजी ने कहा—भगवद्भक्ति केवल समस्त क्लेशों को नाश करनेवाली या समस्त शुभों को ही प्रदान करने वाली नहीं, अपितु मोक्ष में प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द को भी तुच्छ करके रख देती है। भक्तिप्राप्त पुरुष पांचों प्रकार की मुक्तियां श्रीभगवान् द्वारा देने पर भी ग्रहण नहीं करते। आपने कहा, यह भी ध्यान रहे कि भगवद्भक्ति कोई गुड़ का पुआ नहीं है। दुर्ल्लभ ही नहीं अति दुर्ल्लभ है। जैसे कि कहा गया है—

> **ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।**
> **सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्ल्लभा ॥**

यह ठीक है कि मुक्ति और भुक्ति भी कोई सहज में प्राप्त होने वाली वस्तुएं नहीं हैं, फिर भी ज्ञान से मुक्ति सुलभ हो जाती है। यज्ञादि अनेक पुण्य कर्म करने से स्वर्गलोक के भोग भी प्राप्त कर लेना सहज है, परन्तु हजारों-हजारों साधन करने पर भी भक्ति की प्राप्ति होना कठिन है। इसलिए इसे सुदुर्ल्लभ कहा गया है।

आपने आगे कहा - भक्ति सान्द्रानन्द स्वरूपा है घनीभूत आनन्दस्वरूपा है, जिसके सामने कोटि-कोटि ब्रह्मानन्द जरा भी नहीं ठहर सकते। भक्ति के एक परमाणु मात्र के साथ भी ब्रह्मानन्द सागर की तुलना नहीं की जा सकती। फिर भक्ति में एक अपूर्व सामर्थ्य है परमतत्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को आकर्षण करने की। वशीभूत कर लेती है उस विभु परम स्वतन्त्र सर्वकारणकारण परब्रह्म को।

श्रीभट्टजी ने आगे एक रहस्य का भी उद्घाटन किया कि उपरोक्त श्लोक में भक्ति के छः विशेषण दिये गए हैं। प्रथम दो विशेषण अर्थात् 'क्लेशघ्नी' तथा 'शुभदा' साधनभक्ति के हैं।' 'मोक्षलघुताकृत' तथा 'सुदुर्ल्लभा' भाव-भक्ति के विशेषण हैं। साधन-भक्ति ही पुष्ट होकर भाव-भक्ति में आविर्भूत होती है। और "सान्द्रानन्दविशेषात्मा' तथा 'श्रीकृष्णाकर्षिणी'—ये दोनों विशेषण हैं भाव-भक्ति की चरम परिणति प्रेम-भक्ति के। आपने कहा भाव-भक्ति तथा प्रेमभक्ति तो अति दुर्ल्लभ हैं ही और उनकी प्राप्ति साधन-भक्ति का निरन्तर आचरण करते-करते हुआ करती है। परन्तु साधन-भक्ति न तो सुदुर्ल्लभ है और न किसी अन्य साधन, कष्ट साध्य नियम तथा विधि-विधान की अपेक्षा रखती है, फिर भी हम जीवों का कितना दुर्भाग्य है कि उस क्लेशघ्नी तथा शुभदा साधन-भक्ति का आचरण नहीं करते और दुखों का भोग कर रहे हैं, दिन रात अशान्त होकर तापों में सन्तप्त हो रहे हैं, अति दुर्लभ सर्वश्रेष्ठ मानव जन्म पाकर भी बेकार खो रहे हैं।

श्रीभट्टजी ने जोरदार शब्दों में कहा कि यदि हम सब दुखों से, त्रितापों से छुटकारा चाहते हैं, वास्तव में मानव-जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो हमें आज ही साधन-भक्ति की ओर बढ़ना होगा। श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादि साधन-भक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है। वह श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति की वृत्ति विशेष है। अतः उस अति करुणामयी भक्तिरानी की शरण ग्रहण कर, सर्व दुखों से निकल कर, समस्त शुभगुणों से ही अलंकृत हो आनन्दघन स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण की सेवा-सम्पादन के लिए उन्हें अपनी ओर आकर्षण करने का सौभाग्य हमें प्राप्त करना होगा।

आपने कहा, इस साधन-भक्ति से भक्ति में प्रवृत होने के लिए भी भक्ति की कृपा चाहिए। महत्-पुरुषों में विराजमान भक्ति की कृपा से बहिर्मुख जीव साधन-भक्ति पथ में प्रवेश करता है। अतः इसकी प्राप्ति के लिए भक्तों की कृपा की अनिवार्यता है—

महत् कृपा बिने कौन कर्मे भक्ति नय।

अतः महत् पुरुषों के सत्संग, उनकी सेवा एवं कृपा प्राप्ति की अपेक्षा है। उनके द्वारा श्रीभगवान् की लीला-कथाओं का श्रवण प्राप्त होता है। उससे श्रद्धा, पुनः साधुसंग और श्रवण कीर्त्तन स्मरणादि भक्ति अङ्गों में रुचि होकर भगवत् रति का उदय होता है। भक्ति के अनेक अङ्ग हैं किन्तु उनमें सर्वश्रेष्ठ नवविधा भक्ति है; जो कृष्णप्रेम तथा श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने की महाशक्ति रखती है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
नवविधा भक्ति पूर्ण नाम हैते हय।

नवविधाभक्ति में भी सर्वश्रेष्ठ है श्रीनाम सङ्कीर्त्तन जो अपराध रहित साधक में प्रेम का उदय करता है—

तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम सङ्कीर्त्तन।
निरपराध नाम हैते हय प्रेम धन॥

श्रीआचार्यचरण ने आगे कहा—जीव के लिए साध्य कृष्णप्रेम है, श्रीकृष्ण-प्राप्ति नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण-प्राप्ति भी प्रेम के बिना किसी काम की नहीं। चारुण-मुष्टक शिशुपालादिक को कृष्ण-प्राप्ति हुई, किन्तु प्रेम के बिना न तो वे श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन कर सके और न उनकी सेवा-सौरभ का सौभाग्य। अतः महत्कृपा पूर्वक साधनभक्ति में हमें यत्न पूर्वक लगना होगा। निरपराध होकर श्रीनाम का आश्रय ग्रहण करना होगा, जिसके फल स्वरूप समस्त क्लेशों से हम निर्मुक्त हो सकते हैं। शाश्वत आनन्द तथा शांति प्राप्त कर सकते हैं। विशेषतः जब कलियुग में और कोई साधन, धर्म फलीभूत ही नहीं हो सकते, हमारे लिए सर्व मन्त्र सार श्रीकृष्णनाम संकीर्तन का आश्रय लिए बिना और कोई निस्तार का उपाय नहीं है। समस्त शास्त्रों समस्त उपदेशों का यही सार है, जो श्रीमन्महाप्रभु ने अपूर्व अनुदान रूप में जीव-जगत् को प्रदान किया है—

कृष्ण मन्त्र हैते हय संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पावे कृष्णेर चरण॥
नाम बिनु कलिकाले नाहिं आर धर्म।
सर्वमन्त्र सार नाम, एइ शास्त्र मर्म॥

"मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता"-कहते हुए आप ने विशाल सभाओं के कार्यक्रम को सम्पन्न किया।

दिनांक ८ मार्च की सभा में **श्रीराधामाधव संकीर्तन मण्डल** का विशेष संकीर्तन-कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। मधुरातिमधुर नाम संकीर्त्तन तथा बीच-बीच में

विज्ञप्ति, प्रार्थना, विनय के पद-पदान्तरों के साथ, गोपाल मुरलिया वाले' की रूप-सौन्दर्यमाधुरी का चित्रण ऐसा सजीव था कि समस्त जनसमाज प्रेम विभोर हो उठा। श्रीनाम में कम्प-पुलकादि का साम्राज्य छा रहा था। सम्मेलन के शृंगार-रूप में सुसज्जित यह कार्यक्रम हुआ।

रात्रि के कार्यक्रम में श्रीगौर-कृष्ण लीला मण्डल द्वारा श्रीचन्द्रावली-लीला, भक्त कारेखां तथा गीता जयन्ती नाटकों का प्रदर्शन किया गया। अति प्रभावशाली ढङ्ग से लीला-प्रदर्शन हुआ। विशेषत: गीता जयन्ती का नाटक, वेष-भूषादि अति मनाकर्षक थे।

तदुपरान्त मन्त्री ने मण्डल की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी तथा समस्त प्रवक्ताओं, संकीर्त्तनकर्त्ताओं तथा उत्सव में तन-मन-धन से सहयोग प्रदान करने वाले समस्त महानुभावों का मण्डल की ओर से आभार स्वीकार किया।

श्रीशचीनन्दन गौरहरि

जय गौरहरि जय गौरहरि जय गौरहरि जय गौरहरि।
नदिया बिहारी नाम प्रचारी प्रेम पुजारी गौरहरि॥
पतित उधारी कलि दुःख हारी पावनकारी गौरहरि।
रूप रसाला भुवन उजाला दीनदयाला गौरहरि॥
तिलक सुभाला उर बनमाला नयन विशाला गौरहरि।
त्रिभुवन भरण भावा भरण अशरण शरण गौरहरि॥
कोमल चरण भवदुःख हरण मंगल करण गौरहरि।
कृपा अपारा गुण आगारा पतित आधारा गौरहरि॥
परम उदारा प्रेम अवतारा श्रुतिगण सारा गौरहरि।
जगजनबन्दन पापनिकन्दन प्रीति सुबन्धन गौरहरि॥
जनरञ्जन 'विरही' मन चन्दन श्रीशचीनन्दन गौरहरि॥

★

श्रीरामनवमी तिथि-आराधन

श्रीतुलसी-कवितावली

श्रीइन्द्रदेवनारायण जी

प्रभु सत्य करी प्रहलादगिरा, प्रगटे नरकेहरि खम्भ महाँ।
झषराज ग्रस्यो गजराज, कृपा ततकाल, बिलम्बु कियो न तहाँ॥
सुर साखि दै राखी है पांडुबधू पट लूटत, कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी! भजु सोच बिमोचनको, जनको पनु राम न राख्यो कहाँ॥१॥

भगवान् ने प्रह्लाद के वचन को सत्य किया और महान् खम्भ के बीच में से नरसिंह रूप में प्रकट हुए। जब ग्राहने गज को पकड़ा तो तत्काल ही कृपा की, (जरा-सा भी) विलम्ब नहीं किया। करोड़ों राजाओं के सामने जिसका वस्त्र लूटा जा रहा था, उस द्रौपदी की देवताओं को साक्षी बनाकर रक्षा की। गोसाईं जी अपने से ही कहते हैं कि अरे तुलसीदास! शोक से छुड़ानेवाले श्रीरामचन्द्र को भज, उन्होंने सेवक के प्रण को कहाँ नहीं नियाहा? ॥२॥

नरनारि उघारि सभा महुँ होत दियो पटु, सोचु हर्यो मनको।
प्रहलाद-बिषाद-निवारन, बारन-तारन, मीत अकारनको॥
जो कहावत दीनदयाल सही, जेही भारु सदा अपने पन को।
'तुलसी' तजि आन भरोस भजें, भगवानु भलो करिहैं जनको॥२॥

नराबतार (अर्जुन) की स्त्री (द्रौपदी) सभा में नङ्गी की जा रही थी, उसे वस्त्र देकर उसके मनका सोच दूर किया। जो प्रह्लाद के दुःख को दूर करने वाले, गज को बचाने वाले, बिना कारण के मित्र और सच्चे दीनदयालु कहलाते हैं, जिनको अपने प्रण का सदैव भार (ध्यान) रहता है, गोसाईं जी कहते हैं कि औरों का भरोसा त्याग कर उन भगवान् का भजन करने से वे अपने दास का भला करेंगे ही ॥२॥

रिषिनारि उधारि, कियो सठ केवटु मीतु पुनीत, सुकीर्ति लही।
निज लोकु दियो सबरी-खगको, कपि थाप्यो, सो मालुम है सबही॥
दससीस-विरोध सभीत विभीषनु भूपु कियो, जग लीक रही।
करुनानिधि को भजु रे तुलसी! रघुनाथ अनाथके नाथु सही॥३॥
(भगवान् श्रीराम ने) ऋषि (गौतम) की पत्नी (अहिल्या) का उद्धार

किया और दुष्ट केवट को मित्र बनाकर पवित्र कर दिया, और इस प्रकार सुकीर्ति प्राप्त की, शबरी और गीध को अपना लोक दिया और सुग्रीव को राज्य पर स्थापित किया, सो सबको मालूम ही है, रावण के विरोध से डरे हुए विभीषण को राजा बनाया जिससे उनकी कीर्ति संसार भर में छा गयी । गोसाईं जी कहते हैं 'अरे तुलसीदास ! करुणानिधि (श्रीरामचन्द्र) को भज, वे अनाथों के सच्चे स्वामी हैं ।।३।।

कौसिक, बिप्रबधू, मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहैं ।
बालि-दसानन-बन्धू-कथा सुनि, सत्रु सुसाहेब-सीलु सराहैं ।।
ऐसी अनूप कहैं तुलसी, रघुनायक की अगनी गुनगा हैं ।
आरत, दीन, अनाथनको रघुनाथु करैं निज हाथकी छाहैं ।।४।।

(श्रीरघुनाथजी ने) विश्वामित्र, ऋषिपत्नी (अहिल्या) और मिथिलापति (महाराज जनक) की सभी चिन्ताओं को पलभर में हर लिया । बालि और रावण के भाई (सुग्रीव और विभीषण) की कथा सुनकर शत्रु भी हमारे श्रेष्ठ स्वामी (श्रीरामचन्द्रजी) के शील की सराहना करते हैं । गोसाईं जी श्रीरघुनाथ जी की ऐसी अगणित अनुपम गुणगाथाएँ कहते हैं । आर्त्त, दीन और अनाथों को रघुनाथजी अपने हाथ की छाया-तले कर लेते हैं ।।४।।

तेरे बेसाहें बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचनिहारे ।
ब्योम, रसातल भूमि भरे नृप क्रूर, कुसाहेब सेंतिहुँ खारे ।।
'तुलसी' तेहि सेवत कौन मरै ? रजतें लघु को करै मेरुते भारे ?
स्वामि सुसील समर्थ सुजान, सोतो-सो तुहीं दसरत्थदुलारे ।।५।।

तुम्हारे खरीदने (अपना लेने) से जीव औरों को भी खरीद (गुलाम बना) सकता है, और सब (अन्य देवता) तो खरीद कर बेच देनेवाले हैं । आकाश, रसातल और पृथ्वी में अनेकों निर्दय राजा और दुष्ट स्वामी भरे पड़े हैं, किन्तु वे तो मुफ्त में मिलें तो भी त्यागने योग्य ही हैं । गोसाईं जी कहते हैं कि उनकी सेवा करके कौन मरे । धूल के समान लघु सेवक को सुमेरु से भी बड़ा बनाने वाला (तुम्हारे सिवा और) कौन है ? हे दशरथनन्दन ! तुम्हारे समान सुशील, समर्थ और सुजान स्वामी तो तुम्हीं हो ।।५।।

श्री श्री चैतन्य महाप्रभु-प्राकट्य पञ्चशती अन्तर्गत विभिन्न स्थानों पर श्रीहरिनाम संकीर्त्तन सम्मेलन सत्संग के विराट् आयोजन

श्रीचैतन्यप्रेमभक्ति संघ एवं श्रीचैतन्य वेदान्त समिति, अजमेर द्वारा परम-पूज्य आचार्यचरण श्रीवासुदेवशरण जी महाराज की अध्यक्षता में श्रीचैतन्यमहाप्रभु जी के मन्दिर में श्रीमन्महाप्रभु प्राकट्य महोत्सव, श्रीविग्रहों का पाटोत्सव तथा संघ के रजत जयन्ती समारोह का विशेष आयोजन दिनांक ६ से १० मार्च तक सम्पन्न हुआ। इसी महोत्सव के अन्तर्गत श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी महोत्सव, श्रीगौर-पूर्णिमा अधिवास, उदयास्त अखण्ड श्रीनाम संकीर्तन, धार्मिक शिक्षाप्रद चलचित्र प्रदर्शन एवं विराट नगर संकीर्तन शोभायात्रा, श्रीजगन्नाथ मिश्र आनन्दोत्सव भी मनाए गये। स्थानीय एवं राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के असंख्य वैष्णवों ने उत्सव में भाग लिया।

श्रीचैतन्य महाप्रभु पञ्चशती समिति, कोटा में भी परमपूज्य आचार्यचरण श्रीवासुदेवशरण जी महाराज के तत्वावधान में श्रीमन्महाप्रभु प्राकट्य पञ्चशती महोत्सव एवं अखिल भारतीय श्रीहरिनाम संकीर्त्तन सम्मेलन दिनांक ६ से १४ मार्च तक गीता सत्सङ्ग आश्रम में बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। नित्य प्रति प्रभात फेरी, महामन्त्र का अखण्ड सङ्कीर्तन, व्रजवासी मण्डल द्वारा रंगोली होली तथा प्रवचनों के आयोजन सम्पन्न हुए। दिनांक १२ मार्च को विराट नगर संकीर्त्तन शोभा यात्रा तो देखते ही बनती थी। एक फर्लांग लम्बा जुलूस, नृत्यगान करते हुए अनेक संकीर्त्तन मण्डल, श्रीमन्महाप्रभु की झांकिया, श्री श्रीराधाकृष्ण की दिव्य छवि के साथ नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों पर सागर की तरह उमड़ रहा था। वृन्दावन, मथुरा, जयपुर, सागर, कोटा, दमोह, भोपाल, अजमेर, सोनीपत, तथा अनेक स्थानों के प्रवक्ताओं एवं वैष्णवों ने उत्सव में सम्मिलित होकर श्रीमहाप्रभु के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली के फूल चढ़ाये। बाहर से आने वाले वैष्णवों की खान-पान, निवास की सुव्यवस्था के अतिरिक्त समिति के वैष्णवों की दीनता एवं सेवा-भाव अति सराहनीय एवं आदर्श स्थानीय था। सम्पादक को भी इस उत्सव-दर्शन का सौभाग्य लाभ हुआ। वैसे तो सब सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं, किन्तु श्रीनाथू-लाल जी गोयल को ही इस महोत्सव का श्रेय प्राप्त है, जो श्रीमहाप्रभु की असीम कृपा का परिचायक है।

★

श्रीमाध्व गौड़ेश्वर मण्डल, जयपुर की ओर से श्रीगौरांग महाप्रभु जयन्ती महोत्सव दिनांक ९ मार्च से मनाया जा रहा है जो १९ अप्रेल तक चालू रहेगा। विभिन्न वैष्णवों के घर पर एक-एक दिन यह महोत्सव, नाम संकीर्त्तन, कथा, प्रवचन के रूप में मनाया जा रहा हैं। श्रीनाम प्रचार के लिए यह स्तुत्य प्रणाली है। दिनांक १८ मार्च को सायं ४ बजे से एक विराट नगर संकीर्त्तन निकल रहा है, जिसमें जगद्गुरु श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज गोस्वामी अनेक सकीर्तन मण्डिलियों के साथ सम्मिलित हो रहे हैं।

श्री चैतन्यप्रेम संस्थान, गम्भीरा, वृन्दावन में श्रीमन्माध्व गौड़ेश्वराचार्य श्रीपुरुषोत्तम गोस्वामीजी की सन्निधि में गतवर्षों की भांति श्रीगौरांग-जयन्ती उपलक्ष्य में श्रीगौरांगलीला तथा श्रीरासलीला आदि के आयोजन सम्पन्न हुए।

श्रीराम कृष्ण सत्सङ्ग मण्डल, मथुरा द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति श्रीरामनवमी महोत्सव दिनांक २५ मार्च से ५ अप्रेल तक श्रीरामचन्द्र जी के मन्दिर घीयामण्डी में पूर्ण समारोह से सम्पन्न हुआ।



नवीन प्रकाशन

श्रीमन्महाप्रभु की "नवद्वीप-लीला" तथा "नीलाचल-लीला"

ग्रन्थकार--प्रभुपाद श्रीहरिदास गोस्वामी।

प्रकाशक--श्रीचैतन्यमहाप्रभु पञ्चशतवर्ष आविर्भाव समिति, श्रीकृष्ण-जन्म संस्थान, मथुरा।

ग्रन्थाकार--क्राउन (कल्याण) साइज, **पृष्ठ क्रमशः ९४४, ९१४**

न्यौछावर—प्रति खण्ड, ५०) रु० (सजिल्द)

श्री श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव की लोकातीत लीलाओं का दो पृथक् खण्डों में अति सरस सरल एवं भावपूर्ण भाषा में चित्रण किया है श्रीगोस्वामिपाद ने। उनके मूलग्रन्थ बंगला संस्करण भी पहले प्रकाशित किए जा चुके हैं—उनका नागरी भाषा में अनुवाद हैं ये। श्रीमन्महाप्रभु की सम्पूर्ण लीलाओं का आस्वादन-उनके भक्ति—दर्शन का तथा भजन शिक्षाओं के अद्भुत संकलन हैं।

प्राप्ति स्थान—श्रीकृष्ण-जन्म संस्थान, मथुरा

१. श्रीचैतन्य-मत

२. श्रीचैतन्य महाप्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त—अचिन्त्य भेदाभेद

३. भक्ति-विज्ञान

सङ्कलनकर्त्ता— डॉ० अवधविहारीलाल कपूर

ग्रन्थाकार—डिमाई (१८×२२÷८)

पृष्ठ संख्या—क्रमश: ६४०, २८० एवं ३१३

न्यौछावर—क्रमशः—६० रु०, १५ रु० तथा २५ रु० (सजिल्द)

चैतन्यमत में श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामि रचित श्रीचैतन्य चरितामृत, श्रीचैतन्यभागवत आदि ग्रन्थों में वर्णित श्रीरूप-श्रीसनातन, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिक के प्रति श्रीमन्महाप्रभु के उपदेशों का तथा राय-रामानन्द के साथ साध्य-साधन सम्बन्धी सिद्धान्तों का सुन्दर उल्लेख है।

चैतन्यमहाप्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त—अचिन्त्य भेदाभेद—इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने श्रीमन्महाप्रभु के अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है, जिसे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विभन्न सिद्धान्तों की आलोचना पूर्वक उनके समन्वयात्मक सिद्धान्त रूप में श्रीजीवगोस्वामिपाद ने स्थापित किया था। इसमें ब्रह्म के साथ जीव तथा जगत् के अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध का उल्लेख एवं पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम का शास्त्रीय विवेचन है,

भक्ति-विज्ञान—ग्रन्थ 'चैतन्यमत'-ग्रन्थ का ही एक अंश है। इसमें भक्ति के स्वरूप, विभिन्न भेद, तथा स्तरों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है, श्रीरूपगोस्वामि रचित भक्तिरसामृतसिन्धुः ग्रन्थ ही इस संकलन का मूल आधार है।

प्राप्ति स्थान :—परमार्थ प्रकाशन, राधारमण मार्ग वृन्दावन

श्रीगौरजयन्ती उपलक्ष्य में २५% की भारी छूट

श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य का चरितांश तथा तत्वांश

श्रीगौर-तत्त्व

ग्रन्थ में आस्वादन कीजिए। ईश्वर-लक्षण, श्री श्रीराधाकृष्ण की एकात्मता, श्रुति में गौरवर्ण स्वयं भगवान्, राधाभाव सुवलितत्व, श्रीकृष्ण राधाप्रेम—महिमास्वादन, रसत्व के आश्रय एवं विषय—इन सब विषयों का रसमय अध्ययन एवं विवेचन।

न्यौछावर—३.५० रु० रियायती दाम ३० अप्रैल तक

२.६० रु० डाक खर्च अलग

प्राप्ति स्थान :—श्रीहरिनाम कार्यालय—वृन्दावन

नवल सखी की छद्म लीला

जाकी मुख छबि जो है अनङ्ग।
बह काहू ते नाँह प्रीति करत ॥
को ललित लड़ैती धरे धीर।
ऐसी कछ बाकी छबि सरीर।
मेरो मन न नैक टारे हू टरत ॥ ४ ॥

[वार्तिक]

श्रीप्रियाजी ने बूझी या बिरियां वह कहाँ पावैगी—तब सखी बोली ॥५॥

[दोहा]

फुल बगिया बैठी अली जहाँ सरोवर तीर।
जाके अङ्ग सुवास तें ह्वै रही भमरन भीर ॥ ६ ॥

[राग आसावरी वा जंगलाको जिला]

अब बैठी चुपचाप नवेली।
देखि अपूरब परम मोहिनी जुर मिलि आईं सखी सहेली ॥
नैनन आनन्द देत सबन को फूली नील मणिन की बेली।
ललित लड़ैती अचरज आवत परदा की सी फिरत अकेली ॥ ७ ॥

श्रीजी वचन सखी प्रति० [दोहा]

तुम बरणी शोभा घनी वा नई सुन्दर नार।
ऐसी ललित सुहावनी चहिये मेरे द्वार ॥ ८ ॥
चली सखी तहाँ जाइये जहाँ बैठी वह बाम।
लावें परम सनेह कर वाको अपने धाम ॥ ९ ॥

समाजी वचन [दोहा]

भानु कुमरि आई तहाँ लै युवतिन की भीर।
कुशल पूछ बूझन लगी बैठि साँवरि तीर ॥१०॥

श्रीजी वचन नवल सखी प्रति [ठुमरी खम्माच का जिला]

आज तू अकेली ब्रजमंडल कूं आई री।
कै उतरी देवन के लोक तें कै कहुँ बसत दिसंतर जाई री ॥
भामिन ऐसी होय नहीं कहुँ तेरी सम तू देत दिखाई री।
तुम आवन भयौ कौन नगर तें ललित लड़ैती देऔ बताई री ॥११॥

नवल सखी वचन श्रीजी प्रति [दोहा]

मेरो घर नन्दगाम है सुनों रूप की रास।
लाग रही तुम मिलन की घनें दिनन तें आस ॥१२॥

श्रीजी वचन नवल सखी प्रति [दोहा]

अरी सुहागिन साँवरी सुन्दर छबि अभिराम।
चल देवौ सुख नगर में बसौ हमारे धाम ॥१३॥

नवल सखी वचन श्रीजी प्रति [ताल दादरा राग खम्माच]

तुम धनि श्री वृषभानु दुलारी।
कुल मंडन बनितन चूरामणि कहाँ लौं करूँ बड़ाई तिहारी।
घनें दिनन ते लागि रही मन आस मिलन की तुमसों प्यारी।
ललित लड़ैती धन्य दिवस यह देखि सुफल भई आँख हमारी ॥१४॥

समाजी वचन [दोहा]

हँसति लसति दोऊ जनीं चलीं नगर की ओर।
प्यारी मुख चन्दा मनों साँवरि नैन चकोर ॥१५॥

[वार्तिक]

जब नगर में पहुंचीं तब श्री जी नवल सखी को अपने महलन में लिवाय लाईं ॥१६॥

श्रीजी वचन नवल सखी प्रति [ताल दादरा धुनि]

तुम किह काज तज्यौ घर आली।
कै निज सास त्रास सों निकसीं कै घरसौं भरतार निकाली ॥
काहे लाज करति है इनसों यह भोरी बरसाने वाली।
ललितलड़ैती कहौ अब जियकी बात न राखौ बीच बीचाली ॥१७॥

समाजी वचन [दोहा]

बेर बेर बूझति प्रिया यह न कहू बतरात।
ललिता कही यह कौतकिन सखी साँवरे गात ॥१८॥

श्रीजी वचन नवल सखी प्रति [दोहा]

अरी साँवरी गुण भरी नवल वधू छबि खान।
क्यों काँपत तेरौ बदन हमसौं प्रकट बखान ॥१९॥

नवल सखी वचन श्रीजी प्रति [राग आसावरी]

बन की गैल मिल्यौरी उतपाती।
दधि बेचन के काज आज मै वृन्दावन कुञ्जन को जाती ॥
नागर नट बंशीवट ठाड़ो सङ्ग साथ बहु सखा व्राती।
लपक झपक पटकी मटुकी दधि परस कपोल गही करछाती ॥
सबके बीच पुकार कहै मोहि यह तेरी छबि हमें सुहाती।
भली रची विधि जोरी दोउन क्यों इतनी मोसों सकुचाती ॥
तैं बंशी ले चोली दुराई तुरत निकास जो बन मदमाती।

यह सुनि जुरी भीर युवतिनकी दे अचरा मुख हँसि मुसिक्याती॥
ले शगुन निकसी दधि बेचन गोविन्दकी गति कहन न आती।
कैसे बास होय तहाँ नृप सुत घटवारी जगाती॥
वाकी या अनीति सों आली अति भयभीत कँपत दिनराती।
पनघट यमुना तट अरु जित तित सखी सहेली जानन पाती॥
ललित लड़ैती यहाँ लौं आई तोहि देख फूली न समाती।
जो बिरमाय रखे निशि प्यारी रहूं सदा तेरे गुण गाती ॥२०॥

[वार्त्तिक]

श्रीजी ने कही क्यों री वह ऐसोई है—फिर नवल सखी तो सकुच की मारी कछु न बोली—पास ते दूसरी सखी श्रीजी सों कहिबे लगी ॥२१॥

अपर सखी वचन श्रीजी प्रति [ईमन कल्याण]

तुम सुनो लंगर की बात।
एक दिना मैं जल कूँ जावत सीस कलस उठि प्रात॥
इकले में मो भेंट भई उन घेर लई मग जात।
ललित लड़ैती झटकि पटकि घट पुनि ठाड़ो मुसिक्यात ॥२२॥

चित्रा वचन [ताल दादरा राग खम्माच]

चित्रा कही सुनौरी माई।
कहुं यह नन्द महरि घर प्रगटी मोहन की सी देत दिखाई॥
निरखि निरखि कौतुक उपजत पै सब मुख ते कहति लजाई।
ललित लड़ैती हँसी साँवरी सुनिके प्रिया अधिक मुसिक्याई ॥२३॥

सखी वचन श्रीलालजी प्रति [राग छद्म खम्माच वा कालिंगड़ा]

यह विद्या छल तुम्हें सुहावै।
कबहुं प्रगट कबहूं भामिन वन बेर बेर इन गलियन आवै॥
बनिता भेष उतारि आपनौ अब मोहन निज रूप दिखावै।
ललित लड़ैती छाँड़ि निलज्जता अब कछु लाजहूं आदर पावै ॥२४॥

[दोहा]

गाई लीला रूप रस यथा बुद्धि अनुसार।
ललित लड़ैती सुनें तें उपजे प्रेम अपार ॥२५॥

इति श्रीनवल सखी की छद्म लीला॥

सांवरी छद्म गायन लीला

सखी वचन श्रीजी प्रति [राग ठुमरी ताल दादरा]

आज बड़े भोर ही मैं विपन कूँ गई री।
देखी इक नवल नारि बैठी गहबर के पार,
भमरन की भीर जासुवास सों भई री॥
ऐसी कछु शोभा अङ्ग चकित चित्र से विहङ्ग,
मनो रची एक सकल सृष्टि में दई री॥
जो ललित लड़ैती प्यारी मानो बिनती हमारी,
चलि लावौ महलन वा साँवरी नईरी॥ १॥

[राग ठुमरी ताल दादरा]

और हू बड़ाई वाकी श्रवण करो मोते आप।
ऐसी पर बीन गान, देखी न तो सुनी कान,
होवै थिर सरिता जल जाकौ सुनत अलाप॥
श्रवण करत बीन नाद, भूलि जायें शिव समाधि,
ऐसौ कछु लेत तान टारत विधि हू को जाप॥
है ललितलड़ैती प्यारी, सबही भाँति तन उजारी।
मिलि हैं सुख होय अधिक बिसर जायँ त्रिविध ताप॥२॥

[वार्तिक]

यह सुनि प्रिया जी सखी कूँ सङ्ग लैके पधारीं॥३॥

समाजी वचन [दोहा]

अति अकुलाय चली लली गहवर बन के पार।
जहाँ बैठी वह साँवरी नील मणिन अनुहार॥ ४॥
दै आदर सनमान बहु बैठारी निज पास।
फूली तन मन सांवरी देखि प्रिया छबि रास॥ ५॥

सखी वचन साँवरी प्रति [राग ठुमरी खम्माचका जिला]

तुम यश सुनि राज कुमरि मिलन काज आई री।
सबहीं भाँति अजर तन देत है दिखाई री॥
तेरी सम अवर विधि न सृष्टि में उपाई री।
तू ललित लड़ैती याते प्यारी मन भाई री॥ ६॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानदौ जयतः *

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

ते धन्यास्ते कृतार्थाश्च तैरेव सुकृतं कृतम्।
तैराप्तं जन्मनः प्राप्यं ये काले कीर्त्तयन्ति माम्॥
सकृदुच्चारयन्त्येतद् दुर्लभञ्चाकृतात्मनाम्।
कलौ युगे हरेर्नाम ते कृतार्था न संशयः॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, मई १९८२ { अंक ५

श्रीराधा-माधव-जोड़ी

हमारी सखी, श्रीराधा-माधव जोरी।
सजल घटा सम स्याम माधुरी, प्यारी विज्जुत गोरी॥
एक प्रान द्वै देह, अलौकिक रूप रसामृत घोरी।
गलबाँही दै चलत परस्पर सखी यूथ दोऊ ओरी॥
अङ्ग अङ्ग आभूषन राजत, लाजत मदन करोरी।
मृदु मुस्कान बैन रस सागर, नागर नवल किसोरी॥
बरसत सुधा नैन छवि निरखत, चतुर सिरोमनि भोरी।
'मधुदासी' हाँसी पर सरवस, न्यौछावर करि चोरी॥

* जो व्यक्ति स्नान-अशौचादि समय में भी मेरा नाम कीर्त्तन करते हैं, वे धन्य हैं, कृतार्थ हैं। उन्होंने समस्त पुण्य कर्म कर लिए हैं और उन्होंने जन्म का यथार्थ फल प्राप्त कर लिया है। विशेषतः कलियुग में, पापियों के लिए अति दुर्लभ इस श्रीहरिनाम का जो एक बार भी कीर्त्तन करते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं– इस में कोई भी संशय नहीं है।

श्रीहरिभक्तिविलास—११/१९२-९३॥

* श्रीराधाकृष्णौ जयतः *

श्रीमद्रूपगोस्वामिपाद–विरचित

व्रजनवीनयुवद्वन्द्वाष्टकम्

अथाष्टकेन तयोर्युगलं स्तौति—

अदुर्विधविदग्धतास्पदविमुग्धवेशश्रियो-
रमन्दशिखिकन्धराकनकनिन्दिवाससित्वषोः ।
स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमविभ्रमाभ्रप्रभा-
निभाङ्गमहसोर्भजेव्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ १ ॥

इस अष्टक में श्रीयुगलकिशोर श्री श्रीराधाकृष्ण की स्तुति गान करते हैं—व्रज की नवीन किशोर-जोड़ी—श्री श्रीराधाकृष्ण का मैं भजन करता हूँ, जो सम्पूर्ण रसिकता का आश्रय है। दोनों अतिशय रमण वेश-भूषा की कान्ति प्रसारित कर रहे हैं। श्रीराधाजी उज्ज्वल मोर-कण्ठ की कान्ति को भी निन्दित करने वाली नीलवर्ण साड़ी तथा श्रीकृष्ण स्वर्णकान्ति को भी पराजित करने वाले पीताम्बर को धारणकर रहे हैं। श्रीराधाजी की अङ्गकान्ति उज्ज्वल स्वर्ण-केतकी कुसुम की छटा धारण कर रही है और श्रीकृष्ण की अङ्ग-कान्ति श्याम-मेघ की महान् प्रभा को प्रसारित कर रही है ॥ १ ॥

तद्युगं पुनर्विशिनष्टि—

समृद्धविधुमाधुरीविधुरताविधानोद्धुरै-
र्नवाम्बुरुहरम्यतामदविडम्बनारम्भिभिः ।
विलिम्पदिव वर्णकावलिसहोदरैर्दिक्तटी-
र्मुखद्युतिभरैर्भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ २ ॥

श्रीराधाजी अपनी श्रीमुखचन्द्र-छटा से गर्व-पूर्वक पूर्ण-चन्द्र की सम्पूर्ण माधुरी को व्याकुलता प्रदान कर रही हैं और श्रीकृष्ण-मुख कान्ति नवीन मेघ-माला की रमणीयता की अवज्ञा करने वाली है। ये दोनों व्रज के नवीन किशोर-किशोरी केशर-कस्तूरी आदि से अनुलिप्त अपनी श्रीमुखकान्ति से मानो दशों-दिशाओं को पूरित कर रहे हैं—मैं ऐसी युगल-जोड़ी का स्मरण करता हूँ ॥ २ ॥

पुनस्तयोर्युगं विशिनष्टि—

विलासकलहोद्धतिस्खलदमन्दसिन्दूरभा-
गखर्वमदनांकुशप्रकरविभ्रमैरङ्कितम् ।
मदोद्धुरमिवेभयोर्मिथुनमुल्लसद्वल्लरी-
गृहोत्सवरतं भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ३ ॥

निकुञ्ज-भवन में केलि-विलास उत्सव में अनुरक्त होकर जो मतवाले हाथी-हथनी की भाँति विलास करते हैं और जिनके अङ्ग विलास-युद्ध में स्खलित उज्ज्वल सिन्दूर से शोभित तथा असंख्य मदनांकुश—नख-चिह्नों से अङ्कित हो रहे हैं, उन व्रज के नव युगलकिशोर प्रिया-प्रियतम का मैं ध्यान करता हूँ ॥३॥

आनन्दाश्रुरोमाञ्चवत्तया तद्युगं विशिनष्टि—

घनप्रणयनिर्झरप्रसरलब्धपूर्तेर्मनो-
हृदस्य परिवाहितामनुसरद्भिरस्त्रैः प्लुतम् ।
स्फुरत्तनुरुहांकुरैर्नवकदम्बजृम्भश्रियं-
व्रजत्तदनिशं भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ४ ॥

अब आनन्दाश्रु-पुलकावली-युक्त श्रीयुगलकिशोर का वर्णन करते हैं—

अत्यन्त निबिड़ (घनीभूत) स्नेह रूपी झरने के प्रवाह से पूर्ण होने के कारण मन एवं हृदय के द्रवित होने से जो आनन्द-अश्रुओं की धाराओं से प्लावित—अभिषिक्त हो रहे हैं, और जिनके श्रीअङ्ग प्रफुल्लित नवीन कदम्ब की कान्ति-पूर्ण पुलकावली की शोभा धारण कर रहे हैं, उन व्रज के नवकिशोर-युगल का मैं निरन्तर चिन्तन करता हूँ ॥ ४ ॥

संभोगं वर्णयन् विशिनष्टि—

अनङ्गरणविभ्रमे किमपि बिभ्रदाचार्यकं
मिथश्चलदृगञ्चलद्युतिशलाकया कीलितम् ।
जगत्यतुलधर्मभिर्मधुरनर्मभिस्तन्वतो-
र्मिथो विजयितां भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ५ ॥

सम्भोग वर्णन पूर्वक श्रीयुगलकिशोर की शोभा का चित्रण करते हैं—

अनङ्ग रण-विलास में एक अनिर्वचनीय आचार्यत्व को जो प्रकाशित कर रहे हैं, जो परस्पर चञ्चल नेत्रों के तीव्र कटाक्ष-द्युति वाणों से बिद्ध हो रहे हैं तथा लोक में अतुलनीय अर्थात् श्लिष्ट व्यञ्जक पद योजनात्मक आचरण से मधुर-रसमय विनोद से परस्पर जो विजय का विस्तार कर रहे हैं, उन व्रज के नव-युगलकिशोर की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ५ ॥

वनविहारं वर्णयन् विशिनष्टि—

अदृष्टचरचातुरीचणचरित्रचित्रायितैः
सह प्रणयिभिर्जनैर्विहरमाणयोः कानने ।
परस्परमनो मृगं श्रवणचारुणा चर्चरी-
चयेन रजयद् भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ६ ॥

वन-विहार का वर्णन करते हुए श्रीयुगलकिशोर की शोभा कहते हैं—

गुप्तचर-क्रिया की निपुणता में जो विख्यात हैं, उन को भी जो अपने चरित्रों से आश्चर्य में डाल देने वाली हैं, उन ललितादिक सहचरियों के साथ जो वृन्दावन में विहार कर रहे हैं, तथा सुनने में अति सुमधुर गीतादिक से जो एक दूसरे के मन रूपी मृग को आनन्दित कर रहे हैं, उन व्रज-नव किशोर युगल का मैं चिन्तन करता हूँ ॥ ६ ॥

जलविहारं वर्णयन् युवानौ विशिनष्टि--

मरन्दभरमन्दिरप्रतिनवारविन्दावली-
सुगन्धिनि विहारयोर्जलविहारविस्फूर्जितैः ।
तपे सरसि वल्लभे सलिलवाद्यविद्याविधौ
विदग्धभुजयोर्भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ७ ॥

जल-विहार का वर्णन करते हुए श्रीयुगलकिशोर की छबि का चित्रण करते हैं—

मकरन्द-राशि से भरे नवीन कमलों की सुगन्धि से महकते हुए अपने प्रियकुण्ड—राधाकुण्ड में जो ग्रीष्म-ऋतु में विहार कर रहे हैं और विहार के कारण जिनकी मालाएँ टूट रहीं हैं एवं जिनकी भुजाएँ जल की वाद्य-विद्या में अति निपुण हैं—उन व्रज के नवकिशोर-युगल श्री श्रीराधा-कृष्ण का मैं भजन करता हूँ ॥ ७ ॥

द्यूतकेलिं वर्णयन् युवानौ विशिनष्टि—

मृषाविजयकाशिभिः कलितचातुरीराशिभि-
र्ग्लहस्य हरणं हठात् प्रकटयद्भिरुच्चैर्गिरा ।
तदक्षकलिदक्षयोः कलितपक्षयोः साक्षिभिः
कुलैः स्वसुहृदां भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥ ८ ॥

उन व्रज के नवकिशोर युगल लाल का मैं चिन्तन करता हूँ, जो द्यूत कलह (चौसर की बाजियों) में अति निपुण ललितादिक तथा मधुमङ्गलादि अपने-अपने साक्षिजनों (पक्षपातियों) से परिवेष्ठित हैं, और जो अपनी-अपनी झूँठी जीत के लिए अनेक चातुरी-पूर्वक दावे करते हुए हार-जीत के (दाव) में लगे हार की जोर से शोर मचा-मचाकर छीना-झपटी कर रहे हैं ॥ ८ ॥

अष्टकपाठफलाह—

इदं वलिततुष्टयः परिपठन्ति पद्याष्टकं
द्वयोर्गुणविकासि ये व्रजनवीनयूनोर्जनाः ।
मुहुर्नवनवोदयां प्रणयमाधुरीमेतयो-
रवाप्य निवसन्ति ते पदसरोजयुग्मान्तिके ॥ ९ ॥

(शेषांश पृष्ठ १३ पर)

श्रीभक्तिसन्दर्भः

यद्यपि तत्त्व की साक्षात् प्राप्ति के ज्ञान, योग एवं भक्ति—तीनों साधन प्रतिपादित किए गए हैं, परन्तु भक्ति की ही सर्वतोभावेन सर्वश्रेष्ठता शास्त्र-वचनों द्वारा सिद्ध होती है। भक्ति के विना न तो ज्ञान अपना फल प्रदान करने में सक्षम है और न योग। इसी प्रकार अहंग्रहोपासना अर्थात् उपास्य के साथ उपासक की अभेद भावनात्मक जो उपासना है, वह भी अति तुच्छ मानी गई है, क्योंकि जब पांचों प्रकार की मुक्तियां भी एकान्तिकी भक्ति के सामने तिरस्कार को प्राप्त होती हैं, तो अहंग्रहोपासना की क्या बात ?

सारांश यह है कि ज्ञान-योगादि अनेक साधन एवं उनके विभिन्न साध्य-स्वरूपों का शास्त्र में वर्णन किया गया है, परन्तु विवेचना करने से यही निष्पन्न होता है कि एक मात्र एकान्तिकी भक्ति—अन्याभिलाष-शून्या, जिस में अपने सुख-लाभ तथा दुःख-निवृत्ति तक की भी कामना नहीं है, यदि कामना है तो श्रीकृष्ण के सुख सम्पादन की, कृष्ण-सेवा प्राप्ति की—ऐसी भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य-निरपेक्ष है एवं समस्त साधनों के फलों को स्वच्छन्दरूप में अनायास प्रदान करने वाली है। अतः समस्त शास्त्रों ने ऐसी भक्ति के अनुष्ठान करने वाले एकान्तिक भक्तों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा एवं महिमा गान की है ॥१७६॥

१७७—यस्मादेवं सर्वानन्दातिक्रमलिंगेन परमानन्दस्वरूपासौ भक्तिस्तस्मात् तत्र स्वभावत एव प्रवृत्तिर्गुणस्तथाभूतामपि तन्माधुरीं स्वदोषेणानुभवितुमसमर्थानां तु केवलविधि - निषेध - सम्भवगुण-दोष-दृष्टयैव प्रवृत्तिरपि पूर्वापेक्षया दोष एव। यथोक्तमेतत् पूर्वाध्याये (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इत्यादौ साक्षाद्भक्तेरपि विधानाविधानयोर्गुणदोषताम् (भा० ११।१९।४५) "किं वर्णितेन बहुना" इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रतिपाद्य "गुण दोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभय वर्जितः" इति लब्ध-तन्माधुर्यानुभवानां तद्विधिनिषेधकृत-गुणदोषौ नस्त एवेत्याह (भा० ११।२०।३६)—

न मय्येकान्त - भक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥

टीका च - गुणदोषैर्विहित-प्रतिषिद्धैरुद्भवो येषां ते गुणाः पुण्यपापादयः इत्येषा॥ श्रीभगवान्॥

अतएव वह एकान्तिकी भक्ति समस्त आनन्दों को अतिक्रम करने वाले लक्षणोंयुक्त होकर परमानन्द स्वरूपिणी है। ऐसी भक्ति में स्वाभाविकी प्रवृत्ति ही गुण है। जो लोग अपने दोष के कारण उस भक्ति की माधुरी का अनुभव करने में असमर्थ हैं और केवल मात्र विधि-निषेधजात गुण-दोषों में प्रवृत्त रहते है, उनकी वह प्रवृत्ति ही पूर्वापेक्षा दोष-रूप ही मानी गई है। जैसा कि पूर्व अध्याय में—श्रीभागवत (११।१९।३६) के "शमो मन्निष्ठता बुद्धे" श्लोक से लेकर (११।१९।४५) "किं वर्णितेन बहुना"—श्लोक तक साक्षात् भक्ति के विधान में गुण और अविधान में दोषों का प्रतिपादन किया गया है। गुण एवं दोषों को देखना ही दोष है और इन दोनों को न देखना ही गुण है—ऐसा अन्त

में कहा गया है। अतः इन वचनों के अनुसार, जिन्होंने भक्ति की माधुरी का अनुभव किया है, उनके लिए विधि-निषेधजात गुण-दोषों का अभाव ही प्रतिपादित किया गया है।

श्रीभागवत (११।२०।३६) में श्रीभगवान् ने कहा है—मेरे एकान्तिक-प्रेमीभक्तों का एवं उन साधुजनों का जो, बुद्धि से अतीत परतत्त्व को प्राप्त कर चुके हैं, विधि-निषेध से होने वाले गुण-दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥५१३॥

सारांश यह है कि प्रेम भक्ति में जो स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वह विधि-निषेध के गुण-दोषों से अछूती है। ऐसी प्रवृत्ति एक महागुण है, परन्तु विधि-निषेधजात गुण-दोष विचार कर जो भजन में प्रवृत्ति है—वह एक दोष है। वास्तव में अनन्य भक्तों के लिए विधि-निषेधजात किसी गुण-दोष से सम्बन्ध ही नहीं है - वे इन दोनों से परे अवस्थित होते हैं ॥

१७८—इयमकिञ्चनाख्या भक्तिरेव जीवानां स्वभावत उचिता। स्वाभाविक-तदाश्रया हि जीवाः (श्वे. ६।९) 'स कारणं करणाधिपाधिपः' इति श्रुतेः।' अंशत्वेऽपि वहिरङ्गत्व स्वीकारात् तदाश्रयत्वं सूर्य्यमण्डलबहिरातपपरमाणूनामिव। अतएव पाद्मोत्तारखण्डे प्रणव व्याख्याने—

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम्।
वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ॥५१४॥
अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण चोच्यते।
मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्त्तितः ॥५१५॥ इत्यादि।

अन्ते च—भगवच्छेषरूपोऽसौ मकाराख्यः सचेतनः इति, तथा—

अवधारणवाच्येव उकारः कैश्चिदिष्यते।
श्रीश्च तत्पक्षपातित्वादकारेणैव चोच्यते।
भास्वरस्य प्रभा यद्वत्तस्य नित्यानपायिनी ॥५१६॥इत्यादि।

अतएव श्रीवैष्णवानां प्रणव एव महावाक्यमिति स्थितम्। तथाष्टाक्षर व्याख्याने—

श्रीमते विष्णवे तस्मै दास्यं सर्वं करोम्यहम्।
देशकालाद्यवस्थासु सर्वासु कमलापतेः ॥५१७॥
इति स्वरूपसंसिद्धं मुख्यं दास्यमवाप्नुयाम्।
एवं विदित्वा मन्त्रार्थं तद्वृत्तिं सम्यगाचरेत् ॥५१८॥
दासभूतमिदं तस्य जगत् स्थावरजंगमम्।
श्रीमन्नारायणः स्वामी जगतां प्रभुरीश्वरः ॥५१९॥इति॥

तदेतदाहुः (श्रीभा० १०।८७।२०)—

स्वकृतपरेष्वमोष्ववहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥५२०॥

स्वेन त्वया कृतेषु पुरेषु देहेषु वर्त्तमानं तव पुरुषं जनं तवैवांशरूपेण त्वदीयस्वरूपेण कृतं नित्यसिद्धं वदन्ति। तत्राखिलशक्तिधृतस्तव इत्युक्त्वा तदखिलशक्तिगणान्तःपाति-जीवाख्यतटस्थशक्ति-विशिष्टस्यैव तवांशः न तु स्वरूपशक्तिविशिष्टस्य केवलस्वरूपस्येत्यायातम्। ततो मूलमण्डलस्थानीय-त्वदाश्रयकरश्मिपरमाणुस्थानीया जीवा इति भावः। अंशत्वे हेतुः, अबहिरन्तरसंवरणम्। बहिरन्तश्च यस्य संवरणं नास्ति, किन्तु तैस्तैरुपाधिभिः संवरणमेवास्तीत्यर्थः। अतः संवरणहीनस्य तवायमंश एवेति भावः। इति एतत्प्रकारांनुर्जीवस्य गतिं स्वभावत एव त्वदाश्रयकस्त्वदेकजीवनश्चासौ जीव इति तत्त्वं विविच्य ज्ञात्वा कवयः पण्डिता विश्वसिताः श्रद्धाना भवत एवाङ्घ्रिमुपासते। विश्वासे हेतुः, निगमावपनं सकलवेदबीजोज्जीवनैकाश्रयक्षेत्रं शास्त्रयोनिमित्यर्थः। अतो नित्यत्वदाश्रयैकजीवनानामपि तेषां तद्वैमुख्येन यत् संसारदुःखं भवति, तदपि साम्मुख्येन स्वयमेव पलायत इत्याहुः, अभवमिति। न विद्यते भवः संसारो यत्रेति। अथवा भजनीयस्य नित्यत्वेन भक्तेरप्यनश्वरत्वं प्रतिपादयन्ति, अभवं जन्मरहितम् अङ्घ्रिमिति। तस्मादकिञ्चनाख्या भक्तिरेव सर्वोर्द्ध्वमभिधेया। श्रुतयः श्रीभगवन्तम्॥ •

यह अकिञ्चना-नामक भक्ति अर्थात् एकान्तिकी भक्ति ही जीव का स्वाभाविक उचित धर्म है। श्वेताश्वेतर श्रुति (६।६) के इस कथनानुसार कि "वह परब्रह्म निखिल विश्व का कारण है और इन्द्रियों के अधिपति देवताओं का भी अधिपति है"—जीव स्वभावतः ही उस परब्रह्म के आश्रित कहे गए हैं। किरणों के परमाणु जैसे सूर्य के ही आश्रित होते हैं, उसी प्रकार यद्यपि जीव ने भगवान् का विभिन्नांश होने के कारण बहिर्मुखता स्वीकार की हुई है, फिर भी है श्रीभगवान् के आश्रित ही। इसलिए पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में प्रणव की व्याख्या में कहा गया है—

प्रणव में 'अ'–कार, 'उ'–कार तथा 'म'–कार—ये तीन वर्ण विद्यमान हैं। यह प्रणव ऋक्, यजुः एवं साम-–त्रिवेदात्मक है और 'ब्रह्म' पद रूप में निरूपण किया गया है ॥५१४॥

'अ'–कार से विष्णु, 'उ'–कार से श्रीलक्ष्मी कही गई हैं और 'म'–कार से श्रीविष्णु एवं श्रीलक्ष्मी—इन दोनों के दास पचीसतत्त्व अर्थात् जीव निरूपित हुए हैं ॥५१५॥

अन्त में कहा गया है कि 'म'–कार नामक उक्त पदार्थ श्रीभगवान् का शेषरूप है और वह सचेतन है। कोई-कोई कहते हैं कि—

लक्ष्मीदेवी निरन्तर विष्णु परायणा होने से विष्णुवाचक 'अ'–कार द्वारा कही गई हैं। शास्त्र में भी कहा गया है कि सूर्य की प्रभा की तरह लक्ष्मीदेवी भी विष्णु को अनपायिनी नित्य शक्ति है।

इसलिए यहां 'उ'-कार लक्ष्मी वाचक नहीं है, परन्तु केवल मात्र अवधारण वाचक है ।।५१६।।

अत: वैष्णवगण के लिए प्रणवही महावाक्य निर्णीत है, तत्त्वमसि नहीं। अष्टाक्षर मन्त्र की व्याख्या में भी कहा गया है—

मैं सर्वस्थान पर हर समय हर अवस्था में भगवान् लक्ष्मीपति श्रीविष्णु का दासत्व—सेवा करता हूँ—इस प्रकार भावनापूर्वक व्यक्ति स्वरूप - सिद्ध मुख्य विष्णु - दासत्व प्राप्त करते हैं । इस प्रकार मन्त्र का अर्थ जानकर साधक को भगवत्-दासत्व का सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिये ।।५१७-५१८।।

यह स्थावर-जङ्गमात्मकं जगत् श्रीनारायण का ही दास है और वे ही इस जगत् के स्वामी, पालक एवं ईश्वर हैं ।।५१९।।

यही बात श्रीभागवत (१०।८७।२०) में भी कही गई है—हे भगवन्! अपने-अपने उपार्जित कर्मों के द्वारा रचित शरीरों में जीव रहता है । वास्तव में वह बाहर-अन्दर आवरण रहित है । तत्त्वज्ञ व्यक्ति उसको समस्त शक्तियों के धारण करने वाले आप का अंश कहते हैं और आपके द्वारा उसे रचित कहते हैं । इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति जीव के वास्तविक स्वरूप को जानकर परम विश्वास के साथ आपके चरण-कमलों की उपासना करते हैं, क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पण स्थान एवं परमपद स्वरूप हैं ।।५२०।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—'स्वकृत देहम्'—अर्थात् आप द्वारा रचित शरीरों में विद्यमान जीव को आपके ही अंश रूप से अर्थात् आपके अणुस्वरूप के कारण तत्त्वज्ञ लोग नित्यसिद्ध कहते हैं। 'अखिल शक्तिधारी' इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि अनन्त शक्तिमान् श्रीभगवान् की अखिल शक्तियों में जो उनकी जीव-नामक तटस्था-शक्ति है, जीव उसका अंश है । किन्तु स्वरूप शक्ति विशिष्ट श्रीभगवान् के विशुद्ध स्वरूप का अंश नहीं है । इसलिए जीव सूर्यमण्डल-स्थानीय आपके आश्रित किरण-परमाणु स्थानीय है—यह अभिप्राय है ।

जीव श्रीभगवान् का अंश स्वरूप है—इसका कारण यह है कि जीव अन्तर एवं बाहर के आवरण से रहित है । परन्तु केवल मात्र देहादि की उपाधि के द्वारा आवरण विशिष्ट लगता है । इसलिए जीव संवरण - शून्य आपका ही अंश है । अत: इस प्रकार जीव के आप ही स्वभावत: एक मात्र आश्रय हैं और आपकी सत्ता के कारण ही जीव की सत्ता है—इस तत्त्व को जानकर विद्वान् लोग श्रद्धापूर्वक आपके चरण-कमलों की उपासना करते हैं ।

विश्वास या श्रद्धा का कारण यह है कि आपके चरण ही समस्त वेदों के बीज (प्राण) के अंकुरित करने में एक मात्र आश्रयक्षेत्र हैं, क्योंकि आप

'शास्त्र योनि' है। इसलिए जो जीव आपका ही एकमात्र आश्रय ग्रहणपूर्वक जीवन धारण करते हैं, उनका आपकी विमुखता से पैदा हुआ संसार - दुःख आपके सन्मुख होते ही अपने-आप भाग जाता है। अतः भगवत्-चरणारविन्द के लिए 'अभव' विशेषण प्रयोग किया गया है। 'अभव' - का अर्थ है, नहीं है संसार का भय जहां। अथवा भजनीय श्रीभगवान् के नित्यत्व के कारण भक्ति का भी नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है। 'अभवं'—शब्द से जन्मराहित्य भी सूचित किया गया है, अर्थात् भक्ति अनादि सिद्ध है अथवा भक्ति - प्राप्त व्यक्ति को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। इसलिए अकिञ्चना-भक्ति सर्वोत्कृष्ट अभिधेय है—ऐंसा श्रुतियों ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा है।

गोपालतोषणी टीका—एकान्तिकी भक्ति अर्थात् श्रीभगवान् का एक मात्र आश्रय ग्रहण करना—जीव का स्वाभाविक—स्वरूपानुबन्धि धर्म है—ऐसा श्रुति-शास्त्रों ने निरूपण किया है। क्योंकि जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है। शक्ति सदा शक्तिमान् के आश्रित रहती है। शक्तिमान् की सत्ता से ही शक्ति की सत्ता होती है। अतः जीव सदा श्रीभगवान् के आश्रित है। केवल भगवत् आश्रय होना ही एकान्तिकी भक्ति नहीं, श्रीभगवान् के चरणों का दासत्व स्वीकार करना—सेवा करना ही सर्वतोभाव से भगवदाश्रय होना है। अतः निखिल शक्तिधारी अंशी श्रीभगवान् के आश्रित होना अंश-स्थानीय जीव का परम कर्त्तव्य है या स्वाभाविक धर्म है। इससे अकिञ्चना भक्ति का सर्वोत्कृष्ट अभिधेयत्व सिद्ध होता है ॥१७८॥

१७९—अथ तस्या एव प्रकारान्तरेण स्थापनाय प्रकरणान्तरं यावत्तल्लक्षणप्रकरणम्। तदेवं परमदुर्लभस्वरूपं परमदुर्लभफलञ्चाकिञ्चनाख्यसाक्षाद्भक्तिरूपं साम्मुख्यं कथं स्यादिति वक्तु साम्मुख्यमात्रस्य निदानमुपलक्षयति (श्रीभा० १०।५१।५४)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५२१॥

यदा भ्रमतः संसरतो जनस्य भवापवर्गो भवेत्, संप्राप्तकालः स्यात्, तदा सत्सङ्गमो भवेत्। अत्र च यदा सत्संगमो भवेत् तदा भवापवर्गो भवेदिति वक्तव्ये वैपरीत्येन निर्द्देशस्तत्र सत्संगमस्य शीघ्रतयावश्यकतया च हेतुत्वविवक्षया। अतएवातिशयोक्तिनाम्नालंकारस्य चतुर्थो भेदोऽयमित्यालंकारिकाः। तदुक्तं तद्विवृतौ "चतुर्थी सा कारणस्य गदितुं शीघ्रकारिताम्। या हि कार्य्यस्य पूर्व्वोक्तिरिति। तथोक्तं नलकूवर-मणिग्रीवौ प्रति श्रीभगवता (भा० १०।१०।४१)—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥५२२॥इति॥

तत्र हेतुः यर्हि यदा सत्सङ्गस्तदैव परावरेशे त्वयि मतिर्भवति। तद्वैमुख्यकरानादिसिद्धतज् ज्ञानसंसर्गाभावान्ते तत्साम्मुख्यकरं तज्ज्ञानं जायत

इत्यर्थः । अतएवोक्तं श्रीविदुरेण (श्रीभा० ३।५।३)—

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्म्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं, भूतानि भव्यानि जनार्द्दनस्य ॥५२३॥ इति

अत्र दैवात् प्राचीनकर्म्मणो हेतोस्तदावेशादधर्म्मशीलस्य भगवद्धर्म्म-रहितस्य इत्यर्थः । मूलपद्ये "यर्हि तदैव" इति निर्द्देशान्न कालविलम्बेन । तत्र चैवकारान्नान्यदा कदाचिदपीत्यर्थः । तेन तन्मतौ हेतुः, सद्गतौ यत्र यत्र सन्तः समपद्यन्ते तत्र तत्र गतिः स्फुरणं यस्य तस्मिंस्त्वयीति । तथा चेतिहाससमुच्चये-

यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः ।
तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ॥५२४॥ इति॥

सतां गताविन्यत्र व्याख्यानेऽपि असतां त्वसौ न गतिः, अतस्तद्द्वारैवा-न्येषां तल्लाभो युक्त इति पूर्व्ववदेव । पिंगलाया अपि सत्संगो (भा० ११।८।३४) "विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीरित्यत्र व्यक्तोऽस्ति" ।

टीका च सत्संगतौ सत्यामप्यहो मम मोह इत्याह, विदेहानामिति-इत्येषा । तदेवं यत्र नोपलभ्यते सत्सगस्तत्राप्याधुनिकः प्राक्तनो वा पारम्परिको वानुमेय एव । अत्र कृतश्रीनारदादिदर्शनादेरपि देवतादेः श्रीनलकूवरादिवत्ता-दृशत्वप्राप्तिर्न श्रूयते इत्यत एवं विवेचनीयम् । यद्यप्यपराधसद्भावो वर्त्तते पुरखे तदा तद्दोषेण सत्सु निरादराणां साधारणपुण्यादिदृष्टीनाञ्च तद्दोषशान्त्यर्थं सत्संगस्य भगवत्साम्मुख्यकारणत्वेऽपि तत्कृपासाहाय्यमपेक्ष्यते, निरपराधत्वे सति सत्संगनैव जातपरमोत्तमदृष्टीनां तु तेषां तेषु मनोऽवधानाभावेऽपि सत्सग-मात्रं तत्कारणमिति । अतः सापराधानेवाधिकृत्योक्तम् अजानजदेवैः (भा० ३।५।४४)—

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये, पराकृतान्तर्मनसः परेशः ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं, ये ते पदन्यासविलासलक्ष्मयाः ॥५२५॥ इ०

ते तव पदन्यासविलासलक्ष्मयाः सम्बन्धिनो ये भक्ता इत्यर्थः । ते तान् नूनं प्रायो न पश्यन्ति, न कृपादृष्टिविषयीकुर्व्वन्ति इत्यर्थ । कान् ? ये असद्वृ-त्तिभिः सापराधचेष्टैरक्षिभिरिन्द्रियैः पराकृतान्तर्मनसो दूरीकृतान्तर्मुखचित्त-वृत्तयो बहिर्मुखा इत्येवं व्याख्यानमप्यत्रानुसन्धेयम् । अत्र साधारणासद्वृत्तित्वं न गृह्यते । सर्वस्य तत्कृपायाः प्राक् तथाभूतत्वात् 'जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-दित्यादिकमविषयं स्यादिति । तस्मादनपराधासद्वृत्तौ तेषां कृपा प्रवर्त्तत एव । कथञ्चिदवधानाभावेन तदप्रवृत्तावपि संगमात्रेणैव तेषां सम्मतिः स्यात् । यत्र तु सापराधेऽपि स्वैरतयैव कृपां कुर्व्वन्ति, तस्यैव तन्मतिः स्यान्नान्यस्य. नलकूव-रवत् साधारणदेवतावच्चेति । यथा श्रीभरतस्य रहूगणे यथा चोपरिचरवसो-र्वृत्तं विष्णुधर्म्मे । स हि देवसाहाय्यायैव दैत्यान् हत्वा विरज्य च भगवद्नु-

ध्यानाय पातालञ्च प्रविष्टवान्। तञ्च निवृत्तमपि हन्तुं लब्धछिद्रा दैत्याः समागत्य तत्प्रभावेणोद्यतशस्त्रा एवातिष्ठन्। ततश्च व्यर्थोद्यमाः पुनः शुक्रोपदेशेन तं प्रति पाखण्डमार्गमुपदिशन्तोऽपि जातया तत्कृपया भगवद्भक्ता बभूवरिति। अत उक्तं विष्णुधर्म्मे एव—

अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
नाक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः ॥५२६॥इति॥

ननु (भा० ७।९।४४) "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको, नान्यस्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये" इत्येवं श्रीप्रह्लादस्य सर्व्वस्मिन्नपि संसारिणि कृपा जाता, तर्हि कथं न सर्व्वमुक्तिः स्यात्? उच्यते जीवानामनन्तत्वान्न ते सर्व्वे मनसि तस्यारूढ़ास्ततो यावन्तो दृष्टश्रुतास्तच्चेतस्यारूढ़ास्तावतां तत्प्रसादाद्भविष्यत्येव मोक्षः, नैतानित्येतच्छब्दप्रयोगात् ये चान्ये, तेषामपि तत्कीर्त्तनस्मरणमात्रेणैव कृतार्थतावरं स्वयमेव कृपया दत्तवान् श्रीनृसिंहदेवः (भा० ७।१०।१४)—

य एतत् कीर्त्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥५२७॥इति॥

यस्त्वां कीर्त्तयेदपि, किं पुनस्त्वं यान् कृपया स्मरसीति भावः। तस्मात् साधूक्तं भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत् इति॥ मुचुकुन्दः श्रीभगवन्तम्॥

अब उस विशुद्धा एकान्तिकी या अहैतुकी निर्गुणा भक्ति को ही भिन्न प्रकार से मुख्य अभिधेयरूप में स्थापन करने के लिए उसके लक्षणयुक्त एक और प्रकरण का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार परम दुर्लभ स्वरूपा एवं परम दुर्लभ फल प्रदानकारी अकिञ्चना नाम की भक्ति यदि साक्षात् भगवत् साम्मुख्य रूप है तो उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है?—उसे वर्णन करने के लिए पहले साम्मुख्यमात्र का कारण प्रकाशित करते हैं—

श्रीमद्भागवत (१०।५१।५४) में श्रीमुचुकुन्द ने श्रीभगवान् के प्रति कहा है—हे नाथ! संसार चक्र में भ्रमणशील जीव के जब संसार क्षय होने का समय उपस्थित होता है, तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है और जब सत्सङ्ग प्राप्त होता है उसी समय स्थावर-जङ्गम के अधिष्ठाता, सद्गति स्वरूप आप भगवान् के प्रति उसकी मति या रति पैदा हुआ करती है ॥५२१॥

जब ही संसार में जीवन-मरण को बार-बार प्राप्त करने वाले जीव का संसार बन्धन नाश होने का उपयुक्त काल आता है, तब उसे सत्पुरुषों का समागम प्राप्त होता है। यहां कहना तो यह चाहिये था कि जब सत्सङ्ग प्राप्त होता है, तभी संसार बन्धन नाश हो जाता है, क्योंकि संसार-बन्धन के नाश का कारण है सत्सङ्ग। उसका पहले प्राप्त होना आवश्यक है। किन्तु यहां

उलटी बात कही गई है कि जब संसार-बन्धन नाश होने को होता है तब सत्संग की प्राप्ति होती है। इसलिए आलङ्कारिक-व्यक्ति इस श्लोक को अतिशयोक्ति-नामक अलङ्कार के चौथे भेद के उदाहरण रूप में निर्देश किया करते हैं। उस भेद के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं। कारण की शीघ्र कार्यकारिता को व्यक्त करने के लिए पहले कार्य का ही जहां उल्लेख किया जाता है, उसे चतुर्थ प्रकार का अतिशयोक्ति-अलङ्कार कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि भव-बन्धन के नाश रूप कार्य को उसके कारण रूप सत्सङ्ग से पहले इसलिए कहा गया है कि सत्सङ्ग के द्वारा अति शीघ्र ही भव-बन्धन का नाश हो जाता है।

श्रीभागवत (१०।१०।४१) में श्रीभगवान् ने नलकूबर एवं मणिग्रीव के प्रति भी यही कहा है—

सूर्य के दर्शन मात्र से जैसे लोगों का नेत्र-बन्धन नष्ट या अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार समचित, एवं मेरे प्रति अर्पित चित्त साधुगणों के दर्शन मात्र से ही जीवों का भव-बन्धन निवृत्त हो जाता है ॥५२२॥

भव-बन्धन के नाश का कारण यह है कि जिस समय सत्-पुरुषों का सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय स्थावर-जङ्गम के ईश्वर या अधिष्ठान स्वरूप श्रीभगवान् में जीव की प्रीति उदय हो उठती है। तात्पर्य यह है कि भगवद् बहिर्मुखता रूप अनादि सिद्ध भगवद् विषयक ज्ञान का प्रागभाव ध्वंस होकर भगवत् साम्मुख्य उदित करने वाला भगवद् विषयक ज्ञान आविर्भूत हो उठता है। अर्थात् भगवद् विषयक ज्ञान तो अनादि सिद्ध है, किन्तु जीव का जो प्रांग-भाव है, वही जीव के लिए भगवद् विषयक ज्ञान को उदित नहीं होने देता और इसी से जीव बहिर्मुख हो जाता है। सत्सङ्ग से वह प्रागभाव नष्ट हो जाता है और उस में भगवद् विषयक ज्ञान या बुद्धि उदित हो उठती है। इसलिए श्रीभागवत (३।५।३) में श्रीविदुरजी ने कहा है—

दैववशत: अधर्मशील, कृष्ण-विमुख, अत्यन्त दुखित चित्त व्यक्तियों के प्रति अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् जनार्दन के प्रिय मङ्गलमय साधुगण इस जगत् में विचरण करते रहते हैं ॥५२३॥

'दैवात्'—दैववश का अर्थ है प्राचीन कर्मों के फल स्वरूप में आविष्ट होने के कारण जो अधर्मशील हैं अर्थात् भागवत धर्म रहित हैं—उन पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवद् भक्त जगत् में विचरते रहते हैं।

मूल श्लोक में 'यर्हि तदैव"—का अभिप्राय यह है कि 'जिस समय' ही सत्सङ्ग होता है, (उसी समय) ही भगवद् विषयिणी मति उदित हो उठती है 'एव'-शब्द से तात्पर्य है—उसी समय ही और किसी काल में नहीं। सत्सङ्ग से भगवद् विषयिणी मति के उदय का कारण कहते हैं—जहां-जहां सत्पुरुष जाते हैं वहां-वहां ही सद्गति प्रकाशित होती है। उसके कारण श्रीभगवान् में मति-रति उदित हो उठती है।

[पृष्ठ ४ का शेषांश]

जो व्यक्ति आनन्द-पूर्वक व्रज नवीन किशोर-युगल—श्री श्रीराधाकृष्ण के गुण-माधुर्य प्रकाशित करने वाले इस अष्टक को पढ़ते हैं, वे उन श्रीयुगलकिशोर की प्रतिक्षण नव-नवायमान प्रेम-माधुरी को प्राप्त कर उनके युगल-चरणकमलों के समीप ही निवास करते हैं ॥८॥

अथोक्ताष्टकार्थानुयायितयोर्ध्यानमेकेन पद्येनाह—

कोणेनाक्ष्णः पृथुरुचि मिथो हारिणा लिह्यमाना-
वेकैकेन प्रचुर पुलकेनोपगूढ़ौ भुजेन।
गौरीश्यामौ वसन युगलं श्यामगौरं वसानौ
राधाकृष्णौ स्मरविलसितोद्दामतृष्णौ स्मरामि ॥१०॥

उपर्युक्त अष्टक—आठ श्लोकों में पृथक्-पृथक् लीलाओं का ध्यान वर्णन किया गया है। अब उन समस्त के अनुरूप छबि का ध्यान इस एक ही श्लोक में वर्णन करते हैं—

जो प्रीति-पूर्वक सुन्दर नैनों की कोर से एक-दूसरे के रूप सौन्दर्य का दर्शन या अनुभव कर रहे हैं एवं एक-दूसरे की पुलकित भुजाओं द्वारा परस्पर आलिङ्गित हो रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गों पर नीलाम्बर तथा पीताम्बर सुशोभित हैं, और जो कन्दर्प-विलास के लिये आतुर हो रहे हैं, ऐसे गौर-श्यामवर्ण श्री श्रीराधा-कृष्ण का मैं स्मरण करता हूँ ॥१०॥

★

मेरे सांवरिया

कलावती भटनागर

जसुदा नन्दन ब्रजचन्द्र हरी, गिरिधारी नटवर सांवरिया।
नन्द-नन्द तुही यदुनन्द तुही, जै कृष्णमुरारी साँवरिया ॥
करतार तुही, भरतार तुही, सर्वस्व तुम्ही प्रिय साँवरिया।
नन्दलाल तुम्ही गोपाल तुम्ही, श्रीनवल बिहारी नागरिया ॥
घनश्याम तुम्हीं सुखधाम तुम्ही, श्रीमदनमुरारी साँवरिया।
श्याम तुम्ही बलधाम तुम्ही, वंशीधर पतित उद्धार पिया ॥
जै हृदय तुम्ही जै प्राण तुम्ही, जै कला के प्यारे साँवरिया ॥

साधक ! सावधान !!

□

- नियम-पूर्वक श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन का आश्रय ग्रहण करो।
- जहाँ श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन होता है, वहाँ श्रीभगवान् अवश्य उपस्थित रहते हैं।
- श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में प्रेम-विकार उत्पन्न होने पर श्रीभगवान् प्रेमी के वशीभूत हो जाते हैं।
- श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में विकार तभी उदित होते हैं; जब नामापराध नहीं रहते।
- नामापराध खण्डन का एक मात्र उपाय भी नाम-सङ्कीर्त्तन है।
- श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से मन की एकाग्रता होकर अपने आप समस्त इन्द्रियों की वृतियाँ संयत हो जाती हैं।
- श्रीनाम-जप तथा सङ्कीर्त्तन करते-करते श्रीनामी का माधुर्य अनुभव होने लगता है।
- श्रीनाम की महिमा की अनुभूति किसी नाम-ग्रहणकारी महत्पुरुष की कृपा से अतिशीघ्र होने लगती है।
- श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन की समस्त भक्ति अङ्गों पर व्याप्ति है।
- कर्म, योग, ज्ञान का फल एक मात्र श्रीनाम से प्राप्त हो जाता है।
- श्रुति-उपनिषद् वेदों में श्रीनाम-महिमा का स्पष्ट वर्णन है।
- प्रणव परब्रह्म श्रीभगवान् का एक नाम ही है, जो समस्त वेद-मन्त्रों का बीज है—**"तस्य वाचकः प्रणवः"**।
- श्रीनाम—सर्वशक्ति सम्पन्न है एवं नाम-शक्ति अचिन्त्य है।
- श्रीनाम-ग्रहण में शरीर एवं स्थान की पवित्रता-अपवित्रता की अपेक्षा नहीं है।
- श्रीनाम-साधन में देश-काल का कुछ नियम नहीं है।
- नर-नारी, ब्राह्मण-शूद्र, गृहस्थ-विरक्त सब श्रीनाम के अधिकारी हैं।
- श्रीनाम उच्चारण करने वाले व्यक्ति की ओर नामी-भगवान् मुड़कर अवश्य देखते हैं।
- श्रीनाम एवं नामी-श्रीभगवान् दोनों अभिन्न हैं स्वयं प्रकाश-चिन्मय हैं।

श्रीतुलसी-कवितावली

—श्रीइन्द्रदेव नारायण जी

□

जातुधान, भालु, कपि, केवट, विहङ्ग जो-जो
पाल्यो नाथ ! सद्य सो-सो भयो काम-काजको।
आरत अनाथ दीन मलिन सरन आए,
राखे अपनाइ, सो सुभाउ महाराजको ॥
नाम तुलसी, पै भोंडो भाँग तें, कहायो दासु,
कियो अङ्गीकार ऐसे बड़े दगाबाजको।
साहेबु समर्थ दसरत्थके ! दयालदेव
दूसरो न तो-सो तुम्हीं आपनेकी लाजको ॥६॥

हे नाथ ! आपने निशाचर, भालू, वानर, केवट, पक्षी—जिस-जिसको अपनाया वही तुरन्त (निकम्मेसे) कामका हो गया। दु:खी, अनाथ, दीन, मलिन —जो भी शरणमें आये उन्हींको आपने अपना लिया, ऐसा महाराजका स्वभाव है। नाम तो (मेरा) तुलसी है पर हूँ मैं भाँगसे भी बुरा और कहलाने लगा दास और आपने ऐसे दगाबाजको भी अङ्गीकार कर लिया। हे दशरथनन्दन ! आपके समान कोई दूसरा समर्थ स्वामी अथवा दयालु-देव नहीं है ; अपने शरणागतकी लज्जा रखनेवाले तो आप ही हैं।

महाबली बालि दलि, कायर सुकंठु कपि
सखा किए महाराज ! हो न काहू कामको।
भ्रात - घात - पातकी निसाचर सरन आएँ,
कियो अङ्गीकार नाथ ! एते बड़े बामको ॥
राय दसरत्थके ! समर्थ तुरे नाम लिएँ,
तुलसी-से कूरको कहत जगु रामको ॥
आपने निवाजेकी तौ लाज महाराजको
सुभाउ समुझत मनु मुदित गुलामको ॥७॥

हे महाराज ! आपने महबलवान् बालिको मारकर कायर सुग्रीवको मित्र बनाया, जो किसी कामका नहीं था। भाईको धोखा देनेका पाप करनेवाले विभीषण को शरण आनेपर—इतना प्रतिकूल होते हुए भी—स्वीकार कर लिया। हे महाराज दशरथके समर्थ सुपूत ! तुम्हारा नाम लेनेसे आज तुलसी-जैसे कपटी-

को भी लोग रामका कहते हैं। अपने अनुगृहीत दासकी लाज रखना तो महाराज-का स्वभाव ही है, यह समझकर सेवक का मन आनन्दित होता है।

रूप - सीलसिंधु, गुनसिंधु, बंधु दीनको,
दयानिधान, जानमनि, बीरबाहु - बोलको।
स्राद्ध किये गीधको, सराहे फल सबरीके,
सिला - साप - समन, निबाह्यो नेहु कोलको॥
तुलसी उराउ होत रामको सुभाउ सुनि,
को न बलि जाइ, न बिकाइ बिनु मोल को।
ऐसेहू सुसाहेबसो जाको अनुरागु न, सो
बड़ोई भागो, अभागु भागो लोभ-लोलको॥८॥

भगवान् श्रीराम रूप और शीलके सागर, गुणोंके समुद्र, दीनोंके बन्धु, दयाके निधान, ज्ञानियोंमें शिरोमणि तथा वचन और बाहुबलमें शूरवीर हैं। उन्होंने गृध्रका श्राद्ध किया, शबरीके फलोंकी प्रशंसा की, शिला बनी हुई अहिल्याके शापको शमन किया और भीलोंके साथ प्रेम निवाहा। गोसाईंजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रके स्वभावको सुनकर उत्साह होता है। उसपर कौन न्यौछावर नहीं होगा और कौन उनके हाथ बिना मोल नहीं बिक जायगा? ऐसे उत्तम स्वामीसे भी जिसे प्रीति नहीं है, वह बड़ा ही अभागा है और उस लोभसे चलायमान मनुष्यका भाग्य ही उससे दूर भाग गया है।

सूरसिरताज, महाराजनि के महाराज,
जाको नामु लेतहीं सुखेतु होत ऊसरो।
साहेबु कहाँ जहान जानकीसु सो सुजान,
सुमिरें कृपालुके मरालु होत खूसरो॥
केवट, पषान, जातुधान, कपि-भालु तारे,
अपनायो तुलसी - सो धींग धमधूसरो।
बोलको अटल, बाँहको पगारु, दीनबंधु,
दूबरेको दानी, को दयानिधानु दूसरो॥९॥

जो वीरोंके शिरोमणि और महाराजाओंके महाराज हैं, जिनका नाम लेते ही बंजर जमीन भी उपजाऊ हो जाती है, उन जानकीपति (श्रीराम) के समान सुजान स्वामी संसारमें कौन है? जिस कृपालुको स्मरण करनेसे ही उल्लू भी हंस हो जाता है। उन्होंने केवट, शिलारूप (अहिल्या), राक्षस, वानर और भालुओं-को तारा और तुलसी-से गँवार मुष्टण्डेको भी अपना लिया। उनके समान बात-का पक्का और भुजाओंका आश्रय देनेवाला तथा दुःखियोंका सगा, दुर्बलोंका दानी और दयाका भण्डार दूसरा कौन है?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

सारार्थवर्षिणी टीका—एमेवम्भूतमेव मां ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभिरपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव कर्म कृतम् ॥१५॥

अनुवाद—इस प्रकार मेरे स्वरूप को जानकर प्राचीन (जनकादि) मुमुक्षु पुरुषों द्वारा भी लोक प्रवर्तन के लिए कर्म किये गये हैं, इसलिये पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए कर्म को तू भी कर ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

सारार्थवर्षिणी टीका –किञ्च, कर्म्मापि न गतानुगतिकन्यायेनैव केवलं विवेकिना कर्त्तव्यम्, किन्तु तस्य प्रकारविशेषं ज्ञात्वैवेत्यतस्तस्य प्रथमं दुर्ज्ञेयत्वमाह ॥१६॥

अनुवाद—कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस विषय में विद्वान् पुरुष भी मोहित हैं । इसलिये जिसको जानकर तू अशुभ (संसार) से मुक्त हो जायगा, वह कर्म तुझे उपदेश करता हूँ ॥१६॥

तात्पर्य—विवेकी पुरुष को गतानुगतिक न्याय से अर्थात् देखा-देखी मात्र से कर्म नहीं करना चाहिये, परन्तु उसके प्रकार विशेष को जानकर ही करना चाहिए । इसलिए पहले उसके दुर्ज्ञेयत्व को बताते हैं ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सारार्थवर्षिणी टीका—निषिद्धाचरणं दुर्गतिप्रापकमिति तत्त्वम्, तथा अकर्म्मणः कर्म्माकरणस्यापि सन्न्यासिनः कीदृशं कर्म्माकरणं शुभदमिति अन्यथा निःश्रेयसं कथं हस्तगतं स्यादिति भावः । कर्म्मण इत्युपलक्षणं कर्म्माकर्म्मविकर्म्मणां, गतिस्तत्त्वम्, गहना दुर्गमा ॥१७॥

अनुवाद—कर्म के स्वरूप को भी जानना चाहिये, विकर्म के स्वरूप को तथा अकर्म के स्वरूप को भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है ॥१७॥

तात्पर्य—वास्तव सिद्धान्त यह है कि निषिद्धाचरण दुर्गति देने वाला होता है और अकर्म अर्थात् कर्म न करने वाले संन्यासियों के लिए भी कौन सा

कर्म न करना शुभदायक है उसे भी समझना होगा, अन्यथा उन्हें मुक्ति पदार्थ कैसे मिल सकता है ? कर्म के उपलक्षण से कर्म-अकर्म-विकर्म इन तीनों का तत्त्व दुर्गम है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

सारार्थवर्षिणी टीका—तत्र कर्म्माकर्म्मणोस्तत्त्वबोधमाह—कर्म्मणीति। शुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानवत्त्वेऽपि जनकादेरिवाकृत-सन्न्यासस्य कर्म्मण्यनुष्ठीयमाने निष्काम-कर्म्मयोगे अकर्म्म, कर्म्मेदं न भवतीति यः पश्येत्, तत्कर्म्मणो बन्धकत्वाभावादिति भावः, तथाऽशुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानाभावेऽपि शास्त्रज्ञत्वात्ज्ञानवावदूकस्य सन्न्यासिनोऽकर्म्मणि, कर्म्माकरणे कर्म्म पश्येत् दुर्गतिप्रापकं कर्म्मबन्धमेवोपलभते, स एव बुद्धिमान्, स तु कृत्स्नकर्म्माण्येव करोति, न तु तस्य ज्ञानवावदूकस्य ज्ञानिमानिनः सङ्गेनापि तद्वचसापि सन्न्यासं करोतीति भावः। तथा च भगवद्वाक्यम्—"यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः। ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते माञ्च धर्म्महा। अविपक्व कषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥" इति ॥१८॥

अनुवाद—जो पुरुष कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म को देखता है, वही मनुष्यों के मध्य बुद्धिमान्, योगी एवं सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ॥१८॥

तात्पर्य—अब कर्म और अकर्म के तत्त्व ज्ञान को बताते हैं। शुद्धान्तःकरण वाला पुरुष ज्ञानवान् होने पर भी जनकादियों के समान संन्यास ग्रहण न करके निष्काम कर्म योग द्वारा कर्म करता है। वही 'अकर्म' है। यह कर्म नहीं है- इस प्रकार जो देखता है, उसे उस कर्म से बन्धन नहीं होता। और जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ, फिर तत्त्व ज्ञान भी जिसे नहीं है, केवल शास्त्र ज्ञान से लम्बी-चौड़ी ज्ञान की बात करने वाले संन्यासी के अकर्म में अर्थात् कर्म के न करने पर भी उस में कर्म को देखता है अर्थात् उस में दुर्गति प्रदायक कर्म-बन्धन को समझता है, वह ही बुद्धिमान् है। वह सम्पूर्ण कर्मों को करता है। मिथ्या-ज्ञानाभिमानी व्यक्ति की सङ्गति से तथा कहने से वह संन्यासी नहीं बनता। ऐसा श्रीभगवान् का कथन भी देखा गया है—(भा० ११।१८।४०), जिसने कामादि छः शत्रुओं को नहीं जीता, इन्द्रिय रूपी सारथी जिसका उग्र है। और ज्ञान वैराग्य से हीन है तथा त्रिदण्ड तथा संन्यास चिह्नों अर्थात् भगवे कपड़े पहन कर जीविका चलाता है तथा ऐसा अशुद्धान्तःकरण वाला धर्मघाती पुरुष आराध्य देवताओं की अपने आत्मा की, आत्मा में स्थित मेरी वञ्चना करके इस लोक तथा परलोक दोनों से ही वञ्चित होता है। सारांश यह है कि निष्काम एवं अनासक्त होकर कर्म करना ही युक्त है, केवल ज्ञान की बातें बनाना तथा भगवा पहन कर त्रिदण्ड धारण करने से संन्यास में अकर्मता सिद्ध नहीं होती ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।

सारार्थवर्षिणी टीका—उक्तमर्थं विवृणोति—यस्येति पञ्चभिः । सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्म्माणि, कामः फलं तत्सङ्कल्पेन वर्ज्जिताः । ज्ञानमेवाग्निस्तेन दग्धानि कर्म्माणि क्रियमाणानि विहितानि निषिद्धानि च यस्य सः; एतेन विकर्म्मणश्च बोद्धव्यमित्यपि विवृतम् । एतादृशाधिकारिणि कर्म्म यथा अकर्म्म पश्येत्, तथैव विकर्म्माप्यकर्म्मैव पश्येदिति पूर्व्वश्लोकस्यैव सङ्गतिः । यदग्रे वक्ष्यते—"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्व्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्ज्जुन । ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते यथा" इति ।।१९।।

अनुवाद—जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सङ्कल्प से रहित हैं, ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके कर्म भस्म हो चुके हैं, उसी को विद्वान्‌जन पण्डित या ज्ञानी कहते हैं ।।१९।।

तात्पर्य – उपर्युक्त विषय को ही अगले पाञ्च श्लोक में विस्तार-पूर्वक समझाते हैं । समारम्भाः-अर्थात् जिनका सम्यक् रूप से आरम्भ किया गया है, ऐसे कर्म । कर्मसङ्कल्पवर्जिताः-अर्थात् फलसङ्कल्प से रहित कर्म, ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं अर्थात् जिसके विहित तथा निषिद्ध सभी क्रियमाण कर्म ज्ञान की अग्नि में जल चुके हैं, इससे निषिद्ध कर्मों का भस्म हो जाना भी जानना चाहिये । अतः योग्य अधिकारी में जैसे कर्म को अकर्म देखना चाहिए, वैसे ही विकर्म—निषिद्ध कर्म में भी अकर्म ही देखना चाहिए । यहाँ पूर्व श्लोक की भी सङ्गति हो जाती है । (आगे ३६ एवं ३७ वें श्लोकों में भी यही बात कही गई है ।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।२०।।

सारार्थवर्षिणी टीका—नित्यतृप्तो नित्यं निजानन्देन तृप्तः । निराश्रयः स्वयोगक्षेमार्थं न कमप्याश्रयते ।।२०।।

अनुवाद—जो व्यक्ति कर्मफल की आसक्ति त्यागकर निजानन्द में नित्य परितृप्त है तथा योगक्षेम के लिए चेष्टा रहित है, वह कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी कुछ नहीं करता; अर्थात् उसे कर्म बन्धन नहीं होता ।।२०।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।२१।।

सारार्थवर्षिणी टीका –आत्मा—स्थूलदेहः । शारीरं शरीरनिर्व्वाहार्थं कर्म्मासत्प्रतिग्रहादिकम् । कुर्व्वन्नपि किल्विषं पापं नाप्नोतीत्येतदपि विकर्म्मणश्च बोद्धव्यमित्यस्य विवरणम् ।।२१।।

अनुवाद—जो कामना-शून्य है, जिसकी चित्त और इन्द्रियाँ संयत हैं, भोग पदार्थों को जिसने छोड़ दिया है एवं केवल शरीर निर्वाह के लिये कर्म करता है, उसको पाप नहीं होता ॥२१॥

तात्पर्य—यहाँ आत्मा का अर्थ है स्थूलदेह। शरीरं–अर्थात् शरीर निर्वाह के लिये असत् प्रतिग्रहादि कर्म करने पर भी उसको पाप बन्धन नहीं होता—इस के द्वारा भी विकर्म को समझाया गया है ॥२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अनुवाद जो सहज में प्राप्त हो उस में ही सन्तुष्ट, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अतीत, मत्सर (ईर्ष्या) से रहित, सिद्धि और असिद्धि में समान भाव वाला पुरुष कर्मों को करने पर भी नहीं बँधता ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

सारार्थवर्षिणी टीका—यज्ञो वक्ष्यमाणलक्षणस्तदर्थं कर्म्माचरतस्तत् कर्म्म प्रविलीयते—अकर्म्मभावमापद्यत इत्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित चित्त व्यक्ति के यज्ञ के लिये आचरण करते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझ में लय हो जाते हैं ॥२३॥

तात्पर्य—यज्ञ का लक्षण इस से अगले श्लोकों में कहते हैं। उस यज्ञ के लिये कर्म का आचरण करने वाले व्यक्ति के कर्म लय हो जाते हैं; अर्थात् अकर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

सारार्थवर्षिणी टीका—'यज्ञायाचरतः' इत्युक्तम्, स यज्ञ एव कीदृशः ? इत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मेति। अर्प्यते अनेनेत्यर्पणं जुह्वादि, तदपि ब्रह्मैव; अर्प्यमाणं हविरपि ब्रह्मैव, ब्रह्माग्नाविति हवनाधिकरणमग्निरपि ब्रह्मैव, ब्रह्मणेति हवन-कर्त्तापि ब्रह्मैव एवं विवेकवता पुंसा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यम्, न तु फलान्तरम्। कुतः ? ब्रह्मात्मकं यत् कर्म्म तत्रैव समाधिश्चित्तैकाग्रचं यस्य तेन ॥२४॥

अनुवाद—अर्पण (स्रुवादि) भी ब्रह्म है, हवि (हवन सामग्री) भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्त्ता के द्वारा जो हवन किया गया है, वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म रूप कर्म में एकाग्र हुए उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है ॥२४॥

पण्डित श्रीगदाधर जी

□

स्वभक्तियोग-लासिनं सदा व्रजे विहारिणं,
हरि - प्रिया - गणाग्रणं शचीसुत - प्रियेश्वरम् ।
सराध - कृष्णसेवन - प्रकाशकं महाशयं,
भजाम्यहं गदाधरं सुपण्डितं गुरुं प्रभुम् ।।

—श्रीगदाधराष्टकम्–१।

मैं पूज्यपाद प्रभुप्रवर पण्डित-वर्य श्रीगदाधर जी का स्मरण करता हूँ, जो अपने भक्तियोग से सुशोभित हैं, सदा व्रज में विहार करने वाले हैं, श्रीराधिका जी के परिकर में अग्रगण्य हैं, श्रीशचीनन्दन के विशिष्ट प्यारे हैं, श्रीराधा सहित श्रीकृष्ण सेवा के प्रकाशक हैं एवं जिनका आन्तरिक आशय अति महान् है।

व्रजलीला में पण्डित श्रीगदाधर श्रीराधिका जी थे—

श्रीराधाप्रेमरूपा या पुरा वृन्दावनेश्वरी ।
स श्रीगदाधरो गौरवल्लभः पण्डिताख्यकः ।।

—गौरगणोद्देशदीपिका–१४७।।

श्रीवृन्दावन में प्रेमस्वरूपिणी जो वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा हैं, वही नवद्वीप लीला में गौर-प्रिय श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी हैं।

पण्डित श्रीगदाधर वारेन्द्र श्रेणी ब्राह्मण थे। इनके पिताश्री का नाम था श्रीमाधव मिश्र तथा माताजी का श्रीमती रत्नावती देवी। आपका आविर्भाव संवत् १५४३ वैशाखी अमावस्या के दिन हुआ। ये १२ वर्ष पर्यन्त वेलिटी ग्राम में रहे और १३ वें वर्ष में नवद्वीप में अपने मामा के घर आकर रहने लगे थे। इन्होंने विवाह नहीं किया। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि से दीक्षा इन्होंने प्राप्त की।

पञ्चतत्त्व—भक्तःरूप, भक्त-स्वरूप, भक्तावतार, भक्त तथा भक्तिशक्ति—इन में श्रीगदाधर भक्तशक्ति-तत्त्व हैं। श्रीमन्महाप्रभु-गौराङ्ग के ये चिरसङ्गी हैं। श्रीगौराङ्ग जब संन्यास लेकर नीलाचल गए तो ये भी उनके साथ नीलाचल चले आये।

श्रीमन्महाप्रभु के आविर्भाव के समय श्रीगोपीनाथ आचार्य नवद्वीप में ही रहते थे, जो वासुदेव सार्वभौम के जीजा थे और बाद में नीलाचल जाकर रहने लगे थे। उनके घर में एकबार श्रीईश्वरपुरी जी आकर रहे और एक मास

पर्यन्त नित्य कृष्ण-कथा कहते थे। श्रीगदाधर उस समय बालक ही थे। यह भी कथा सुनने जाते। जब तक कथा सुनते इनके नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहती रहती। सब वैष्णव इन्हें देखकर अति आनन्दित होते, श्रीपुरी महाराज भी इन से अत्यधिक स्नेह करते। उन्होंने स्वरचित "श्रीकृष्णलीलामृत" ग्रन्थ का इन्हें अध्ययन कराया।

नवद्वीप में श्रीगदाधर जी न्याय-शास्त्र का जब अध्ययन करते थे, तो एक दिन रास्ते में श्रीनिमाई पण्डित (श्रीगौराङ्ग) ने इन्हें पकड़ लिया और बोले—गदाधर ! बोलो, मुक्ति के क्या लक्षण हैं ? इन्होंने कहा—"आत्यन्तिक दुःख निवृति को 'मुक्ति' कहते हैं।" प्रभु ने इस अर्थ में अनेक दोष दिखा दिए। श्रीगदाधर जी अवाक् रह गये।

श्रीपुण्डरीक विद्या-निधि श्रीकृष्ण-भक्त थे। किन्तु उनकी कृष्ण-भक्ति को कोई जान न सकता था। वे बाहर से एक विषयी मनुष्य की तरह बड़े ठाट-बाट, ऐशो-आराम से रहते थे। श्रीमुकुन्द इस रहस्य को जानते थे। श्रीगदाधर श्रीमुकुन्द के अति प्रिय थे। एक दिन श्रीमुकुन्द इन से बोले—चलो गदाधर! तुम्हें एक अद्भुत कृष्ण-भक्त के दर्शन करा लाऊँ"। श्रीगदाधर अति प्रसन्न होकर उनके साथ श्रीपुण्डरीक विद्या-निधि के निवास-स्थान पर पहुंचे। क्या देखते हैं—पुण्डरीक महाशय एक राजकुमार की तरह मनोरम पलङ्ग पर बैठे हैं। ऊपर चन्दोआ टङ्ग रहा है। अति सूक्ष्म रेशमी चादर पलङ्ग पर बिछ रही है। पाँच-सात झाड़ियाँ सजी हुई रखी हैं। मुँह में पान भरा हुआ है। होंठों पर लाली सुगन्धित इतर से वे अभिषिक्त हैं और सेवक मोर-पुच्छ के पङ्खा से इनकी हवा कर रहे हैं। (क्रमानुसार इनका भी विस्तृत चरित्र प्रकाशित किया जायगा)।

श्रीगदाधर ने उन्हें प्रणाम किया। श्रीपुण्डरीक ने श्रीमुकुन्द से इन का परिचय प्राप्त किया। श्रीगदाधर मन-मन में उनके वैष्णव होने में सन्देह जाग उठा, जो स्वाभाविक था—वैष्णव और यह विषयी पुरुषों की सी रहनी। अवश्य उनके माथे पर तिलक तो लग रहा था। श्रीमुकुन्द के मुख से जितनी श्री-पुण्डरीक की भक्ति प्रशंसा सुन रखी थी, उन को देखते ही श्रीगदाधर के चित्त में वह समाप्त सी हो गई।

श्रीमुकुन्द इनके मन के भावों को जान गए। उन्होंने श्रीपुण्डरीक के भक्त-स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए श्रीमद्भागवत (३।३।२३) के एक श्लोक का मधुर-स्वर से गान किया—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापायदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम्॥

श्रीउद्धव जी ने कहा—हे विदुरजी ! कितना आश्चर्य ! पापिनी-पूतना अपने स्तनों में हलाहल विष लगाकर आई और श्रीबाल-कृष्ण को मारने के लिए

ही अपना वह स्तन पिलाया। उसको भी उन्होंने माता के योग्य उत्तम गति प्रदान कर दी, कहिये है कोई ऐसा दयालु ? जिसकी हम शरण ग्रहण करें ?

फिर क्या था ? श्रीपुण्डरीक तो जोर से रो उठे। शरीर उनका पुलकित गला भर आया। पलङ्ग से नीचे आ पड़े—हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! हे प्राण-नाथ ! हे दयालु ! आप कहाँ हो—इस प्रकार कहते-कहते पछाड़ें खाने लगे। कहाँ गयी वह वेष-भूषा, वस्त्रों की भी सम्भाल न रही। बेसुध होकर पृथ्वी पर पड़ गए। श्रीगदाधर जी के विस्मय की सीमा न रही। मन में अति पश्चाताप करने लगे—ऐसे परम भागवत की मैंने मन में अवज्ञा की। श्रीमुकुन्द ने जैसे-तैसे श्रीविद्यानिधि को सुस्थिर किया।

श्रीगदाधर जी ने श्रीमुकुन्द से प्रार्थना की—मैंने ऐसा परम-भागवत नहीं देखा। इन के प्रति मेरा अपराध हुआ। अब मुझे इनके चरणों का आश्रय ग्रहण करना है—मुझे इन से दीक्षा दिलवा दीजिये, तभी मेरा अपराध नष्ट होगा। श्रीमुकुन्द ने श्रीविद्यानिधि जी से स्वीकृति ली। श्रीगदाधर जी ने भी श्रीमन्महाप्रभु का आज्ञा-आदेश पाकर श्रीविद्यानिधि जी से कृष्ण-मन्त्र की दीक्षा प्राप्त कर अपने को कृत्-कृत्य माना।

श्रीगदाधर श्रीगौराङ्ग के परम आन्तरिक थे। उन्होंने अपने संन्यास-ग्रहण का संवाद श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु को सब से पहले सुनाया और फिर जिन पाँच व्यक्तियों को उसकी सूचना देने को कहा, उन में एक आप भी थे।

जिस समय श्रीमन्महाप्रभु नीलाचल से श्रीवृन्दावन-यात्रा के लिए रवाना हुए तो अनेक भक्त आपके साथ चलने को तैयार हो उठे। उन में श्रीगदाधर पण्डित भी थे। उन्होंने क्षेत्र-संन्यास व्रत ले रखा था, अर्थात् आजीवन मैं नीला-चल से बाहर नहीं जाऊँगा। इन को अपने साथ तैयार हुआ देख श्रीप्रभु ने कहा—

श्रीगदाधर ! तुमने तो क्षेत्र-संन्यास व्रत ले रखा है, तुम नीलाचल में ही रहो—मेरे साथ मत चलो, श्रीगदाधर बोले—

याहां तुमि सेई नीलाचल। क्षेत्र-संन्यास मोर याउक रसातल" ॥

प्रभो ! जहाँ आप रहोगे, वहीं मेरा नीलाचल है। रसातल में जाए मेरा क्षेत्र-संन्यास, जिस में मुझे आपके दर्शन से वञ्चित रहना पड़े"।

श्रीमन्महाप्रभु—गदाधर ! तुम यहाँ श्रीगोपीनाथ-विग्रह की सेवा करते हो, मैं उस से परम सन्तुष्ट हूँ। मेरे साथ चलने में एक तो तुम्हारी नीलाचल-वास की प्रतिज्ञा भङ्ग होगी, फिर श्रीगोपीनाथ की सेवा छूटेगी। इन दोनों का दोष मुझे लगेगा।

श्रीगदाधर—प्रभो ! आपके चरण-दर्शन मेरे लिए कोटि-कोटि श्रीविग्रह की सेवा है। आप चिन्ता मत करें—सब दोष मैं अपने ऊपर लेता हूँ। यदि आप

अपने साथ मुझे ले जाने में हिचक रहे हैं तो मैं अकेला ही जाऊँगा। प्रतिज्ञा एवं सेवा-त्याग के पाप का मैं स्वयं ही भागी बनूँगा।

इतना कहकर ये वहाँ से अकेले चल ही दिये। इसीलिए श्रीकविराज को कहना पड़ा--

पण्डितेर चैतन्य-प्रेम बुझन न जाय।
प्रतिज्ञा श्रीकृष्ण - सेवा छाड़िल तृण प्राय।।

श्रीमन्महाप्रभु देखते ही रह गये। कटक में आने पर श्रीप्रभु, इन से सन्तुष्ट तो थे ही, करुणामय है न ! इन का हाथ पकड़ कर बोले—

पण्डित ! अब तो तुम सन्तुष्ट हो न ? प्रतिज्ञा और सेवा का त्याग ही तो तुम्हारा उद्देश्य था। अब वह पूरा हो गया, तुम नीलाचल से बहुत दूर आ गए हो। देखो, गदाधर ! तुम अपनी सुख-वाञ्छावश मेरे साथ रहना चाहते हो? इस में तुम्हारे दोनों धर्म--क्षेत्र संन्यास-प्रतिज्ञा तथा श्रीगोपीनाथ-सेवा तो नष्ट हो ही गए हैं और फिर मुझे भी दुःख दे रहे हो। यदि तुम मेरा सुख चाहते हो तो नीलाचल लौट जाओ। तुम्हें मेरी शपथ है यदि कुछ अव बोले तो।'

इतना कहकर श्रीमन्महाप्रभु नौका पर चढ़ कर चल दिए और ये मूर्च्छित होकर किनारे पर पड़े रहे। श्रीसार्वभौम ने इन्हें आश्वस्त किया कि श्री-प्रभु का सुख ही हमारा सुख है। उनकी लीला में हमें क्या दखल ?

श्रीभट्टाचार्य ने कहा—पण्डित ! भक्तजन तो श्रीकृष्ण-सेवा, दर्शन के लिए अपना सर्वस्व त्याग देते हैं और यहाँ तक कि अपने धर्म, प्रतिज्ञा को भी श्रीकृष्ण के लिए तृण सम त्यागने को तैयार हो जाते हैं, परन्तु भक्त के धर्म की हानि क्या श्रीभगवान् सहन कर सकते हैं ? तुम्हारे विरह-दुःख को प्रभु सहन कर सकते हैं ? तुम्हारे विरह-दुःख को प्रभु सहन करेंगे, परन्तु तुम्हारे धर्म की उन्होंने यत्नपूर्वक रक्षा की है।

लौट आए श्रीपण्डित नीलाचल। श्रीमन्महाप्रभु वृन्दावन-यात्रा से लौट-कर नीलाचल आये। रथयात्रा के अवसर पर नवद्वीप वासी सब वैष्णव प्रभु के दर्शन करने आये थे। उन दिनों श्रीवल्लभाचार्य भी नीलाचल प्रभु-दर्शन के लिए आ पहुँचे। रथ के आगे श्रीमन्महाप्रभु के रूप-माधुर्य एवं महाभावावेश का दर्शन कर वे जान गए कि श्रीकृष्ण-चैतन्य साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। समय पाकर श्रीवल्लभा-चार्य श्रीमन्महाप्रभु के पास पहुंचे और निजकृत श्रीभागवत-टीका सुनाने की इच्छा प्रकट की, परन्तु श्रीमन्महाप्रभु ने उन्हें टाल दिया।

श्रीगदाधर को प्रभु-प्रियतम जानकर वे इनके पास आने-जाने लगे और उन्हें ही अपनी भागवत-टीका सुनाने लगे। यद्यपि श्रीपण्डित सुनने के इच्छुक न थे, फिर भी संकोच वश "न तो हाँ कर सके और न ना" सुनने लगे। सब वैष्णवों में यह बात फैल गई कि श्रीगदाधर श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या सुन रहे हैं।

साँवरी छद्म गायन लीला

[वार्तिक]

तब साँवरी ने बूझी-अरी सखी साँची कहौ जब श्रीजी निज मुखारबिन्द सों बोलीं ।।७।।

श्रीजी वचन साँवरी प्रति [राग ठुमरी खम्माच का जि०]

तोहि देखि मानो आज सरबस मैं पाई री।
नैन सैन मधुरे बैन रूप की निकाई री।
बेसरि को मोती नाक लेत चित्त चुराई री।
ललित लड़ैती कहाँ लौं करुँ मैं बड़ाई री ।। ८ ।।

[राग ठुमरी खम्मांच का जि०]

बहुत सुनी श्रवण तेरे गुनन की बड़ाई री।
मधुर मधुर बोलन अवलोकन सुखदाई री।
अति प्रवीन गायवे में सखियन बतराई री।
ललित लड़ैती गावौ लै गति मन भाई री ।। ९ ।।

[वार्तिक]

यह सुनि के साँवरी बोली-गावौंगी तो सही। परन्तु या समय मेरी बीन टूट रही है—जब आप बोलीं—अरी भैनां तू हमारे महलन कूँ चल। बीन बन जायेगी ।।१०।।

[दोहा]

चली साँवरी बीन लै प्यारी जू के धाम।
बैठारी सनमान करि भवन रूप अभिराम ।।११।।

[वार्तिक]

जब सखीन ने बीन सँवार दई-तब श्रीजी ने साँवरी सों कही—अब तौ गावौ—यह सुनि साँवरी ने प्रसन्न होयके गायो ।।१२।।

[ठुमरी]

गायो प्रवीन धरि बीन अंश स्वर साधि,
चित्त की चौंप सों सबन रिझायौ आली।
ऐसौ ही जमायो राग मोहे नर देव नाग,
तीनों ही लोक में आनन्द छायौ आली।

उघरी सङ्गीत गति बिसरि गई छद्म मति,
नाच गति नन्दलाल कौतुक उपायौ आली।
ह्वै त्रिभङ्ग ठाड़ी भई हाथन में बंसी लई,
ललित लड़ैती हँस भाव निज दिखायो आली ॥१३॥

सखी वचन सखी प्रति [चाल दादरा पीलूका जि०]

यह कौतुक नयौ भयौ री स्यानी।
देखि श्याम कहुं लई चोरि गति वाकी सी बोलत मृदुबानी।
चपल नैन याके वाके से इन लक्षण मैंने पहिचानी।
ललित लड़ैती भामिन नाहीं है यह वुहि छलिया दधिदानी ॥१४॥

समाजी वचन [दोहा]

कर तल पटक हँसति सखी लीला देखि अनूप।
धरि आवत नित स्वांग नये सुन्दर श्याम स्वरूप ॥१५॥

यह लीला गाई नई दम्पति केलि विलास।
ललित लड़ैतो सुनें तें उपजे परम हुलास ॥१६॥

॥ इति श्रीसाँवरी छद्म गायत्त लीला ॥

★

छद्म सिंगार-लीला

समाजी वचन [दोहा]

एक दिवस उठि भोर ही रसिक शिरोमणि श्याम।
युवती भेष बनाय के चले प्रिया के धाम ॥ १ ॥

बरसाने गलियन फिरत साँवरि नैन विशाल।
ठुमकि धरति पग धरनि पै पायल शब्द रसाल ॥ २ ॥

सखी वचन साँवरी प्रति [राग आसावरी वा० व० पी० जि०]

तू कहाँ बसंत एरी नई नागरि रूप उजागर भामिन भोरी।
अधर अरुण नव तरुण साँवरी मृग नैनी बड़ गोप किशोरी।
जोवन मद सों झूमत डोले तोहि देखि को होय न बौरी।
ललित लड़ैती कहो मुख साँची आई यहाँ कौन की पौरी ॥ ३ ॥

साँवरी वचन सखी प्रति [दोहा]

मेरौ घर नन्द गाम है सुनौ रूप की रास।
हौं प्यारी के मिलन की धरि आई चित आस ॥ ४ ॥

सखी वचन साँवरी प्रति [दोहा]

फिरै स्वतंत्र डगर बगर एरी रूप अपार।
ताहू पै कुल लाज तज हेरत पुर नर नार ॥ ५ ॥

या पुर में आई नई करत फिरत अनरीत।
तू कहा जाने साँवरी राजघरन की रीत ॥ ६ ॥

साँवरी वचन सखी प्रति [दोहा]

दया मया तेरे न कछु निपट कपट की खान।
मोहि विदेसिन जान के एतो करति सयान ॥ ७ ॥

समाजी वचन [दोहा]

यों कहि महलन कूँ चली परम कौतकिन नार।
प्रिय मुख चन्द चकोरत निरखत बारम्बार ॥ ८ ॥

श्रीजी वचन साँवरी प्रति [दोहा]

मुदित होय बूझति प्रिया कहौ नवेली बाल।
बिन मिलाप आवन भयौ कैसे नैन विशाल ॥ ९ ॥

साँवरी वचन श्रीजी प्रति [दोहा]

तेरे गुण बहु दिनन तें सुनत रही छबि खान।
धन्य घरी यह आज की तुमसों भई पहिचान ॥१०॥

[वार्तिक]

याही भाँति परस्पर बोलती बतरावती रहीं। जब थोरी देर पीछें ललिता सखी श्रीजी को स्नान कराय के सिङ्गार करिवे लगी—तब याने कही—हे प्यारी आज मेरे कर कौं सिङ्गार हू देखो-सुनते ही सखी तौ न्यारी भई-अरु यह श्रीजी के ढिङ्ग बैठि गई ॥११॥

[दोहा]

अलकनि डार फुलेल कों बैनी गुहो बनाय।
चरणन में जावक रची शोभा कही न जाय ॥१२॥

अधरन पै बीरी रची नैनन काजर रेख।
माथे पै बैंदी लगी शोभा बनी विशेष ॥१३॥

भूषण बसन पहिरायके अद्भुत करचौ सिङ्गार।
जबीं साँवरी तन दशा बदली रूप निहार ॥ ॥१५॥

[दोहा]

छकी प्रेम में साँवरी गई जो मति बौराय।
राधा नाम रटत कबूँ कबहूं मौन ह्वै जाय ॥१५॥

श्रीजी वचन [दोहा]

जानि गई प्यारी तबी यह न साँवरी नारि।
ललित लड़ैती यह वुही छलिया नन्द कुमार ॥१६॥

सखी वचन [दोहा]

कौतुक लखि सगरी सखी लगीं बलैयाँ लैन।
देखि छद्म हँसि हँसि परत दृगन चलावत सैन ॥१७॥

रहौ अनंद दोऊ सदां बसौ हमारे नैन।
दै असीस घर कौं चलीं नवल अली छबि ऐन ॥१८॥

[वार्त्तिक]

जब लालजी कछु चेत भये—तब बोले ॥१९॥

श्रीलाल जी वचन श्रीजी प्रति [राग ठुमरी खम्माच जि०]

याही भाँति तोहि सदा निरख्यौ करूँ प्यारी री।
गूँधू बैनी बनाय निज कर ते करि करि सिङ्गार।
मुदित होऊँ जिये देखि सुन्दर छबि तिहारी री।
गावौ नये नये सुराग तार तन स्वर अभङ्ग।
जासों बढ़ै एक सङ्ग नेह रस भारी री।
ललित लड़ैती रहैं आनंद सों एसे मिलि।
सुपने हूं न बिछुरन होय तुमते सुकुमारी री ॥२०॥

[दोहा]

रसिकन प्रेम बढ़ावनी ये लीला शृङ्गार।
ललित लड़ैती सुनें ते भव जल उतरें पार ॥२१॥

॥ इति छद्म सिङ्गार-लीला ॥



* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः *

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽपि लभ्यते॥
तथा चैवोत्तमं लोके तपः श्रीहरि - कीर्त्तनम्।
कलौ युगे विशेषेण विष्णु - प्रीत्यै समाचरेत॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, जून १९८२ { अंक ६

प्रेम-पंथ बांकुरो

प्रीति की रीति कौ पैंड़ोहि न्यारो।
कै जानत वृषभानुनन्दनी, कै जानत यह कान्हर कारो॥
सहजैं प्रीति न होय सखी री, यह अपने मन सोच विचारो।
प्रेम पथ को तो चलन बाँकुरो, रसिक बिना को समझन वारो।
'सूरदास' यह प्रीति कठिन है, सीस दिये भी न होत निभारो॥

★

* काल-गुण को जानने वाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुग का सम्मान करते हैं, क्योंकि इस युग में श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन के द्वारा समस्त स्वार्थ—मनोभीष्ट सिद्ध होते हैं। इस संसार में श्रीहरिनाम-कीर्त्तन ही उत्तम तपस्या या ज्ञान है, अतः श्रीविष्णु भगवान् की कृपा-प्राप्ति के लिए कलियुग में विशेषरूप से श्री हरिनाम-कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है।

—श्रीहरिभक्ति-विलास ११/१९४-९५॥

॥ श्रीवृन्दावनेशौ जयतः ॥

श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचितम्

कार्पण्य-पञ्जिका-स्तोत्रम्

तिष्ठन् वृन्दाटवीकुञ्जे विज्ञप्तिं विदधात्यसौ ।
वृन्दाटवीशयोः पादपद्मेषु कृपणो जनः ॥ १ ॥

श्रीमद्रूप गोस्वामि श्री श्रीराधाकृष्ण के चरणकमलों में उनकी कृपा याचना करते हुए प्रार्थना करते हैं—मैं दीन-जन श्रीवृन्दावन-कुञ्ज में विराजमान श्रीवृन्दावन के अधीश्वरद्वय श्रीश्रीराधाकृष्ण के चरणकमलों में विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ ॥ १ ॥

[कैसा भी स्वामी क्यों न हो, वह दीन-व्यक्ति की प्रार्थना को सुनता है, अतः आप भी मेरी प्रार्थना को अवश्य सुनेंगे]—

नवेन्दीवरसंदोह सौन्दर्यास्कन्दनप्रभम् ।
चारुगोरोचनागर्वगौरवग्रासिगौरभाम् ॥ २ ॥

हे वृन्दावनाधीश्वर-द्वय ! आप कैसे हैं ? —हे श्यामसुन्दर ! आपकी नील-कान्ति नवीन नील-कमलों की सौन्दर्य-राशि को शोषण या निष्प्रभ करने वाली है । हे श्रीराधे ! आपकी गौर-कान्ति अति मनोरम गोरोचन के गर्व को खर्व या नष्ट करने वाली है ॥ २ ॥

शातकुम्भकदम्ब श्रीविडम्बिस्फुरदम्बरम् ।
हरता किंशुकस्यांशूनंशुकेन विराजिताम् ॥ ३ ॥

हे कृष्ण ! आपका पीताम्बर स्वर्णराशि को निष्प्रभ करते हुये प्रकाशित हो रहा है । हे राधे ! आपकी साड़ी पलाश-कुसुम की अरुणाई को तिरस्कृत कर रही है ॥ ३ ॥

सर्वकैशोरवद्वृन्दचूडारूढ़ - हरिन्मणिम् ।
गोष्ठाशेषकिशोरीणां धम्मिलोत्तंसमालिकम् ॥ ४ ॥

हे वृन्दावनाधीश्वर ! गोष्ठ (श्रीवृन्दावन) में रहने वाले समस्त कैशोर-वयस के पुरुषों में आप मरकत-शिरोमणिवत् सुशोभित हैं । हे वृन्दावनाधीश्वरि ! आप गोष्ठवर्ती समस्त किशोर-रमणियों में जूड़ा की रत्नमणि-माला की भाँति विराजमान हैं—सर्वकिशोरी-शिरोमणि हैं ॥ ४ ॥

श्रीशमुख्यात्मरूपाणां रूपातिशयिविग्रहम् ।
रमोज्ज्वलव्रजवधूव्रजविस्मापिसौष्ठवाम् ॥ ५ ॥

हे सर्वेश्वर ! चतुर्भुज श्रीनारायण-प्रधान अपने आविर्भावरूप समस्त भगवत्-स्वरूपों में आपका द्विभुज-श्रीविग्रह अतिशय सौन्दर्यमय है। हे सर्वलक्ष्मि (राधे) ! लक्ष्मीदेवी से अत्यधिक रूपवती व्रजगोपियों को भी आप अपने रूप-गुण-आचरण सौष्ठव से विस्मित कर देने वाली हैं ॥ ५ ॥

सौरभ्यहृतगान्धर्व गन्धोन्मादितमाधवाम् ।
राधारोधनवंशीकं महतीमोहिताच्युताम् ॥ ६ ॥

हे कृष्ण ! आप अपने श्रीअङ्ग-सौरभ से श्रीगान्धर्वा—श्रीराधा का मन हरण करने वाले हैं। हे राधे ! अपनी श्रीअङ्ग-सौगन्ध से माधव को आप उन्मत्त करने वाली हैं। हे वंशीधर ! आपकी वंशी श्रीराधा को विमुग्ध कर देने वाली है और हे श्रीराधे ! आप वीणा-वादन से अच्युत-श्रीकृष्ण को मोहित करने वाली हैं ॥ ६ ॥

राधाधृतिधनस्तेनलोचनाञ्चलचापलम् ।
दृगञ्चलकलाभृङ्गीदष्टकृष्णहृदम्बुजम् ॥ ७ ॥

हे कृष्ण ! आप चञ्चल नेत्रों के कटाक्षों से श्रीराधा जी के धैर्य-धन को चुराने वाले हैं। हे राधे ! आप दृगाञ्चल कटाक्ष रूप भ्रमरी के द्वारा श्रीकृष्ण-हृदयकमल को विद्ध (घायल) करने वाली हैं ॥ ७ ॥

राधागूढ़परीहासप्रौढिनिर्वचनीकृतम् ।
व्रजेन्द्रसुतनर्मोक्तिरोमाञ्चिततनूलताम् ॥ ८ ॥

हे कृष्ण ! आप श्रीराधा जी के परिहासमय चतुराई भरे वचनों में निरुत्तर हो जाते हैं एवं हे राधे ! आपकी शरीर-लता तो श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की नर्मोक्तियों में रोमाञ्चित हो उठती है ॥ ८ ॥

दिव्यसद्गुणमाणिक्यश्रेणिरोहणपर्वतम् ।
उमादिरमणीव्यूहस्पृहणीयगुणोत्कराम् ॥ ९ ॥

हे कृष्ण ! आप दिव्य (अप्राकृत) सद्गुण समूहरूपी माणिक्य राशि के रोहण-पर्वत हैं। (मेघों की गर्जना से ही इस पर्वत में रत्न वृद्धि को प्राप्त करते हैं) हे राधे ! आपके दिव्यगुण-समूह के पाने के लिए पार्वती आदि अनेक रमणियाँ लालायित रहती हैं ॥ ९ ॥

त्वां च वृन्दावनाधीश त्वां च वृन्दावनेश्वरि ।
काकुभिर्वन्दमानोऽयं मन्दः प्रार्थयते जनः ॥१०॥

[उपर्युक्त दश श्लोकों में कुलक था; अर्थात् पहले ९ श्लोकों में श्री श्री-राधाकृष्ण को अनेक विशेषणों द्वारा सम्बोधित कर श्रीगोस्वामी जी अपना वाक्य

इस श्लोक में समाप्त करते हुए कहते हैं—हे कृष्ण ! आप वृन्दावनाधीश हैं और हे राधे ! आप वृन्दावनाधीश्वरी हैं । मैं अति मन्द-बुद्धि हूँ, आपके चरणकमलों में वन्दना करते हुए व्याकुलता भरे कण्ठ से यह प्रार्थना करता हूँ—

क्रमशः

साधक ! सावधान !!

- इच्छा करने पर श्रीनाम जिह्वा पर आविर्भूत हो जाता है, किन्तु नामी—श्रीभगवान् इच्छा करने पर सामने नहीं आते ।
- श्रीनाम प्राकृत इन्द्रियों से निज करुणावश बोला, सुना, देखा जा सकता है, किन्तु नामी श्रीभगवान् प्राकृत इन्द्रियों के गोचर सहज में नहीं होते ।
- श्रीनाम में नामी से बढ़कर उपर्युक्त असाधारण करुणा है ।
- इच्छा न होने पर भी कभी-कभी करुणावश श्रीनाम जिह्वा पर नृत्य करने लगता है ।
- नामी श्रीभगवान् अपनी लीलाओं का संवरण कर अप्रकट हो जाते हैं, किन्तु उनका नाम अनन्त काल तक प्राकृत जगत् में प्रकट रहता है ।
- प्रकट काल में श्रीभगवान् गिनती के जीवों का उद्धार करते हैं, किन्तु उनका श्रीनाम उनके वर्त्तमान-काल में तथा अप्रकट-काल में भी असंख्य जीवों का अनन्त-काल तक उद्धार करता रहता है ।
- श्रीभगवान् के प्रति किए हुए अपराध को श्री श्रीनाम मार्जन कर देता है ।
- किन्तु श्रीनाम के प्रति किये हुए अपराध को एक मात्र श्रीनाम ही खण्डन करता है, श्रीभगवान् नहीं ।
- महत्-पुरुषों के प्रति किए अपराधों को भी खण्डन करने की शक्ति श्रीनाम में है ।
- श्रद्धा अथवा अश्रद्धा से भी श्री नाम ग्रहण करने पर वह अपना फल प्रदान करता है ।

श्रीभक्तिसन्दर्भः

इतिहास समुच्चय में कहा गया है कि हे राजन् ! जहां विषय-रागादि रहित श्रीकृष्ण-भक्तगण वास करते हैं, वहां श्रीकृष्ण उपस्थित रहते हैं— इसमें कोई संशय नहीं है ।।५२४।।

"सद्गतौ"—शब्द से यह भी व्यञ्जित होता है कि जहां सत्पुरुषों की गति है—आना-जाना या निवास है, वहां असद्पुरुषों की या असाधुओं की गति नहीं है। इसलिए सत्पुरुषों के सङ्ग द्वारा ही दूसरे लोगों को भगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है—यह बात युक्त ही है। पूर्वोक्त अभिप्राय ही यहां जानना चाहिये।

पिङ्गला नाम की वेश्या को सत्सङ्ग प्राप्त होते ही उसने श्रीभागवत (११-८-३४) में यह कहा था—"इस विदेह नगरी में मैं ही एक मात्र मन्द बुद्धि रमणी हूँ।" अर्थात् उसमें सन्मति का उदय हो आया था। श्रीधरी-टीका में कहा गया है—हाय ! सत्सङ्गति पाकर भी मेरे में ऐसा मोह वर्त्तमान है वह भी इस विदेह-पुरुषों—जीवन-मुक्तों की नगरी में । इस प्रकार उसे अपने आचरण पर पश्चात्ताप होने लगा था।

इस प्रकार जहां सत्सङ्ग हुआ नहीं दीखता, परन्तु भगवद् विषयिणी मति है, तो ऐसा अनुमान करना ही चाहिये कि वर्त्तमान जन्म में अथवा पूर्वजन्म में अथवा परम्परागत सम्बन्ध से सत्सङ्ग प्राप्त हुआ है। क्योंकि सत्सङ्ग के विना कभी भी भगवद्-बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

यहा एक प्रश्न उठता है कि इन्द्रादि देवताओं को श्रीनारद जी का अनेक बार दर्शन प्राप्त होता है, परन्तु श्रीनारद जी के दर्शन से जैसे नलकूबर-मणि-ग्रीव को भगवद् दर्शन एवं भगवत्-कृपा प्राप्त हुई, वैसी इन्द्रादि देवताओं को क्यों नहीं होती ?—इसका यहां विवेचन करते हैं—यदि किसी व्यक्ति में अपराध वर्तमान रहते हैं, तो उस दोष से वह सत्पुरुषों के प्रति निरादर की भावना रखता है अथवा उन सत्पुरुषों को साधारण पुण्यवान व्यक्तियों के समान देखता है। अतः सत्सङ्ग प्राप्त करने पर भी उसे भगवद् कृपा की प्राप्ति नहीं होती। अतः उस अपराध की निवृत्ति के लिए तथा सत्सङ्ग द्वारा भगवत् साम्मुख्य उप-लब्धि के लिए उसी सत्पुरुष की कृपारूप सहायता की अपेक्षा रहती है' अर्थात् उस सत्पुरुष के संग द्वारा, उसकी सेवा द्वारा उसकी कृपा प्राप्त करनी होती है, जिससे अपराध निवृत्त होकर भगवद्-बुद्धि प्राप्त होती है। किन्तु जहां कोई अपराध नहीं रहता, वहां सत्सङ्ग से ही उन पुरुषों में सत्पुरुष के प्रति परम उत्तम दृष्टि होती है और सत्पुरुष की ओर मनो-अवधान न रहने पर भी सत्सङ्ग भगवद्-साम्मुख्य का कारण हो जाता है। अतः अपराध युक्त व्यक्तियों को ही लक्ष्य करके (भा० ३।५।४४ में) देवताओं ने कहा है—

हे परेश ! इन्द्रियों के विषयों में लगे रहने के कारण जिन लोगों का मन सर्वदा आपसे बहिर्मुख होकर भटकता रहता है, उन नीच लोगों को आपके

विलासपूर्ण चरण विन्यास की शोभा के तत्वज्ञ भक्तजन देखते ही नहीं। उन पर कृपा दृष्टि नहीं करते। इसलिये वे आपके चरणों से दूर ही रहते हैं ॥५२५॥

भगवद्-पदविन्यास लक्ष्मी सम्बन्धीजन से वे भक्त अभिप्रेत हैं जिनके हृदय में आप के चरणकमल-युगल निरन्तर विलास के लिये अनिर्वचनीय शोभा धारण कर रहे हैं। ऐसे भक्त उन अपराधी बहिर्मुख लोगों की तरफ नहीं देखते, अर्थात् उन पर कृपा दृष्टि नहीं करते। किनको वे नहीं देखते?—उनको नहीं देखते, जो असद्वृत्ति हैं अर्थात् अपराधयुक्त चेष्टावाली इन्द्रियों ने जिनकी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति को विदूषित कर डाला है—ऐसे बहिर्मुख लोगों पर वे कृपा दृष्टि नहीं करते।

यहां एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि यहां 'असद्वृत्ति'-शब्द से साधारण असद्वृत्ति या बहिर्मुख इन्द्रियवृत्ति वाले मनुष्यगण नहीं समझने चाहिये, क्योंकि महद्पुरुषों की कृपा प्राप्ति से पहले तो सब ही बहिर्मुख रहते हैं। 'जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य' (श्लोक ५२३) में कह आये हैं कि कृष्णबहिर्मुख, अधर्मशीलादि लोगों पर अनुग्रह करने के लिये सत्पुरुष जगत् में विचरण करते हैं, यह बात असंगत हो जाती है। क्योंकि अब यहां (श्लोक ५२५) कह रहे हैं कि वे महत्पुरुष उन बहिर्मुख लोगों पर कृपा दृष्टि नहीं करते—इन विरोधी-वचनों का समाधान यह है कि अपराध-रहित बहिर्मुख जीवों पर ही उन सत्पुरुषों की कृपा होती है, परन्तु जो भगवद्-बहिर्मुख हैं और फिर अपराधी भी हैं, उन पर उनकी कृपा नहीं होती अर्थात् उनके अपराधों की निवृत्ति होकर भगवद्-सम्मुखता उनमें उदित होती है। कभी-कभी कृपा-प्राप्ति के लिये अपना मनोयोग न रहने पर भी यहाँ तक कि उस कृपा-प्राप्ति के लिये कोई प्रवृत्ति न होने पर भी साधुसङ्ग मात्र से निरपराधी बहिर्मुख जीवों में सद्मति उदित हो उठती है। जहां वे महत्-पुरुष अपराधयुक्त जीवों पर स्वच्छन्दतापूर्वक कृपा करते हैं, उनमें भी सत्मति उदित हो उठती है, किन्तु अन्य या हर अपराधी व्यक्ति के प्रति नहीं। जैसे श्रीनारद जी ने स्वच्छन्दतापूर्वक नलकूबर-मणिग्रीव पर तो कृपा कर दी, परन्तु उनकी वैसी कृपा अन्यान्य देवताओं पर उनके सङ्ग या दर्शन से नहीं होती। इसी प्रकार श्रीजड़भरतजी के सङ्गमात्र से राजा रहूगण में, चाहे वह अपराध युक्त था, सद्मति उदित हो आई। यहां श्रीजड़भरतजी की स्वच्छन्दता ही कारण है।

विष्णु धर्मोत्तर में उपरिचर वसु के वृत्तान्त में कहा गया है कि उन्होंने देवताओं की रक्षा के लिये दैत्यों को मार डाला। फिर उनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे भगवद् ध्यान स्मरण करने के लिये पाताल पुर में चले गये। उनको निवृत्ति परायण जानकर दैत्यगण उनको मारने के लिये तैयार हो उठे, किन्तु उनके हाथ अस्त्रों को पकड़े हुए भी स्तम्भित हो गए। तब वे दैत्यगण अपने उद्यम को व्यर्थ जानकर दैत्य गुरु शुक्राचार्य के पास गये और उनके उपदेशानुसार श्री उपरिचार वसु को पाषण्ड मार्ग का उपदेश करने लगे। परन्तु ऐसा करने पर

भी दैत्यगण उनकी कृपा से भगवद्भक्त हो गए। इसलिए विष्णुधर्म में कहा गया है—

अनेक जन्म रूप संसार से उत्पन्न पापों का जब तक नाश नहीं होता, तब तक जीवों में कृष्णाभिमुखी-मति उदित नहीं होती ॥५२६॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है, यदि महत्पुरुषों की स्वच्छन्द कृपा से ही संसारी लोगों की बहिर्मुखता नष्ट होकर भगवत्-सन्मुखता प्राप्त होती है, तो जब (भा० ७।९।४४) श्री प्रह्लाद जी ने यह कहा कि, हे देव प्राय: सब मुनि लोग अपनी मुक्ति के लिये मौन एवं परिनिष्ठा पूर्वक निर्जन वनों में विचरते हैं, परन्तु मैं इन संसारवद्ध दीनजनों को परित्याग कर अकेला मुक्त होने की इच्छा नहीं करता। संसार में भ्रमण करने वाले इन लोगों के लिए आपको छोड़ कर कोई आश्रय नहीं है [1] —तब श्री प्रह्लाद जी की इच्छा होते हुए एवं लोगों पर कृपा दृष्टि होते हुए भी उन सबका संसार बन्धन निवृत्त क्यों न हुआ ?

इसका उत्तर देते हैं— जीव अनन्त हैं, उस समय श्री प्रह्लादजी के मम में या स्मृति में वे समस्त जीव नहीं आए थे, परन्तु उस समय जो लोग उनकी दृष्टि में आये और श्रवण में आए, केवल उस समय उनकी स्मृति रहने से श्रीप्रह्लादजी के अनुग्रह से उनकी मुक्ति अवश्य ही हो गई—ऐसा जानना चाहिए। श्लोकस्थ "नैतान्"-शब्द से अर्थात् "इन को"—कहने से कुछ एक लोग ही सूचित होते हैं, न कि समस्त जीव ; और जो अन्यान्य लोग थे, उनके लिए श्री प्रह्लादजी के गुण-कीर्तन तथा स्मरण द्वारा ही कृतार्थ होने का वर अपने-आप श्री नृसिंहदेव ने कृपापूर्वक प्रदान कर ही दिया था।

श्री भागवत (७।१०।१४) में श्रीनृसिंह देव ने कहा—हे प्रह्लाद ! जो व्यक्ति तुम्हें और मुझे स्मरण करते हुए तुम्हारे द्वारा रचित मेरे स्तोत्र का कीर्तन करेंगे, वे व्यक्ति यथा समय कर्मबन्धन से मुक्त हो जावेंगे ॥५२७॥

जो लोग श्रीप्रह्लादजी का कीर्तन करेंगे, वे जब संसार-बन्धन से मुक्त हो जावेंगे, फिर जिनको कृपा पूर्वक श्रीप्रह्लादजी ने स्मरण किया, उनके विषय में कहना ही क्या है ?। अतएव "भावापवर्गौ" (श्लोक ५२१) में जो कुछ कहा गया है, वह युक्त ही कहा गया है।

गोपालतोषणी टीका—विशुद्ध एकान्तकी भक्ति ही एक मात्र जीव का परम कर्तव्य है। किन्तु वह है अति दुर्लभ, क्यों कि परम दुर्लभ श्रीभगवान् की वह साक्षात् प्राप्ति कराने वाली है। उसकी प्राप्ति के उपाय का इस अनुच्छेद में वर्णन किया गया है। जब तक जीव की अनादि वहिर्मुखता दूर नहीं होती, तब तक भगवत् सन्मुखता नहीं होती। सन्मुखता-बुद्धि उदित होने पर उस विशुद्ध भक्ति की ओर मनुष्य अग्रसर हो सकता है।

१—प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय बतलाया गया है महत्-पुरुषों का सङ्ग एवं उनकी कृपा। महत्-संग से अनादि बहिर्मुखता दूर होती है और जिस भगवद् विषयक ज्ञान का अनादिकाल से जीव में अभाव रहता है वह दूर हो जाता है। निरपराधी व्यक्ति पर सत्पुरुषों का संग प्राप्त होते ही उनकी कृपा हो जाती है, परन्तु अपराधी व्यक्तियों को महत्पुरुष के सङ्ग से भी सहज में भगवदुन्मुखता प्राप्त नहीं होती। वस्तुतः महत्पुरुष स्वच्छन्द हैं, यदि वे किसी पर कृपा करने की इच्छा करें तो अपराधी अथवा निरपराधी की कोई शर्त नहीं रहती। वह तत्काल श्री भगवान् के सन्मुख हो जाता है और उसका संसार-बन्धन निवृत हो जाता है।

१८०—ततः सत्सङ्गस्यैव तत्र निदानत्वं सिद्धम्, तच्च युक्तम्। अनादि-सिद्ध-तदज्ञानमय-तद्वैमुख्यवतामन्यथा हि तदसम्भवः। तदुक्तम् (महा० भा० वन-प० ३१२।११७)—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥५२८॥ इति।

तथैव श्रीप्रह्लादवाक्यम्—(भा० ७।५।३०, ३२) मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा, मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् इत्युपक्रम्य—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥५२९॥ इति

तथा तद्विमुखकर्मादिभिस्तत्सामुख्य–प्रतिपत्तेश्चात्यन्तायोगः (कठ०१।२।१४) "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र। भूताच्च भव्याच्च" इति श्रुत्यादेः, (बृ० ४।४।२२) "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुत्यादिकन्तु तत्साम्मुख्येनैव प्रयुक्तानि कर्माण्यभिदधाति। तर्हि तदेव साम्मुख्यं कथं स्यादिति पुनरपि हेतुरेव प्रष्टव्यः स्यात्। अथ भगवत्कृपैव तत्साम्मुख्ये प्राथमिकं कारणमिति च गौणम्। सा हि संसारदुरन्तानन्त-सन्तापसन्तप्तेष्वपि तद्विमुखेषु स्वन्तत्रा न प्रवर्त्तते, तदसम्भवात्। कृपारूपश्चेतोविकारो हि परदुःखस्य स्वचेतसि स्पर्शे सत्येव जायते। तस्य तु सदा परमानन्दैकरसत्वेनापहतकल्मषत्वेन च श्रुतौ जीवविलक्षणत्वसाधनात् तेजोमालिनस्तिमिरायोगवत्तच्चेतस्यपि तमोमयदुःखस्पर्शनासम्भवेन तत्र तस्या जन्मासम्भवः। अतएव सर्वदा विराजमानेऽपि कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थे तस्मिन्तद्विमुखानां न संसारसन्तापशान्तिः। अतः सत्कृपैवावशिष्यते। सन्तोऽपि तदानीं यद्यपि संसारदुःखैर्न स्पृशन्त एव, तथापि लब्धजागराः स्वप्नदुःखवत्ते कदाचित् स्मरेयुरपीत्यतस्तेषां सांसारिकेऽपि कृपा भवति, यथा श्रीनारदस्य नलकूवरमणि ग्रीवयोः। तस्मात् प्रस्तुतेऽपि सांसारिकदुःखस्य तद्हेतुत्वाभावात्, परमेश्वरकृपा तु, स एवात्र मम शरणमित्यादिदैन्यात्मक–भक्तिसम्बन्धेनैव जायते, यथा

गजेन्द्रादौ, व्यतिरेके नारक्यादौ । भक्तिर्हि भक्तकोटिप्रविष्टतदार्द्रीभावयितृ-तच्छक्तिविशेष इति विवृतं विवरिष्यते च । दैन्य-सम्बन्धेन च साधिकमुच्छलिता भवतीति तत्र तदाधिक्यम् । तस्माद्या कृपा तस्य सत्सु वर्त्तते, सा सत्सङ्गवाहनैव वा सत्कृपावाहनैव वा सती जीवान्तरे संक्रमते, न स्वतन्त्रेति स्थितम् । तथैव चाहुः (भा० १०।२।३१)—

स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥५३०॥

हे द्युमन् ! स्वप्रकाश ! भवत्पदाम्भोरुह-लक्षणा या नौर्भवार्णवतरणोपायस्तामत्र भवार्णवपारे निधाय उत्तरोत्तरजनेषु प्रकाश्येत्यर्थः । ननु कथं तां न स्वयं प्रकाशयामि, कथमिव तेषामपेक्षा ? तत्राह,—सद्भिरेव द्वारभूतैरन्याननुगृह्णाति यः स सदनुग्रहो भवानिति, यद्वा, सन्त एवानुग्रहो यस्य सः । तवानुग्रहो यः प्रापञ्चिके चरति, स तदाकारतयैव चरति, नान्यरूपतयेत्यर्थः । यथोक्तं रुद्रगीते (भा० ४।२४।५८)—

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयोरन्तर्बहिस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्वशीलिनां स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५३१॥ इति ॥

सत्सु अनुग्रहो यस्येति व्याख्यातेऽपि तद्विमुखेष्वसत्सु तवानुग्रहो नास्तीति प्राप्तेः, सद्द्वारैव तत्प्रकाशनमुचितमित्येवायाति, तदेवम्—

जायमानं हि पुरुषं पश्येद् यं मधुसूदनः ।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षार्थनिश्चितः ॥५३२॥

इति मोक्षधर्मवचनमपि सत्सङ्गानन्तरजन्मपरमेव बोद्धव्यम् ॥ देवाः श्रीभगवन्तम् ॥

इसलिए सत्सङ्ग ही भगवद् विषयक रति का मूल कारण सिद्ध होता है । यह युक्त भी है, क्योंकि जीव की अनादिकाल से जो अज्ञानमय भगवद् बहिर्मुखता है, वह और किसी तरह दूर होना असम्भव है । अतः महाभारत, वनपर्व (३१२।११७) में कहा गया है कि तर्क के द्वारा तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता, सब श्रुतियों का मत भिन्न भिन्न है । ऐसा कोई ऋषि नहीं है, जिसका मत भिन्न न हो, और धर्म-तत्व अति गूढ़ है, इसलिये पूर्वाचार्यगण ने जिस पथ का आचरण किया है, उसी पथका ही अनुसरण करना चाहिये ॥५२८॥

श्रीमद्भागवत (७।५।३०-३२) में श्रीप्रह्लादजी ने भी यही बात कही है—

श्रीकृष्ण में उन लोगों की अन्य किसी प्रकार मति नहीं हो सकती, (अपने से भी नहीं होती, दूसरे के द्वारा भी नहीं होती, परस्पर समालोचना से भी नहीं होती) जो स्त्री-पुत्र आदि के भरण-पोषण भोगों में फंसे हुए हैं, जिन्होंने मानो यही व्रत धारण कर रखा है ।[1]

१-मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत-गृह-व्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशितां तमस्त्रिं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर अज्ञानमय नरक की ओर चले जा रहे हैं, जिसका वे चिरकाल से भोग करते आ रहे हैं, उस चवाय का ही बार-बार चर्वण कर रहे हैं, ऐसे बहिर्मुख जीव जब तक निष्किञ्चन महापुरुषों की चरण रज का अभिषेक प्राप्त नहीं कर पाते, तब तक उनकी रति श्रीकृष्ण चरण-कमलों में नहीं हो सकती ।।५२९।।

अतः कृष्ण-विमुख कर्मों द्वारा भी भगवत्-साम्मुख्य की प्राप्ति होना असम्भव है। कठोपनिषत् (१।२।१४) में कहा गया है—वह "(श्रीभगवत) धर्म से दूर हैं, अधर्म से दूर हैं, कर्म-अकर्म से दूर और भूत-भविष्यत से भी दूर अवस्थान करते हैं।" वृहदारण्यकोपनिषत् (४।४।२२) में कहा गया है—"ब्राह्मणगण उस आतमा को वेदवाक्य, यज्ञ, दान, एवं दुष्कर तपस्या के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं"—ये सब श्रुतियां भगवत्-साम्मुख्य रूप में अनुष्ठित धर्मों को ही वताती हैं। अतएव वह भगवत्-साम्मुख्य कैसे प्राप्त हो—उसकी प्राप्ति के कारण का फिर प्रश्न उठता है। उसके उत्तर में कहा जा सकता है—भगवत् कृपा ही भगवत्-साम्मुख्य का प्राथमिक कारण है, किन्तु वह भी गौण है। क्योंकि वह भगवत्-कृपा संसार के अनन्त दुरन्त सन्तापों में संतप्त बहिर्मुख लोगों के प्रति स्वतन्त्रता से कार्य नहीं करती। उसके लिये ऐसा करना असम्भव भी है। क्योंकि दूसरे का दुख जिस समय किसी के चित्त में स्पर्श करता है तभी कृपारूप विकार उत्पन्न होता है किन्तु श्रीभगवान् एक मात्र परमानन्द रसमय तथा निष्पाप हैं—श्रुतियों में श्रीभगवान् की जीव से यही विलक्षणता या विशेषता निरूपण की गई है। अतएव तेजोराशिमय सूर्य के साथ जैसे अन्धकार का स्पर्श या संयोग असम्भव है, उसी प्रकार श्रीभगवान् के चित्त में तमोगुणमय दुख का स्पर्श या संयोग होना असम्भव है, इसलिये उनके चित्त में कृपा का उद्भव होना ही सम्भव नहीं। अतएव सर्वदा समस्त कार्यों को करने में समर्थ, उनको बिपरीत रूप में भी करने में समर्थ होते हुए भी श्रीभगवान् द्वारा उन विमुख जीवों के संसार-सन्ताप की शान्ति नहीं होती। अतः अवशेष में सत्पुरुषों की कृपा ही भगवत्—साम्मुख्य का मूल या मुख्य कारण प्रतिपादित होती है।

यद्यपि सन्त पुरुष भी तत्काल संसार के दुःखों के स्पर्श में नहीं आते, तथापि जागृत अवस्था में आया हुआ पुरुष जैसे स्वप्न में देखे हुए दुख को स्मरण करता है, इसी प्रकार सन्तगण भी अपने पूर्वकालीन संसार दुख को याद कर साँसारिक व्यक्तियों पर कृपा करते हैं। जैसे श्रीनारद की कृपा नलकूबर-मणिग्रीव पर हो गई थी। अतएव प्रस्तावित प्रसंगमें सांसारिक-दुख भगवत्-कृपा प्राप्ति का कारण नहीं है, परन्तु जहां—"श्रीभगवान् ही इस संसार में मेरे एक मात्र आश्रय हैं"—इस प्रकार की दीनतामय भक्ति का सम्बन्ध किसी व्यक्ति में हो जाता है, तो वहां भगवत्-कृपा भी हो जाती है। जैसे गजेन्द्रादि पर उनकी कृपा हो गई और नारकी लोगों का उद्धार भी केवल भगवत्-कृपा द्वारा ही हुआ

था। श्रीभगवान् की शक्तिविशेष जो भक्त-कोटि पुरुषों में प्रविष्ट होकर उनमें दयालुता भाव सम्पादन करती है, उसे ही 'भक्ति' कहा गया है--पहले ही इसकी आलोचना हो चुकी है और भविष्य में भी की जावेगी। वह शक्ति दीनता का सम्बन्ध पाकर अधिक उच्छलित होती है और तदनुरूप कृपा भी अधिक प्रकाशित होती है। इसलिए भगवान् की जो कृपा सत्-पुरुषों में विद्यमान है, वह सत्सङ्ग रूपी वाहन के द्वारा ही अथवा सत्कृपा रूप वाहन के द्वारा जीवों में सञ्चिरत होती है, किन्तु स्वतन्त्र भाव से नहीं—यही चरम सिद्धान्त है।

इसलिये श्रीभागवत (१०।२।३१) में ब्रह्माजी ने कहा है—हे परम प्रकाश-स्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत् के सच्चे सुहृद हैं। वे स्वयं इस दुस्तर भयङ्कर संसार समुद्र से पार उतर जाते हैं, किन्तु फिर लोगों के लिए भी वे यहां आपके चरण-कमल रूपी नौका को स्थाप्ति कर जाते हैं। उन पर आपकी महान् कृपा है—आप उनके लिए अनुग्रह स्वरूप हैं ॥५३०॥

'हे द्युमन' —अर्थात् हे स्वप्रकाश! आपकी चरणकमल रूपी जो नौका है, वह संसार समुद्र से पार होने का उपाय है। सन्तजन उसे अन्यान्य व्यक्तियों के लिये भवपार जाने के लिए प्रकाशित कर जाते हैं। यहाँ श्रीभगवान् का प्रश्न हो सकता है कि मैं स्वयं ही उसको क्यों नहीं प्रकाशित करता? इस विषय में सत्पुरुषों की अपेक्षा क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि "सदनुग्रहो"—अर्थात् आप सदनुग्रह स्वरूप हो—सन्तगण के द्वारा अन्यान्य पुरुषों के प्रति अनुग्रह करने वाले हो, अथवा, सन्तगण ही आपके अनुग्रह की मूर्ति हैं। अर्थात् आपका अनुग्रह ही सन्त-आकार में प्रापंचिक जगत् में विचरण करता है, और किसी रूप में नहीं। जैसा कि श्रीभागवत (४।२४।५८) के रुद्र गीत में कहा गया है—

हे प्रभो! आपके चरण समस्त पापों के हरने वाले हैं, हम तो केवल यह चाहते हैं, जिन लोगों ने आपके यश का गान किया है और आपके चरणोदक गङ्गा में स्नान कर आन्तरिक और बाह्य— मानसिक और शारीरिक पापों को धो डाला है, जो जीवों के प्रति दया करने वाले हैं, जिन का चित्त राग-द्वेष से रहित एवं सरल है, उन आपके भक्तजनों का सङ्ग हमको सदा प्राप्त होता रहे, यही आपकी हम पर महान् कृपा होगी ॥५३१॥

'सदनुग्रह'—शब्द की इस व्याख्या में कि श्रीभगवान् का सत् पुरुषों के प्रति ही अनुग्रह होता है—इससे यह तात्पर्य निकलता है कि भगवद् विमुखों पर श्रीभगवान् का अनुग्रह नहीं होता। उन विमुखजनों पर भगवत् अनुग्रह का प्रकाशन सत्पुरुषों के द्वारा ही हुआ करता है—यह सिद्धान्त स्थिर होता है।

मोक्षधर्म में कहा गया है कि—जन्म ग्रहण करने वाले जिस पुरुष को श्रीमधुसूदन देखते हैं, उसे सात्विक जानना चाहिये। उसका निश्चय ही संसार वन्धन कट जाता है ॥५३२॥

इन वचनों में भी सत्सङ्ग प्राप्त होने के बाद होने वाले जन्म का तात्पर्य है अर्थात् पहले सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसके बाद जब जन्म होता है। तब उस पुरुष को श्रीमधुसूदन देखते हैं। तब वह संसार से मुक्त हो जाता है। —ऐसा देवताओं ने श्री भगवान् के प्रति कहा है।

१८१—ततः सत्सङ्गहेतुश्च सतां स्वैरचारितैव' नान्यः, यथाह (भा० ११।२।२४)-
"त एकदा निमेः सत्रमुपाजग्मुर्यदृच्छया" ।।इति।।

ते नवयोगेश्वरा यदृच्छया स्वैरतया, न तु हेत्वन्तरप्रयुक्ततयेत्यर्थः, "यदृच्छा स्वैरिता" इत्यमरः। सत्सु परमेश्वर-प्रयोक्तृत्वञ्च सदिच्छानुसारेणैव। तदुक्तं (भा० १०।१४।२)—स्वेच्छामयस्येति" "(भा० ६।४।६३)—"अहं भक्तपराधीनः" इति च ।।श्रीनारदः।।

सत् सङ्ग का कारण अर्थात् सन्तों के दर्शन प्राप्त होने का कारण भी सन्तपुरुषों की केवल स्वेच्छाचारिता—स्वच्छन्दरूप से विचरण करना ही है, और कोई कारण नहीं ! जैसे कि श्रीभागवत (११।२।२४) में कहा गया है कि एक बार स्वेच्छा से भ्रमण करते-करते नव योगेश्वरगण राजा निमिराज के यज्ञस्थल पर आ पहुंचे।"

वे नव योगेश्वर यदृच्छया अर्थात् स्वेच्छा से ही वहां जा पहुँचे, परन्तु अन्य कोई कारण नहीं था। अमर कोष में "यदृच्छा" का अर्थ "स्वैरता" अर्थात् स्वेच्छा ही किया गया है। सत्पुरुषों को परमेश्वर जो प्रेरणा देते हैं, उसे भी सद्पुरुषों की इच्छानुसार जानना चाहिए। क्योंकि भगवान् के प्रेरणा देने का कोई प्रयोजन नहीं रहता, वे सदा भक्तों की इच्छा के पराधीन हैं। इसलिए श्रीभागवत् (१०।१४।२) में सत्पुरुषों के विषय में तो यह कहा गया है कि "वे स्वेच्छामय हैं" अर्थात् जैसे-जैसे आपके भक्त इच्छा करते हैं, वैसा-वैसा रूप आप प्रकाशित करते है।[1] और श्रीभागवत (६।४।६३) में स्वयं भगवान् ने कहा है कि "मैं भक्तों के पराधीन हूँ[2]—ऐसा श्रीनारदजी ने कहा है।

१८२—तथाच (भा० ६।१४।१४)—

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद् यदृच्छया ।।५३३।।

तस्य चित्रकेतोः, अत्रापि तदैव तस्य साम्मुख्यं जातम्, कालान्तरे तु प्रादुर्भूतमिति मन्तव्यम्। अतएव तद्विलापसमये श्रीमताङ्गिरसैव (भा०६।१५।१६) "ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति" इत्युक्तम् ।।श्रीशुकः।।

१—अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महित्ववसितुं मन्सान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्म सुखानुभूते ।।

२—अहं भक्तापराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।

धर्म एवं परम-धर्म

□ श्रीपरमानन्द जी शास्त्री

श्रीमद्भगवद्गीता के कथनानुसार प्रकृति एवं पुरुष अनादि हैं। श्री शङ्कराचार्यपाद ने कहा है—"प्रकृति पुरुषञ्चैव विद्धचनादि उभावपि"। इसी प्रकार जीव भी अनादि तत्त्व है, जो प्रकृति के चक्र में पड़कर अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा हुआ है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा गया है--यदि जीव का अस्तित्व न रहे तो फिर ईश्वर किसका ?—"जीवाभावे ईश्वराभाव प्रसङ्गः" । प्रजा न होगी तो राजा किसका ? इसलिए जीव और ईश्वर दोनों अनादि हैं, और सदा साथ-साथ रहते हैं। इसलिए इनको सखा भी कहते हैं। सखा अर्थात् 'सहैव ख्यायते' । ईश्वर के साथ जीव और जीव के साथ ईश्वर दोनों की ख्याति एक साथ होती है। जहाँ जीव है, वहाँ ईश्वर है। जहाँ ईश्वर है, वहाँ जीव भी है। एक चेतन के दो रूप हैं—"सत्वमेकं द्विधास्थितम्"। ईश्वर विभु-चेतन है, जीव अणु-चेतन है।

महाभारत में कहा गया है कि एक ही सत्ता नर-नारायण दोनों के रूप में प्रकट है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि—"द्वौ सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते" ।। ३-१-१ ।। दोनों एक ही जाति हैं। दोनों पक्षी हैं। दोनों मिले रहते हैं। यह है जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अर्थात् ईश्वर नियामक या स्वामी है और जीव नियम्य या सेवक है।

जो लोग वर्त्तमान शरीर के जन्म और मृत्यु के अन्तराल को ही जीवन समझते हैं, प्रारम्भ में उनको संसार की भयङ्करता का भान नहीं होता। किन्तु इसका भान उन लोगों को होता है, जो आत्मा, अनादि, अनन्त के अस्तित्व को अपना जीवन समझकर उस दृष्टि से जन्म, जरा, मृत्यु के अनवरत प्रवाह की ओर ध्यान देते हैं। वे सोचते हैं कि इतने अपरिमित जन्मों के पश्चात् भी हमने संसार से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं किया ?

वस्तुतः मोह-वासना और साँसारिक भोगों का आकर्षण ही विचार और साधना के अवरोधक हैं। उनके कारण ही प्राणी मोक्षरूपी अमृत या ईश्वर-प्राप्ति की ओर से विमुख होकर भोगरूपी सुरा की आकांक्षा करता है—प्रकृति नाटि के चाक-चिक्य और हाव-भाव से आतम-विस्मृत जीव यह नहीं समझ पाता कि जिसको वह सुख समझ रहा है, वह सुख नहीं, किन्तु दुःख है। महर्षि पतंजलि ने कहा है—

परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिः।
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

—परिणाम ताप-संस्कार के दुःखों तथा गुण-वृत्ति के विरोध के कारण विवेकी की दृष्टि में सब कुछ दुःख ही है; अर्थात् सांसारिक भोगों का परिणाम ताप एवं दुःख ही है और त्रिगुणात्मिका मायिक वृत्तियां ही जन्म-मरण का कारण हैं। विवेकी पुरुष इस तत्त्व को जानकर उनका विरोधी होता है, अतः वह सांसारिक-सुखों को दुःख समझता है।

यह जगत परिवर्त्तनशील है। आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तित होते रहते हैं। परिवर्त्तन की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि वह सहज पकड़ में नहीं आती। आम की बौर में दिखलायी पड़ने वाला सरसों के समान फल कब कैसे इतना बड़ा आम हो गया, हमारी स्थूल दृष्टि उसे नहीं पकड़ पाती। इस दृष्टि से देखा जाए तो भोग्य पदार्थों में भोगायतन शरीर और इन्द्रियों की शक्ति द्वारा परिणाम के रूप में जो सुख प्राप्त होता है, अपने-आप में क्षणिक है, नाशवान् है।

मानव-धर्म की तीन बातों में किसी को शङ्का नहीं है। वे तीन बातें इस प्रकार हैं। पहली—"मैं हूँ"। दूसरी "मैं जानता हूँ" और तीसरी "मैं अपने से प्रेम करता हूँ"। इसको शास्त्र की भाषा में सत्, चित, आनन्द बोलते हैं। "मैं नहीं हूँ"। यह अनुभव मनुष्य को कभी नहीं होता। "मैं अज्ञानी हूँ"। अथवा "मैं ज्ञानी हूँ"। यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है। इस जानने का अभाव कभी नहीं होता। इसी तरह "मैं प्रिय हूँ" अथवा 'मैं अप्रिय हूँ', यह भी सब अनुभव करते हैं। सब की प्रियता अपनी प्रियता से सिद्ध होती है।

इस प्रकार जब प्रत्येक मनुष्य तीन बातों को मानता है, तब उसे इन तीनों बातों का दूसरे के पक्ष में भी विचार करना चाहिए। जिसे 'मानव-धर्म' भी कहा जा सकता है। अतः जब मैं मरना नहीं चाहता हूँ, तो दूसरे को भी कभी मारना नहीं चाहिए। मैं सुख चाहता हूँ, तो दूसरे को भी सुख देना चाहिए। यही एक सच्चा 'मानव-धर्म है। इसके विपरीत यदि हम दूसरे की हिंसा करते हैं, किसी को दुःख देते हैं, किसी का अप्रिय करते हैं, तो वह धर्म नहीं; बल्कि 'अधर्म' है।

यह हमारा धर्म है। इस धर्म के विस्तार के लिए सत्सङ्ग चाहिए। श्रीमद्भगवद्-गीता "धर्म" शब्द से शुरु होती है एवं धर्म शब्द से ही सम्पुटित है, धर्म के पेट में ही श्रीगीता का निवास है। शङ्का उठाई जा सकती है कि श्रीगीता में तो श्रीभगवान् ने समस्त धर्मों को त्यागने की बात कही है, यथा—

सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

किन्तु कैसे धर्मों के त्याग की बात यहाँ कही गई है ? यहाँ अनात्म-धर्मों के त्यागने की बात कही गई है। शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति इन से सम्बन्ध रखने वाले एवं इनका सुख उत्पन्न करने वाले अथवा इनका दुःख निवृत्त करने वाले सब अनात्म-धर्म हैं। परम-धर्म अथवा आत्म-धर्म है केवल मात्र श्रीकृष्ण-शरणागति। अतः उन सब धर्मों को त्यागकर श्रीभगवान् ने अपनी शरण में आने का उपदेश दिया है। भगवत् शरणागत होने पर फिर पाप कहाँ ? एक बार नहीं, श्रीभगवान् ने अनेक स्थानों पर कहा है कि मेरी शरण में आने से, मुझे अपना मन-आत्मा समर्पण करने से, मेरा भजन करने से जीव निश्चित रूप से मुझे प्राप्त करता है। वस्तुतः जीव का यही एक परम-धर्म है या स्वरूपानुबन्धी धर्म है कि वह श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करे तथा अनासक्त होकर प्रकृताचार, वर्णाश्रम-धर्मों का आचरण करता रहे। श्रीभगवान् का भी स्वरूप-धर्म है कि वे शरणागत कभी का त्याग नहीं करते।

बाल्मीकी रामायण में अति सुन्दर प्रसङ्ग है—जब विभीषण भगवान् श्रीराम जी की शरण आया, तो सुग्रीव ने कहा—"**दुष्टत्वाद् विभीषणो न ग्राह्यः**"—प्रभो ! आप विभीषण को ग्रहण मत कीजिए, क्योंकि यह दुष्ट है। इस पर श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि तुम्हारा हेतु और साध्य दोनों गलत हैं। दुष्ट को यदि हम ग्रहण नहीं करेंगे तो कौन ग्रहण करेगा ? दुष्टता हमारे त्याग में हेतु नहीं बन सकती। यदि तुम इस को दुष्ट होने के कारण त्याज्य बताते हो, तो दुष्टत्व हेतु जैसे अशुद्ध है, उसका साध्य अर्थात् हमारा उसे त्याग करना भी अशुद्ध हो जायगा।

श्रीहनुमान जी ने अनुरोध किया कि—"**विभीषणो ग्राह्य अदुष्टत्वात्**" प्रभो ! आप विभीषण को ग्रहण कीजिए। यह दुष्ट नहीं है। तब प्रभु ने कहा तुम्हारा हेतु एवं साध्य ठीक है। यह ग्रहण करने योग्य है।

इसलिए श्रीभगवान् ने श्रीअर्जुन को उपलक्ष बनाकर जीव के प्रति बार बार कहा—"**गतिभर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत**"। (९-१८)—मैं ही जीव की एकमात्र गति हूँ, मैं ही भरण-पोषण करने वाला हूँ। सब का स्वामी, साक्षी तथा निवास-स्थान—आश्रय हूँ। मैं ही शरण लेने योग्य हूँ तथा कुछ भी प्रति उपकार न चाहकर जीवों का हित करने वाला हूँ इत्यादि। बहुत कुछ कहने के बाद श्रीभगवान् ने फिर कहा—"**तमेव शरणं गच्छ** (१८-६२)। हे अर्जुन ! तुम (मुझ) परमात्मा की अनन्य शरण को ग्रहण करो अर्थात् और किसी देवी-देवता का आश्रय ग्रहण मत करो। मेरी कृपा से ही परम शान्ति तथा मेरे सनातन धाम को तुम प्राप्त करोगे।

इस पर भी श्रीभगवान् को सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि अर्जुन कुछ भी तो न बोला। उन्होंने फिर कहा—हे अर्जुन ! समस्त गोपनीयों से भी गोपनीय परम रहस्यमय मेरे वचनों को तू सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, मैं सत्य प्रतिज्ञा करते हुए कहता हूँ, "**मामेकं शरणं व्रज**" (१८-६६)।

सारांश यह है कि श्रीभगवान् त ा जीव अनादि हैं। इन दोनों का नित्य पृथक् अस्तित्व है तथा इन का अनादि नित्य सम्बन्ध है—श्रीभगवान् स्वामी हैं एवं जीव उनका नित्य दास है। दास का स्वरूप-धर्म है स्वामी की सर्वतोभाव से सेवा – निःस्वार्थ सेवा। उस सेवा में ही समस्त देवी-देवताओं तथा प्राणियों का तुष्टि हो जाती है। उस सेवा-प्राप्ति का एक मात्र साधन है सत्सङ्ग ; अर्थात् श्री भगवद्भक्तों का सङ्ग। उनका कृपा से माया-मुग्ध जीव को श्रीभगवान् की शरणागति प्राप्त हो सकती है, जो जीव का परम-धर्म है।

□

भजन में प्रधान विघ्न

—स्वामी श्रीअवधबिहारीदास जी महाराज

भजन में विघ्न दो प्रकार से होता है। (१) माया (२) साधन-राहित्य। माया के दो भेद हैं, एक अविद्या माया, दूसरी विद्या माया। अविद्या का स्वरूप यह है कि "**मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि वश कीन्हे जीव निकाया।**" विद्या का स्वरूप है कि "**एक रचै जग गुण वश जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके**" अर्थात् विद्या-माया इन्द्रियों और गुणों के द्वारा संसार की रचना करती है।

उपरोक्त दोनों मायाओं को त्यागना उचित है, यथा "**तजि माया सेइय परलोका। मिटे सकल भव सम्भव शोका॥**" किन्तु माया के तजने में दो भेद हैं—वानप्रस्थ व संन्यसी को विद्या और अविद्या दोनों मायाओं को त्यागना उचित है और गृहस्थाश्रमियों को केवल अविद्यामाया का सर्वथा त्यागना, तथा विद्या-माया में आसक्ति न रखना उचित है; विद्यामाया के भी दो भाग होने से पाँच-इन्द्रिय-विषयों का तो सर्वथा त्याग उचित है। केवल पञ्चकर्मइन्द्रियों से आसक्ति रहित कर्म करते रहना धर्म है;

साधन यह हैं कि एकान्त में रहना, प्राकृत जनों के सङ्ग से रहित रहना, और थोड़ा भोजन करना। "**विविक्त सेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।**" तथा कम भाषण करना। "**मौनमात्मविनिग्रहः**" (**गीता**) क्योंकि जितनी ही वाणी रुकेगी, उतना ही सुख होगा। वैराग्यप्रदीप में काष्ठजिह्वा स्वामी का पद है कि "**ज्यों-ज्यों वाणी रुकत जायगी त्यों-त्यों बढ़ मनकर दरजा**" और मान-बड़ाई को त्याग करना, क्योंकि "**मान-बड़ाई जा दिन भाई तादिन किस्मत फूटी**" (**वैराग्य-प्रदीपे**)।

धन-सम्पत्ति इत्यादि किसी पदार्थ का परिग्रह न करना इत्यादि भजन के साधन हैं। इन समस्त उपरोक्त साधनों से रहित होने में भी विघ्न होता है।

श्रीगदाधर पण्डित

श्रीवल्लभाचार्य जी जान गए कि श्रीमन्महाप्रभु ने मेरे गर्व का खण्डन करने के लिए ऐसा किया है। उन्होंने प्रभु से क्षमा याचना करते हुए उन्हें निज परिकर-वैष्णवों सहित अपने घर भिक्षा के लिए आमन्त्रित किया। श्रीप्रभु जान गए कि अब उनका मन निर्मल हो गया है। उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और उनके निवास-स्थान पर पधारे। श्रीमन्महाप्रभु ने वहाँ श्रीगदाधर जी को भी बुलवा भेजा। किन्तु ये मन में अति भयभीत थे, सङ्कोच था इनके मन में। बुलाने पर श्रीपण्डित जी आए और दरवाजे पर गिरकर रोने लगे। प्रभु ने श्री गदाधर जी को उठाकर गले लगाया और आश्वस्त किया।

श्रीमन्महाप्रभु यह भी जान चुके थे कि "श्रीवल्लभाचार्य जी का मन श्रीगदाधर पण्डित जी का सङ्ग पाकर बाल-गोपाल उपासना से हटकर किशोर-गोपाल की उपासना के लिए लालायित है, वे किशोर-गोपाल मन्त्र की दीक्षा के लिए अनेक बार श्रीगदाधर जी से निवेदन भी कर चुके हैं, किन्तु पण्डित जी मेरे सङ्कोचवश ऐसा करने के लिए बिल्कुल राजी नहीं है"। आज जब निमन्त्रण के समय सब वहाँ एकत्रित हुए तो श्रीमन्महाप्रभु ने इन्हें श्रीवल्लभाचार्य के मनोभीष्ट को पूर्ण करने की आज्ञा दी और इन्होंने उन्हें गोपाल-मन्त्र की दीक्षा प्रदान की।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण जब राधा-भाव-द्युति सुवलित होकर नवद्वीप में श्रीकृष्णचैतन्य-रूप में अपनी तीन वाञ्छाओं की पूर्त्ति कर रहे थे, तो उनके उस उद्देश्य की पूर्त्ति को सहायता के लिए श्रीराधाजी ने भी एक स्वतन्त्र स्वरूप श्रीगौरसुन्दर के पास रहने के लिए प्रकट किया—वह स्वरूप है श्रीगदाधर पण्डित! इनका स्वरूप एवं भाव इतना गम्भीर था, फिर भी श्रीमन्महाप्रभु सर्वत्र **"गदाधर-प्राणनाथ"** नाम से प्रसिद्ध थे।

'प्रेमामृतःस्तोत्र'—आपकी प्रसिद्ध रचना है। श्रीसनातन, श्रीरूप, श्री स्वरूप, श्रीलोकनाथ, श्रीभूगर्भ, श्रीपरमानन्द, तथा श्रीशिवानन्द चक्रवती—इन सब ने विभिन्न **'श्रीगदाधर-अष्टक'** लिखें हैं। इसी प्रकार श्रीअच्युतानन्द, श्री नयनान्द मिश्र, श्रीसार्वभौमादि महानुभावों ने **श्री श्रीगौराङ्ग गदाधर-अष्टक** की रचना की है। इनका ध्यान, मन्त्र एवं गायत्री गोस्वामी श्रीध्यानचन्द्र रचित उपासना-पद्धति में वर्णित है।

❋

श्री श्रीवास पण्डित

★

आश्रयामि श्रीश्रीवासं तमाद्यं पण्डितं मुदा।
शुक्लाम्बरधरं गौरं गौरभक्ति-प्रदायकम् ।।

शुक्ल-वस्त्र धारण करने वाला, गौरवर्ण, श्रीगौराङ्ग-भक्ति प्रदान करने वाले प्रधान पण्डित श्री श्रीवास की मैं हर्ष-पूर्वक शरण ग्रहण करता हूँ।

श्री श्रीवास पण्डित श्रीचैतन्य शाखा में हैं। 'श्रीनिवास' नाम से भी कहीं इनका उल्लेख आता है। पूर्वावतार में ये श्रीनारद है—(गौरगुणोद्देश-दीपिका—९०)—

"श्रीवासपण्डितो धीमान् यः पुरा नारदो मुनिः"।

श्रीवास जी श्रीहट्ट-निवासी वैदिक पण्डित श्रीजलधर के पुत्र थे। श्री जलधर श्रीहट्ट से नवद्वीप आकर निवास करने लगे थे। श्रीवास जी का आविर्भाव श्रीहट्ट में हुआ था। श्रीनलिन, श्रीराम, श्रीपति तथा श्रीनिधि (श्रीकान्त)—इनके भाई और भी थे।

श्रीवास पण्डित तो पूर्वावतार में भक्ति के आचार्य श्रीनारद हैं ही, इन में स्वाभाविक कृष्ण-भक्ति विद्यमान थी। नवद्वीप में श्रीमन्महाप्रभु का आविर्भाव हो चुका था। बाल्यकाल में प्रभु, विशेषतः जब वे पढ़ने लगे थे, अति चञ्चल थे। हर एक से अटकते, छेड़-छाड़ करते। विद्याध्ययन में अवश्य उनकी प्रखर-बुद्धि थी।

एक दिन श्रीनिमाई प्रभु मुख्य सड़क पर जा रहे थे, पाँच-सात छात्र भी साथ थे। प्रभु ने एक मात्र परिधान वस्त्र धारणकर रखा था, कन्धे पर एक अँगोछा था, मानो पीताम्बर हो। पान चबा रहे थे, कोटि-कोटि चन्द्र के समान आपका श्रीमुख। विशाल गौर कान्तियुक्त अङ्ग। देखते ही ऐसा लगता था—मूर्त्तिवान् कामदेव आ रहा हो। मस्तक पर केशर का तिलक, बगल में एक पुस्तक दवा रखी थी उन्होंने। चारों तरफ दृष्टिपात करते, भुजाओं को हिलाते हुए चल रहे थे। साथ में छात्र भी स्वाभाविक चञ्चल। आपने देखा सामने श्रीवास-पण्डित आ रहे हैं। श्रीवासजी ने उन्हें देखा, और हँस दिए। श्रीनिमाई ने इन्हें नमस्कार किया। 'चिरञ्जीव रहो'—श्रीवासजी ने आशीर्वाद दिया।

श्रीवासजी ने हँसकर कहा—कहो, उद्धत्त-शिरोमणि ! आज कहाँ पधार रहे हैं ? कृष्ण-भजन के विना कहाँ समय विगाड़ रहे हो ? रात-दिन जाने क्या पढ़ते-पढ़ाते फिरते हो ?

श्रीनिमाई चाँद भी इनकी बात सुनकर हँस दिये। फिर पण्डित जी ने कहा—देख विश्वम्भर ! मनुष्य किस लिये पढ़ता है ?—एक मात्र श्रीकृष्ण-भक्ति जानने के लिए तो। यदि कृष्ण-भक्ति प्राप्त न हुई तो विद्या का क्या फल ?—इस लिये इस मूल्यवान् समय को बेकार मत गँवाओ। पढ़ लिए तुम बहुत अब चञ्चलता छोड़ कृष्ण-भजन में शीघ्र लग जाओ।"

श्रीमहाप्रभु हँसकर बोले—"हे पण्डितजी ! आपकी जब कृपा होगी, तब कृष्ण-भजन निश्चित होगा।" इतना कहकर प्रभु आगे चल दिये।

श्रीवास-पण्डित के आँगन में एक कनेर का पेड़ था, जिस में बारहों महीने सुन्दर फूल लगते थे। जितने भी फूल तोड़ लो, उतने अधिक फूल प्रति दिन उस में खिल आते। श्रीमन्महाप्रभु जब गया से लौटे तो उनकी चञ्चलता समाप्त हो चुकी थी एवं एक परम कृष्ण-भक्त के रूप में नवद्वीप में लौटे। कृष्ण—कृष्ण कहते ही व्याकुल हो उठते। सब वैष्णवों को महान् आनन्द हुआ। प्रभु से गया-तीर्थयात्रा का वृत्तान्त सुनने के लिए सब को श्रीशुक्लाम्बर के घर एकत्रित होना था। सब वैष्णव श्रीगौरहरि-पूजा के लिए प्रातःकाल श्रीवासजी के घर फूल लेने आए, श्रीवासजी ने कारण पूछा। श्रीगौरहरि परम कृष्ण-भक्त बन गए हैं सुनकर श्रीवास अति हर्षित हुए और बोले **'गोत्रं नो वर्द्धताम्'**—हमारे गोत्र—श्रीकृष्ण-भक्तों की वृद्धि हो।" सब ने **'तथास्तु'** कहा।

सब वैष्णव श्रीशुक्लाम्बर के घर एकत्रित हुए। समय पाकर श्रीगौरांग पधारे। परन्तु उनकी प्रेमावस्था देखकर सब वैष्णवों में पुलक - स्वेद - कम्पादि विकार होने लगे—हरि-हरि बोलकर सब नाच उठे। श्रीगदाधर पण्डित बेहोश हो गए। श्रीवासजी की मनोभिलाष आज फलित हो उठी थी। अतीव आनन्दित हुए। उस दिन से श्रीगौरहरि इतने कृष्ण-प्रेमाविष्ट रहने लगे कि लोग उन में वायु रोग का सन्देह करने लगे। माता शची पुत्र की अद्भुत अवस्था देखकर अति चिन्तित हो उठीं। सब जगह प्रभु की स्वस्थता के लिए उपचार पूछती फिरतीं।

एक दिन ये शची माता के घर पर आए। श्रीगौरहरि ने इन्हें प्रणाम किया। इनके दर्शन करते ही प्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे। जैसे-तैसे सब ने प्रभु को चेतन किया। श्रीवास जान गए—ये सब प्रेम के विकार हैं, वे मूर्ख हैं जो इन में वायु का विकार कहते हैं। अहो ! इन में तो महाभक्ति का योग एवं श्रीकृष्ण-कृपा की परम परिणति है। श्रीगौरहरि ने भी यह वचन सुने—श्रीवास को आलिङ्गन किया। श्रीवास ने कहा—निमाई ! मेरे पास तुम्हारा इलाज है—वह यह कि सब मिलकर एक स्थान पर श्रीकृष्ण-कीर्त्तन करें। तुम बिल्कुल ठीक हो जाओगे।"

आपने माता शचीदेवी की चिन्ता दूर कर दी यह कहकर कि माता ! --गौरहरि में कृष्ण-भक्ति का उदय हुआ है, यह वायु रोग नहीं है।"

श्रीवास के वचन सुनकर श्रीगौरहरि ने अपने घर सङ्कीर्त्तन का आरंभ कर दिया। सारी-सारी रात उच्चस्वर से कृष्ण-कीर्त्तन एवं श्रीवासादि वैष्णवों का आनन्द कोलाहल। पाड़-पड़ोस तंग आ गया उस शोर-शराबे से। सब के सब श्रीवास के पीछे पड़ गए। कोई कहे इसे बाँधकर गङ्गा में फेंक दिया जाए, कोई कहे यवनराज से इसकी शिकायत कर इसके घर को गङ्गा में बहा दिया जाए। श्रीवास परम भक्त थे, उदार थे, परन्तु यवनराज के भय से डर गए।

श्रीगौरहरि तो भक्त-हृदय की बात सब जानते हैं। एक दिन भागकर श्रीवास के घर पर आये और आवेश में बोले--ओ श्रीवासिया ! क्या कर रहा है तू ? उस समय श्रीवास श्रीनृसिंह भगवान् के ध्यान में मग्न थे-प्रभु की आवाज सुन इनकी समाधि भङ्ग हो गई। चारों तरफ देखने लगे—श्रीवास का परम तेज था ज्वलन्त अग्नि की तरह।

प्रभु ने कहा—देख ! किस की पूजा और ध्यान कर रहा है तू ? जिस का ध्यान कर रहा है, देख उसे अपने सामने ही ? श्रीवास पण्डित ने देखा—श्रीनृसिंह ही वीरासन पर बैठे हैं, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म हाथों में सुशोभित है। सिंह की तरह गर्जना कर रहे हैं। यह देख श्रीवास तो स्तब्ध हो गए, क्या देख रहा हूँ--कुछ समझ न सके।

श्रीगौराङ्ग ने कहा--अरे श्रीवास ! इतने दिन तक तू मुझे नहीं पहचान पाया, कौन हूँ मैं ? तुम्हारे उच्च-सङ्कीर्त्तन एवं अद्वैत की हुङ्कार सुनकर मैं वैकुण्ठ छोड़कर तुम्हारे पास आया हूँ—तू यवन एवं पाषण्डियों से भयभीत हो रहा है ?-निश्चिन्त हो जाओ आज से। श्रीवास पुलकित हो उठे, प्रेमाश्रु की धारा बह निकली और भागवतीय ब्रह्म-स्तुति (१०।१४।१) के प्रथम श्लोक को उच्चारण कर प्रभु की स्तुति करने लगे।

विश्वम्भर चरणे आमार नमस्कार।
नवघन जिनि वर्ण पीतवास यांर॥
शचीर नन्दन पाये मोर नमस्कार।
नव गुन्जा शिखिपुच्छ भूषण याहांर॥

इस प्रकार अनेक स्तुति करते हुए श्रीवास आनन्द में विभोर हो गए। श्रीगौरहरि ने कहा--श्रीवास ! सब परिवार को बुला, और मेरे इस रूप के दर्शन करो, मेरी पूजा करो, वर माँगो, क्या चाहते हो ? श्रीवास ने स्त्री-पुत्रादि सहित प्रभु की पूजा की एवं उनके चरणों में प्रणाम किया। प्रभु ने इन्हें अभयदान दिया।

तात्पर्य—इससे पूर्व श्लोक में जो 'यज्ञ के निमित्त कर्म का आचरण' कहा गया है, वह यज्ञ किस प्रकार का है ? उसे कहते हैं—अर्पण—जिसके द्वारा अर्पण किया जाता है, वे जुह्वादि भी ब्रह्म है। जो हवि अर्पण की जाती है वह भी ब्रह्म है। ब्रह्माग्नि अर्थात् हवन का अधिकरण स्थान अग्नि भी ब्रह्म है, ब्रह्म अर्थात् हवनकर्त्ता भी ब्रह्म है, इस प्रकार विवेकयुक्त पुरुष के द्वारा ब्रह्म ही फलरूप प्राप्तव्य है, ब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई फल नहीं। वह कैसे ? ब्रह्मात्मक जो कर्म है उस से समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता हो जाती है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

सारार्थवर्षिणी टीका—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्त्तन्ते, तांस्त्वं शृण्वित्याह—दैवमेवेत्यष्टभिः। देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते यस्मिन् तं दैवमिति। इन्द्रादियु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्—"सास्य देवतेत्यण्"। योगिनः कर्म्मयोगिनः, अपरे ज्ञानयोगिनस्तु ब्रह्म परमात्मेवाग्निस्तस्मिंस्तत्-पदार्थे यज्ञं हविःस्थानीयं त्वं-पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणवरूपेण मन्त्रेणैव जुह्वति। अयमेव ज्ञानयज्ञोऽग्रे स्तोष्यते। अत्र 'यज्ञं' 'यज्ञेन' इति शब्दौ कर्म्मकरण साधनौ प्रथमातिशयोक्त्या शुद्धजीवप्रण-वावाहतुः ॥२५॥

अनुवाद—दूसरे योगीजन देवपूजा रूप यज्ञ की उपासना करते हैं, दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञरूप सम्पूर्ण कर्मों को हवन करते हैं ॥२५॥

तात्पर्य—श्रीभगवान् ने कहा—प्रकार भेद से और भी बहुत से यज्ञ हैं, उन्हें भी सुन। आठ श्लोकों में उन्हें कहते हैं। देव, इन्द्र-वरुणादि देवताओं का जिस में भजन किया जाता है, वह दैवयज्ञ है। इन्द्रादिकों में ब्रह्म-बुद्धि का अभाव दिखाते हैं—देव उसका देवता है (ब्रह्म नहीं)। योगी शब्द से कर्मयोगी अभिप्रेत है। अपरे—शब्द से ज्ञान योगीजन ब्रह्माग्नौ—अर्थात् ब्रह्म परमात्मा ही अग्नि है, 'तत्' पदार्थ में अर्थात् ब्रह्म में यज्ञ की हवि स्थानीय 'त्वं' पदार्थ अर्थात् जीव को यज्ञ से अर्थात् प्रणवरूप मन्त्र के द्वारा हवन करते हैं। इसी ज्ञान यज्ञ की आगे प्रशंसा करेंगे। यहाँ पर 'यज्ञ को' 'यज्ञ द्वारा' इन शब्दों से कर्म और करण साधन अथवा प्रथम अतिशयोक्ति द्वारा शुद्धजीव और प्रणव का निर्देश किया गया है ॥

श्रोत्रादीनिन्द्रियण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—अन्ये नैष्ठिकाः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, संयमः संयतं मन एवाग्नयस्तेषु जुह्वति—शुद्धे मनसीन्द्रियाणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः। अन्ये ततो

न्यूना ब्रह्मचारिणः शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निष्विन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु जुह्वति-शब्दादीनीन्द्रियेषु प्रविलापयन्तीत्यर्थः ॥२६॥

अनुवाद—अन्य योगीजन मनःसंयमरूप अग्नि में श्रोत्रादिक इन्द्रियों की आहूति देते हैं। तथा दूसरे योगीजन इन्द्रिय रूप अग्नि से शब्दादि विषयों की आहूति देते हैं ॥२६॥

तात्पर्य—अन्ये-अर्थात् नैष्ठिकजन श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमाग्नि अर्थात्—संयत-मन रूपी अग्नि में हवन करते हैं, अर्थात् शुद्ध मन में इन्द्रियों को लीन कर देते हैं। अन्ये—अर्थात् उन में कुछ न्यून ब्रह्मचारी शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूप अग्नि में लीन कर देते हैं ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—अपरे—शुद्ध-त्वंपदार्थविज्ञाः। सर्व्वाणीन्द्रियाणि तत्कर्म्माणि श्रवणदर्शनादीनि च, प्राणकर्म्माणि दशप्राणास्तत्कर्म्माणि च, प्राणस्य बहिर्गमनमपानस्याधोगमनम् समानस्य भुक्तपीतादीनां समीकरणम्, उदानस्योच्चैर्नयनम्, व्यानस्य विश्वक्नयनम्—"उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म्म उन्मीलने स्मृतः। कृकरःक्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतञ्चापि सर्व्वव्यापी धनञ्जयः इत्येवं दश प्राणास्तत्कर्म्माणि। आत्मनस्त्वंपदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्निस्तस्मिन् जुह्वति—मनोबुद्ध्यादीन्द्रियाणि दशप्राणांश्च प्रविलापयन्ति—एकः प्रत्यगात्मैवास्ति, नान्ये मन आदय इति भावयन्तीत्यर्थः ॥२७॥

अनुवाद—तथा दूसरे योगीजन ज्ञान से प्रकाशित हुई चित्त-संयम रूप योगाग्नि में सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्म तथा प्राणों के कर्मों को हवन करते हैं ॥२७॥

तात्पर्य—अपरे—अर्थात् शुद्ध 'त्वं' पदार्थके जानने वाले सम्पूर्ण इन्द्रियों को तथा उनके श्रवण दर्शनादि कर्मों को, दशप्राण तथा उनके कर्मों को 'त्वं' पदार्थ की संयम—शुद्धिरूप अग्नि में आहूति देते हैं, अर्थात् मनबुद्धि प्रभृति इन्द्रियाँ और दश प्राण सभी लीन कर देते हैं। एक मात्र प्रत्यक् आत्मा ही रहता है, मन आदि दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती।

दश प्राणों के नाम तथा कर्म इस प्रकार है—१. 'प्राण' का कर्म बहिर्गमन, २. 'अपान' का अधोगमन, ३. 'समान' का खाए पीये पदार्थों का समीकरण ४. 'उदान' का ऊपर ले जाना, तथा ५. 'व्यान' का सर्वत्र घूमना, ६. 'नाग' का कर्म उद्गार (डकार) है, ७. 'कूर्म' का आँख खोलना, ८. 'कृकर' का खाँसना, ९. 'देवदत्त' का जृम्भा (जँभाई लेना) तथा, १०. 'धनञ्जय' का कर्म मृत्यु पश्चात् भी देह में व्याप्त रहना है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते 'द्रव्ययज्ञाः', तपः कृच्छ्र-चान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः, योगऽष्टाङ्ग एव यज्ञो येषां ते 'योगयज्ञाः', स्वाध्यायो वेदस्य पाठस्तदर्थस्य ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते, यतयो यत्नपराः—सर्व्वे एते सम्यक् शितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ॥२८॥

अनुवाद—कोई द्रव्ययज्ञ परायण हैं, तो कोई योगयज्ञ-परायण, कोई तप यज्ञ-परायण हैं तो कोई स्वाध्याय तथा कोई ज्ञान-यज्ञ परायण हैं, इस प्रकार कोई यत्नशील पुरुष तीक्ष्ण व्रतों का आचरण करते हैं ॥२८॥

तात्पर्य—'द्रव्ययज्ञाः' अर्थात् कोई लोग द्रव्य दान करने वाले हैं। 'तपोयज्ञाः'—अर्थात् अष्टाङ्ग योग-यज्ञ करने वाले हैं, स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः अर्थात् स्वाध्याय या वेदपाठ तथा उसके अर्थ ज्ञानरूप यज्ञ को करने वाले हैं। यतय—यत्न में लगे हुए संशितव्रता—ये सभी तीक्ष्ण व्रतधारी हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणाः प्राणेषु जुह्वति ॥२९॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—अपरे प्राणायामनिष्ठाः—अपानेऽधोवृत्तौ प्राणमूर्द्ध्ववृत्तं जुह्वति पूरक-काले प्राणमपानेनैकीकुर्व्वन्ति ; तथा रेचक - कालेऽपानं प्राणे जुह्वति ; कुम्भक - काले प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा भवन्ति । अपरे इन्द्रियजयकामाः, नियताहाराः अल्पाहाराः, प्राणेष्वाहरसङ्कोचनेनैव जीव्यमानेषु प्राणानिन्द्रियाणि जुह्वति । इन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्तित्वात् प्राणदौर्व्वल्ये सति स्वयमेव स्व-स्व-विषयग्रहणासमर्थानीन्द्रियाणि प्राणेष्वेवाल्पीयन्त इत्यर्थः ॥२९॥

अनुवाद—दूसरे योगीजन अपान वायु में प्राण वायु का तथा प्राण वायु में अपान वायु का हवन करते हैं। प्राण और अपान को रोक कर प्राणायाम परायण होते हैं। और दूसरे नियमित आहार करते हुए प्राणों का हवन करते हैं।

तात्पर्य—'अपरे' अर्थात् प्राणायाम-निष्ठा वाले योगी 'अपाने' अर्थात् निम्नवृत्ति में 'प्राणं' अर्थात् ऊर्ध्ववृति का हवन करते हैं; अर्थात् पूरक-काल में प्राण का अपान के साथ एकीकरण करते हैं, तथा रेचक-काल में अपान को प्राण में हवन करते हैं तथा कुम्भक काल में प्राण और अपान की गति रोककर प्राणायाम में प्रवृत्त होते हैं। 'अपरे'—दूसरे अर्थात् इन्द्रियों पर जय करने की कामना वाले 'नियताहाराः' अर्थात् अल्प आहार करते हुए जीवनमय प्राणों में 'प्राणान्' अर्थात् इन्द्रियों का हवन करते हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राण के अधीन हैं। प्राण के

दुर्बल होने पर इन्द्रियां अपने-आप दुर्बल हो जाती हैं और अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं एवं प्राणों में ही सूक्ष्म रूप से अवस्थान करती हैं।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—सर्व्वेऽप्येते यज्ञविदः उक्तलक्षणान् यज्ञान् विन्दमानाः सन्तः ज्ञानद्वारा ब्रह्म यान्ति। अत्राननुसंहितं फलमाह—यज्ञशिष्टं यज्ञावशिष्टं यदमृतं भोगैश्वर्य्यसिद्धयादिकं तद्भुञ्जते इति। अनुसंहितं फलमाह—ब्रह्म यान्तीति ॥३०॥ तदकरणे प्रत्यवायमाह—नायमिति। अयमल्पसुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, कुतोऽन्यो देवादिलोकस्तेन प्राप्तव्य इत्यर्थः ॥३१॥

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त सब यज्ञ के ज्ञाता हैं तथा उन यज्ञों से उनके पाप नष्ट हो जाते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञावशेष रूप अमृत भोग करने वाले योगी सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥३०॥ यज्ञ रहित व्यक्ति को यह लोक भी सुखदायक नहीं है, तब परलोक में उसे सुख कहाँ मिल सकता है? ॥३१॥

तात्पर्य—इस प्रकार उपर्युक्त यज्ञों को जानने वाले हैं एवं कथित लक्षणों को जानकर ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यहाँ अब उन यज्ञों का फल कहते हैं—यज्ञ का अवशेष अर्थात् प्रसाद या फलस्वरूप जो अमृत है, वह है—भोग, ऐश्वर्य, सिद्धि आदि, यज्ञ करने वाले इनका भोग करते हैं। वे सब गौणफल हैं। मुख्यफल कहते हैं—वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वालों को यह अल्पसुख वाला मनुष्य लोक भी नहीं मिलता, फिर दूसरे देवादि लोक उसे कैसे मिल सकते हैं?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—ब्रह्मणो वेदस्य मुखेन वेदेन स्वमुखेनैव स्पष्टमुक्ता इत्यर्थः। कर्म्मज्ञान् वाङ्‌मनःकायकर्म्मजनितान् ॥३२॥

अनुवाद—वेदवाणी में इस प्रकार अनेकविध यज्ञ विस्तार से वर्णन किए गए हैं—उन सब को शरीर-मन-वाणी के कर्मों से उत्पन्न हुआ जान, उन सब को तत्त्व रूप से जानकर संसार-बन्धन से मुक्त हो जाएगा ॥३२॥

★

गंधिन-लीला

समाजी वचन [दोहा]

एक समै अति कौतुकी लाल रसिक रिझवार ।
गंधिन भेष बनायकै चले प्रिया के द्वार ॥ १ ॥

अतर सनी अँगिया नई लहँगा घेरे दार ।
कनक छपी गोटा जरी लसत सीस पै सार ॥ २ ॥

तन साँवल अति ऊजरी दृगन चलावत चोट ।
सरकावत घूँघट कबूँ-कबूँ करत मुख ओट ॥ ३ ॥

अतर फुलेल लिये फिरत गली लली वृषभान ।
करत गमन सौरभ उठत अंगन रूप निधान ॥ ४ ॥

राज भवन पै जाय के टेरत छबि की रास ।
एरी कोऊ लेत है अतर विविध मो पास ॥ ५ ॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [राग टोड़ी जौनपुरी]

गंधिन सी को टेरत द्वारे ।
लावो बेगि बुलाय सखी री वाको भीतर भवन हमारे ।
कोमल वचन प्रीति के बोलत भरे मिठास लगत अति प्यारे ।
ललित लड़ैती कहाँ सों आवत सीसी अतर हाथ पे धारे ॥ ६ ॥

सखी वचन गं० प्र० [दोहा]

चलरी चल भीतर भवन साँवरि रूप निधान ।
प्यारी चोखौ अतर दे पावे बहु सनमान ॥ ७ ॥

समाजी वचन [दोहा]

गज गति झूमत चलत यह बीच लाड़िली महल ।
कै सुवास दैवे चली कै करिवे कछु टहल ॥ ८ ॥

श्रीजी वचन गंधिन प्रति [दादरा देश को जिला]

बसत कहाँ तू बाल नवेली ।
सीसी अतर लिये हाथन में राय केवड़ा चमेली ।
सौरभ महकत धरत धरनि पग दरसत नीलमणिन की बेली ।
ललितलड़ैती अचरज आवत परदा की सी फिरत अकेली ॥ ९ ॥

गंधिन वचन श्रीजी प्रति [राग देश सोरठ]

प्यारी हों तो बासिन याही गाम, पे मैं विचरत निशिदिन अपने धाम,
या भाँति सौं मेरौ सुधरै काम।
जब तें जस सुन्यौ तिहारौ लली, उठि धाई दरशन को इकली,
लाई न सङ्ग मैं कोऊ बाम।
धनि ललित-लड़ैती दिवस आज, भई भेंट मिट्यौ चिंता समाज,
तोहि देखि जिया पावत आराम ॥१०॥

श्रीजी वचन गंधिन प्रति [राग दादरा देशको जि०]

गंधी की तू बाल नवेली।
होय व्यौपारिन रहत भवन निज कैसे काज सरत ह्वै हेली।
बिना दिखाये कौन लेत है धरी वस्तु नई भवन सहेली।
ललित लड़ैती तोहि देखिके आज फली मेरी पुन्यन बेली ॥११॥

गंधिन वचन श्रीजी प्र० [राग देश सोरठ]

व्यौपारिन को शोभा जंजार लखि, लागें सङ्ग सब पुरुष नारि,
डोलत इत उत न चले व्यवहार।
यातें घर बैठे ही काज सरै, बाहर सब कोऊ हाँसी करै,
जो फिरूँ कदापि औरन के द्वार।
ललिता लड़ैती चोखौ सुवास, धर राखूँ घर में अपने पास,
आवें नित लेवे घनी नार ॥१२॥

श्रीजी वचन गंधिन प्रति [राग छद्म खम्माच]

जानी जानी तेरे जिया की सगरी बात।
तू ढांपै फिरै न दिखाये नैक तौंहीं यह सुन्दर अपने गात।
देखी न सुनी यह शोभा रूप तेरौ रचो जो विधि ऊँचौ ललाट।
नित मिला करौ सुकुमार साँवरि ललित लड़ैती सांझ प्रात ॥१३॥

सखी वचन गंधिन प्रति [दोहा]

तू बातें भोरी करै रुचैं सखिन सिरमौर।
तोसी लायक नव वधू चहियें प्यारी पौर ॥१४॥

गंधिन वचन श्रीजी प्रति [राग ठुमरी खम्माच जि०]

आज प्रिया ज्यौंही गैल महल की लई री।
बीच ही में साँवरो बिहारी लाल दृष्टि पर्यौ,
सैन न जड़ी कटारी भेंट जब भई री॥
सीसी अतर गुलाब लेके दिये दूने दाम,
वह हू सुनें मोतें रस बतियां नई री॥

जैसौ रिझवार श्याम तुम जस वैसो ही सुन्यौ,
मैं ललित लड़ैती तबही टेर आय दई री ।।१५।।

सखी वचन गंधिन प्रति [राग देश सोरठ]

तू आई आज प्यारी के द्वार, पै राजनीति न करत विचार,
अपनी सी कहत बार बार ।।
हम जानी री है उनही के रङ्ग, मानो कोऊ दिन कियो सङ्ग,
वाको सो स्वांग लियो तुम उतार ।।
अब तुर्त पिटार सुगन्ध खोल, दै प्यारी ले मन भायौ मोल,
कर ललित लड़ैती निज व्यौपार ।।१६।।

गंधिन वचन श्रीजी प्रति [दादरा देश को जि०]

यह सुनि हरषी बाल नवेली ।
खोलि पिटार निकास्यो चोखो अतर केवड़ा कली चमेली ।।
कहत अतर यह बड़े मोल को तुम पे लाई लाड़ गहेली ।
ललितलड़ैती लियो कुमरि कर जान साँवरी निज मन मेली ।।१७।।

श्रीजी वचन सखी प्रति [राग ठुमरी]

रीझी प्रिया अतर लगात अङ्ग ।
ऐसो सुवास सूंघ्यो न कबहुँ लाई यह अपूरब मेरे ढ़िग ।।
प्रीतम प्यारे से याके अङ्ग यह बोलत मुख उनहीं के रङ्ग ।
पढ़ै ललितलड़ैती चाटसाल इककियो कोऊ दिन दोउन सङ्ग ।।१८।।

श्रीजी वचन साँवरी प्रति [दोहा]

रजनी हूँ आई निकट करि महलन विश्राम ।
मेरो मन तो सों मिलत एरी छबि अभिराम ।।१९।।
ब्यारू कर बतियाँ कहौ रहौ आज की रात ।
रतन जवाहिर तोहि दै विदा करूँ उठि प्रात ।।२०।।

समाजी वचन [राग देश सोरठ]

आयो झकोर सीतल समीर, सरक्यो गंधिन के उर तें चीर,
परी दृष्टि हिये में हार हीर ।
ललिता चित्रा सोउ पहिचान, कहैं आपस में दोऊ लगा कान,
यह नन्द सुवन के काम बीर ।।
गई हार उतारत अँगिया छूटि, देखत गायौ भाँडो छद्म फूटि,
ललिता लड़ैती फूली सरीर ।।२१।।

समाजी वचन [दोहा]

गंधिन की लीला नई जामें प्रेम अपार ।
याके श्रवण करें मिलें कुन्ज सखी अधिकार ।।२२।।

।। इति श्रीगंधिन-लीला ।।

योगी-लीला

श्रीजी वचन सखी प्रति [राग आसावरी वा ब० पी० जि०]

तू कित जाति सखी या बिरियाँ घूंघट ओट किये मुख मोरी।
निपट अकेली सङ्ग न सहेली बाल नवेली गति मति भोरी॥
रसिया फिरत लिये पिचकारी रङ्ग भिजोवत खेलत होरी।
ललित लड़ैती लाज रहेना अब जिन निकस मान कही गोरी॥ १॥

वह ढोटा रिझवार रूप को तू अति भोरी गोप किशोरी।
जिहि देखै नब तरुण ऊजरी नैन चलात करत चित चोरी॥
ऐरी राजनीति कब सीखो बिन छेड़े मग जान दे गोरी।
ललितलड़ैती उत मति जैयो जानें कहा करै बरजोरी॥ २॥

सखी वचन श्रीजी प्रति [दोहा]

ग्वाल बाल निज सङ्ग लै रसिक शिरोमणि छैल।
ललित लड़ैती गयो भवन छाँड़ि हमारी गैल॥ ३॥

समाजी वचन [दोहा]

इतमें योगी भेष धर छलिया नन्द कुमार।
गहबर बन कों जाय कै बैठो आसन मार॥ ४॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [दोहा]

तू बन ठन कितकूँ चली सो सुनिवे को चाव।
ललित लड़ैती कहौ प्रगट अब जिन राखि दुराव॥ ५॥

सखी वचन श्रीजी प्रति [दोहा]

मैं गहबर बन कौं चली सुनो लली छबि ऐन।
आयौ इक योगी नयौ या नगरी सुख दैन॥ ६॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [दोहा]

बोली तब कीरति कुँवर भूषण युवति समाज।
चलौ सखी हमहूं चलैं निरखैं योगीराज॥ ७॥

समाजी वचन [दोहा]

अष्ट सखिन को सङ्ग लै आई राजकुमारि।
रूप अधिक तप धन अधिक इक टक रही निहार॥ ८॥

※ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ※

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

दान - व्रत - तपस्तीर्थक्षेत्रादीनाञ्च याः स्थिताः।
शक्तयो देव - महतां सर्व पापहराः शुभाः॥
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानस्याध्यात्मवस्तुनः।
आकृष्ण हरिणा सर्वाः स्थापिताः स्वेषु नामसु॥※

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, जुलाई १९८२ { अंक ७

★ विलम्ब जनि करो ★

अब विलम्ब जनि करो प्राणपति ! कृपा - दृष्टि टुक हेरो।
नित्य को ध्यान - भजन - सेवा सुख, यह चितवे चित्त मेरो॥
अविरल - भक्ति प्रीति दृढ़ चरणन, जासों होय निबेरो।
ललितलड़ैती इष्ट प्रिया - प्रिय, वृन्दाविपिन बसेरो॥

—श्रीललितलड़ैती जी

※ दान, व्रत, तपस्या, तीर्थ-क्षेत्रों में तथा देवताओं एवं महत्पुरुषों में जो सब शक्तियाँ हैं, राजसूय, अश्वमेध यज्ञ और आत्म-वस्तु के ज्ञान में जो सब पाप हारिणी मङ्गलमयी शक्तियाँ हैं, उन सब शक्तियों को श्रीकृष्ण ने आकृष्ट करके अपने नाम में स्थापित कर दिया है। उक्त समस्त के सेवन से जो फल प्राप्त होता है, वह समस्त श्रीकृष्णनाम कीर्त्तन से प्राप्त होता है।

श्रीहरिभक्तिविलास ११/१९६

श्रीमद्‌रूपगोस्वामि-विरचितम्

कार्पण्य-पञ्जिका-स्तोत्रम्

योग्यता मे न काचिद्वां कृपालाभाय यद्यपि।
महाकृपालुमौलित्वात्तथापि कुरुतं कृपाम् ॥११॥

हे श्रीवृन्दावनाधीश्वरद्वय ! यद्यपि मुझमें आपकी कृपा प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, तो भी आप मुझ पर कृपा कीजिए, क्योंकि कृपालु-धनी लोग ही जब लूले-लङ्गरे अयोग्य व्यक्तियों को देखकर उन पर कृपा करते हैं, फिर आप तो महाकृपालुओं के भी मुकुटमणि हैं ॥११॥

[यदि आप कहो कि तुम केवल अयोग्य ही नहीं हो, अपराधी भी तो हो ; तुम पर हम कैसे कृपा करें ? तो, प्रभो ! सुनिए]—

अयोग्येऽप्यपराधेऽपि दृश्यन्ते कृपयाकुलाः।
महाकृपालवो हन्त लोके लोकेशवन्दितौ ॥१२॥

हे प्रिया-प्रीतम ! महाकृपालु लोग इस जगत् में अयोग्य तथा अपराधी लोगों के प्रति भी कृपा करते हैं, जब बड़े-बड़े लोकपाल भी आपकी वन्दना करते हैं, तब हाय ! फिर आप मुझ अयोग्य एवं अपराधी पर कृपा करने में क्यों संकुचित हो रहे हैं ? ॥१२॥

[यदि आप कहो कि, हमारी कृपा तो एकमात्र भक्ति के द्वारा हुआ करती है, तुम भक्तिशून्य हो, तुम पर कैसे कृपा हो सकती है ? हे भक्तवत्सल ! सुनिए]—

भक्तेर्वां करुणाहेतोर्लेशाभासोऽपि नास्ति मे।
महालीलेश्वरतया तदप्यत्र प्रसीदतम् ॥१३॥

हे युगलकिशोर ! आपकी कृपा का कारण जो भक्ति है, उसके लेशमात्र का आभास भी मुझमें नहीं है, यह सत्य है, परन्तु फिर भी आपको मुझ पर कृपा करनी ही होगी ; क्योंकि आप तो महालीलाधारी हो, अहैतुक कृपालु हो। मेघ भी सुहृद अथवा उदासीन की अपेक्षा न रख कर सब पर वृष्टि कर देता है, फिर आपको कृपा करने में भक्त या अभक्त होने का विचार क्यों ? ॥१३॥

[यदि आप कहो कि अज्ञानी-धनिक, एवं राजा अपराधी दण्डनीय व्यक्तियों पर प्रसन्न हो सकते हैं, विद्वान् एवं देवता नहीं, तो सुनिए]—

जने दुष्टेऽप्यसक्तेऽपि प्रसीदन्तो विलोकिताः।
महालीला महेशाश्च हा नाथौ बहवो भुवि ॥१४॥

हे नाथ ! दुष्ट एवं अभक्त व्यक्तियों के प्रति भी महान् चरितवान् लोगों की तथा श्रीशङ्कर जो को जब इस जगत् में अनेक बार प्रसन्न होते देखा गया है, तब आप दोनों तो देवों के भी देव हो, आप मुझ अपराधी अभक्त पर क्यों प्रसन्न न होंगे ? ॥४॥

[वैज नामक किरात ने मुँह में कुला भरकर महादेवजी पर डाला था। उस पर वे प्रसन्न हो गए और उसे महान् वर प्रदान कर दिया था। एक चोर शिवालय में चोरी करने के लिए पहुँचा। उसने दियासिलाई जलाकर इधर-उधर उसे घुमाकर धन-सम्पत्ति को देखना चाहा। श्रीमहादेव ने उसे दीप-दान समझ लिया और कुबेर-पद प्राप्त करने का वर दे दिया। अतः हे प्रभो ! जब श्रीशङ्कर अपने प्रति अभक्त एवं अपराधी व्यक्तियों पर प्रसन्न हो जाते हैं, तब आप श्रीवृन्दावनाधीश्वर-द्वय मुझपर कृपा क्यों न करोगे ?

यदि आप कहो कि, "महादेव तो बिना विचार शीघ्र प्रसन्न हो जाने वाले हैं, हम तो भक्ति की अपेक्षा रखते हैं, चाहे वह थोड़ी ही क्यों न हो—ऐसा हमारा स्वभाव है।" यह सत्य है मुझमें भक्ति का लेशमात्र भी नहीं है, मैं अपने अपराधों को स्वीकार कर आपसे भक्ति का ही तो वर याचना कर रहा हूँ]—

अधमोऽप्युत्तमं मत्वा स्वमज्ञोऽपि मनीषिणाम् ।
शिष्टं दुष्टोऽप्ययं जन्तुर्मन्तु व्यधित यद्यपि ॥१५॥

हे नाथ मैं अधम जीव हूँ, फिर भी अपने को श्रेष्ठ मानता हूँ, मैं मूर्ख होकर भी अपने को विद्वान् मानता हूँ, दुष्ट होकर भी अपने को शिष्ट मान रहा हूँ—ऐसे अनेक अपराध मुझमें विद्यमान हैं ॥१५॥

तथाप्यस्मिन्कदाचिद्वामधीशौ नाम जल्पनि ।
अवद्यवृन्दनिस्तारिनामभासौ प्रसीदतम् ॥१६॥

फिर भी आपको मुझ पर कृपा करनी ही होगी, हे व्रजाधीश्वर ! मैं कभी-कभी आपके श्रीनामों का येन-केन प्रकार से उच्चारण करता हूँ। आपका नाम-आभास भी तो श्रीनाम-उच्चारण न करना इत्यादि दोषों से युक्त अनेक व्यक्तियों का निस्तार कर देता है ॥१६॥

यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ, स्मृति का वचन है—

गोविन्देति यथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः ।
दहते सर्वं पापानि युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥

भक्ति अर्थात् श्रद्धा सहित अथवा श्रद्धा - रहित होकर यदि कभी श्री गोविन्द नाम उच्चारित हो जाता है, तो वह प्रलयाग्नि की भाँति प्रज्ज्वलित होकर नाम-उच्चारण करने वाले के समस्त पापों को जला डालता है।

यदि आप कहें कि यह सत्य है, परन्तु मेरा नाम अपराधों का तो विचार रखता है। तुम्हारे में तो अनेक नामापराध हैं। उसका हम क्या प्रतिकार करें ? तो प्रभो ! सुनिये मेरी प्रार्थना—

यदक्षम्यं नु युवयोः सकृद् भक्तिलवादपि ।
तदागः क्वापि नास्त्येव कृत्वाशां प्रार्थये ततः ॥१७॥

हे युगलकिशोर ! ऐसा कोई भी पाप अथवा अपराध नहीं है, जो एक बार की गई आपकी लेश-मात्र भक्ति या नामाभास के फलस्वरूप आप द्वारा क्षमा नहीं किया जा सके या क्षम्य न हो—ऐसा मेरा विश्वास है और इसी आशा पर मैं आपकी कृपा याचना कर रहा हूँ ॥१७॥

[यदि आप यह पूछो कि—साधन-सम्पत्ति हीन तुम न जाने क्यों दुष्प्राप्य हम दोनों की प्रसन्नता की आशा कर रहो हो ? पृथ्वी पर रहकर चाँद को पकड़ना चाहते हो क्या ?—प्रभो ! सुनो, सुनो]—

हन्त क्लीबोऽपि जीवोऽयं नीतः कष्टेन धृष्टताम् ।
मुहुः प्रार्थयते नाथौ प्रसादः कोऽप्युदञ्चतु ॥१८॥

हाय ! मैं निश्चय ही साधन-बल-पौरुष हीन जीव हूँ। मैं संसार के अतिशय सन्ताप-दुःख से व्याकुल होकर दीठ ही हो गया हूँ। अतः हे नाथ ! मैं बार-बार प्रार्थना करता हूँ, किसी न किसी प्रकार आपकी मुझ पर कृपा हो जाए ॥१८॥

अतिदैन्यमालब्याह—

एष पापी रुदन्नुच्चैरादाय रदनैस्तृणम् ।
हा नाथौ नाथति प्राणी सीदत्यत्र प्रसीदतम् ॥१९॥

हे प्राणनाथद्वय ! मैं भारी पापी हूँ। मैं दान्तों में तृण दबाकर उच्च-स्वर से रो-रोकर आपकी याचना कर रहा हूँ। मैं अति दुःखित जीव हूँ। आप मुझ पर कृपा कीजिये। इसके बिना मेरे दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती ॥१९॥

हाहारावमसौ कुर्वन्दुर्भगो भिक्षते जनः ।
एतां मे शृणुतं काकुं काकुं शृणुतमीश्वरौ ॥२०॥

हाय ! हाय !! मैं दुर्भागा चिला-चिलाकर आपसे भिक्षा माँगता हूँ। हे स्वामि ! मेरी प्रार्थना को सुनो। हे स्वामिनि ! आप मेरी विनय को सुनिए, मुझ पर कृपा कीजिए ॥२०॥

याचे फूत्कृत्य फूत्कृत्य हाहा काकुभिराकुलः ।
प्रसीदतमयोग्येऽपि जनेऽस्मिन् करुणार्णवौ ॥२१॥

हा-हा ! मैं दुःख से व्याकुल होकर अपने को बार-बार धिक्कार करता हूँ। हे करुणासागर प्रिया-प्रीतम ! मुझ अयोग्य प्राणी पर भी आप प्रसन्न होओ, मुझ पर कृपा करो ॥२१॥

(क्रमशः)

श्रीभागवत (६।१४।१४) में भी कहा गया है कि एक बार भगवान् अङ्गिरा ऋषि स्वेच्छा से नाना लोकों में भ्रमण करते हुए राजा चित्रकेतु के घर पधारे ।।५३३।।

इस श्लोक से भी सन्तों का स्वेच्छापूर्वक विचरना ज्ञात होता है। इस भ्रमण काल में श्रीअङ्गिरा ऋषि के द्वारा चित्रकेतु में भगवत्-सामुख्य उदित हुआ। कालान्तर में वह विशेष भाव से प्रकट हुआ—ऐसा मानना चाहिए।

राजा चित्रकेतु का जब पुत्र मर गया और वे शोक विह्वल हो रहे थे, उस समय श्रीअङ्गिरा ऋषि एवं श्रीनारदजी ने आकर कहा—(भा० ६।१५।१६)—"राजन! तुम ब्रह्मण्य हो, और भगवद् भक्त हो, तुम्हारे लिए इस प्रकार शोक में मोहित होना उचित नहीं है।"—ऐसा श्रीशुकदेव जी ने वर्णन किया हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीअङ्गिरा ऋषि स्वेच्छा से चित्रकेतु के घर पधारे, पुत्रकामना के कारण उसे पुत्र होने का वर दिया। पुत्र के मरने पर पुनः उसके पास श्रीनारदजी के साथ जाकर उसे सदुपदेश दिया और उसे भगवद् भक्त भी कहा, अर्थात् उनके सङ्ग से उसमें भगवत् सामुख्य उदित हो आया था।।

१८३—सतां कृपा च दुरवस्थादर्शनमात्रोद्भवा, न स्वोपासनाद्यपेक्षा, यथा श्रीनारदस्य नलकूवरमणिग्रीवयोः। तदाह (भा० ११।२।६)—

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ।।५३४।।

स्पष्टम् ।। श्रीमानानकदुन्दुभिः ।।

सन्तपुरुषों के हृदय में जीवों की दुर्दशा देखते ही कृपा उदित हो उठती है। वह जीवों की प्रार्थना या उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती। जैसे भी श्रीनारदजी की कृपा नलकूवर-मणिग्रीव पर अपने आप—उनकी दुर्दशा देखकर ही उदित हो उठी थी। श्रीभागवत (११।२।६) में कहा गया है—

जो लोग जिस भाव से देवताओं का भजन करते हैं, वे भी छाया की तरह कर्मों के सहायक होकर उनका वैसा ही फल प्रदान करते हैं, किन्तु सत्पुरुष ऐसे नहीं हैं, वे दीन वत्सल होते हैं–वे अहैतुक कृपा करने वाले होते हैं। —ऐसा श्री वसुदेवजी ने कहा है ।।५३४।।

१८४—सत्सङ्गस्यैव परमसंस्कारहेतुत्वात्तदर्थं न पुरुषस्य संस्कारहेत्वन्तरमपेक्ष्यञ्च, यत आह (भा० १०।८४।११)—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ।।इति।। ५३५ ।।

ते कथं नाद्रियन्ते, गौणत्वादित्याह,—"ते पुनन्ति" इति ।।श्रीभगवान् मुनिवर्गम् ।।

सत्सङ्गम अर्थात् महत्पुरुषों का मिलना ही परम संस्कार का हेतु है, इसलिए सत्सङ्गम के लिऐ और किसी संस्कार के कारण की अपेक्षा नहीं है। जैसा कि श्रीभागवत (१०।८४।११) में कहा गया है—

पवित्र जलमय स्थान ही वास्तव में तीर्थ नहीं है और न मृन्मयी या शिलामयी मूर्तियां ही देवता हैं, क्यों कि वे तो बहुत समय पाकर मनुष्यों को पवित्र करती हैं, परन्तु सत्पुरुष अपने दर्शन मात्र से ही मनुष्य को पवित्र कर देते हैं ॥५३५॥

तीर्थ एवं देवमूर्त्ति का यहां अनादर निरूपण नहीं किया गया, किन्तु उनका यहां केवल गौणत्व ही कहा गया है, क्योंकि वे देर में पवित्र करते हैं—ऐसा मुनि वर्ग के प्रति श्रीभगवान् ने कहा है ॥

१८५—तदेवं तत्सङ्गमात्रस्य तत्साम्मुख्यमात्रे निदानत्वमुक्तम्। एतदेव व्यतिरेकेणाह (भा० ५-१२-११ व १२)—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्ववहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥५३६॥

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥५३७॥

टीका च—तर्हि किं सत्यम् ? तत्राह—ज्ञानं सत्यम्। व्यवहारिकसत्यत्वं व्यावर्त्तयति, परमार्थम्। वृत्तिज्ञानव्यवच्छेदार्थानि षड् विशेषणानि, विशुद्धं, तत्तु आविद्यकम्, एकम्, तत्तु नानारूपम्, अनन्तरं त्वबहिर्बाह्याभ्यन्तर-शून्यम्, तत्तु विपरीतम्, ब्रह्म परिपूर्णम्, तत्तु परिच्छिन्नम्, प्रत्यक्, तत्तु विशयाकारम् प्रशान्तं निर्विकारम्, तत्तु सविकारम्, तदेवंस्वरूपं ज्ञानं सत्यमित्युक्तम्। कीदृशं तत् ? ऐश्वर्य्यादिषड् गुणत्वेन भगवच्छब्दः संज्ञा यस्य। यच्च ज्ञानं वासुदेवं वदन्ति। तत्प्राप्तिश्च महत्सेवां विना नभवतीत्याह, हे रहूगण ! एतज्ज्ञानं तपसा पुरुषो न याति, इज्यया वैदककर्मणा, निर्वपणात् अन्नादिसंविभागेन, गृहाद्वा तन्निमित्तपरोपकारेण, छन्दसा वेदाभ्यासेन, जलाग्न्यादिभिरुपासितैरित्येषा। अत्र ब्रह्मत्वादिना जीवस्वरूपं सूक्ष्मत्वादिधर्मकं ज्ञानमपि निरस्तं वेदितव्यम् ॥ श्रीब्राह्मणो रहूगणम् ॥

इस प्रकार भगवत् साम्मुख्य के लिए केवल सत्सङ्ग मात्र ही मूल कारण कहा गया है। अब इसी बात को व्यतिरेक भाव से कहते हैं। श्रीभागवत (५-१२-११ एवं १२) में कहा गया है—

हे रहूगण ! विशुद्ध परमार्थरूप अद्वितीय तथा भीतर-बाहर के भेद रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है, वह सर्वान्तरवर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसका नाम 'भगवान्' है एवं सुधीजन उसको 'वासुदेव' कहते हैं। किन्तु उसकी प्राप्ति महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को नहलाए बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अथिति सेवा, दीन-सेवा आदि स्वधर्मा-

नुष्ठान, वेदाध्ययन तथा वरुण, अग्नि, या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से नहीं होती ॥५३६-५३७॥

टीका में लिखते हैं—सत्य क्या है ?—इसके उत्तर में कहते हैं ज्ञान सत्य है। व्यवहारिक सत्य का निषेध करने के लिए कहते हैं' 'परमार्थ'— अर्थात् परमार्थ सत्य है। इन्द्रियवृत्ति जनित साधारण ज्ञान का निषेध करने के लिए 'ज्ञान' के यहां छः विशेषण दिये गए हैं'—'विशुद्ध'–अर्थात् अविद्यामूलक या इन्द्रियवृत्ति जनित ज्ञान की तरह यह अविशुद्ध नहीं है। यह एक है—अविद्यामूलकज्ञान के नाना रूप होते हैं। 'यह ज्ञान 'अनन्तर' एवं 'अबहिः' है अर्थात् बाहर एवं भीतर के भेद से रहित है। किन्तु इन्द्रियवृत्ति जनित ज्ञान इसके विपरीत होता है। यह ब्रह्मस्वरूप अर्थात् परिपूर्ण है, किन्तु वह परिछिन्न—सीमित होता है। यह 'प्रत्यक्' है अर्थात् सर्वान्तिर्वर्त्ती है, वह विषयाकार होता है। यह 'प्रशान्त' है अर्थात् निर्विकार है, परन्तु वह सविकार होता है। इस प्रकार का ज्ञान ही सत्य स्वरूप है। फिर कैसा है यह ?—ऐश्वर्यादि षड़गुणों से युक्त होने से इसे 'भगवान्' शब्द से पुकारा जाता है। इसी ज्ञान को तत्वज्ञजन 'वासुदेव' कहते हैं। उस अद्वय तत्व ज्ञान स्वरूप वासुदेव की प्राप्ति महत्पुरुषों की सेवा के बिना नहीं होती। हे रहूगण ! यह ज्ञान तपस्या द्वारा मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। 'इज्यया' अर्थात् वैदिक कर्मों के द्वारा, "निर्वपगात्" अर्थात् अन्नदान से, 'गृहाद्वा'—अर्थात् गृहस्थ धर्म या परोपकारादि द्वारा, 'छन्दसा'—वेद अभ्यास द्वारा, जल-अग्नि एवं सूर्य आदिकी उपासना द्वारा—यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यहां 'ब्रह्मत्व' विशेषण द्वारा जीव स्वरूप का जो सूक्ष्मत्वादि विशिष्ट ज्ञान है निरस्त हो गया है--ऐसा जानना चाहिए। —ऐसा श्रीजड़भरतजी ने राजा रहूगण को उपदेश दिया था।

सारांश यह है कि विशुद्ध परिपूर्ण अद्वय ज्ञान तत्व स्वरूप श्रीवासुदेव भगवान्, तपस्या, वैदिकधर्मानुष्ठान, दान, वेदाभ्यास तथा अन्यान्य देवी-देवताओं की उपासनादि या और किसी साधन से प्राप्त नहीं होते। वे केवल महत्-पुरुषों की चरणरज सेवन से, या उनकी कृपा से ही प्राप्त होते हैं ॥१८५॥

१८६–तदेवं सत्सङ्ग एव तत्साम्मुख्यद्वारमित्युक्तम्। ते च सन्तस्तत्सम्मुखा एवात्र गृह्यन्ते, न तु वैदिकाचारमात्रपराः, अनुपयोगित्वात्। तत्र यादृशः सत्सङ्गस्तादृशमेव साम्मुख्यं भवतीति वक्तुं तेषु सत्सु ये महान्तस्तेषां द्वैविध्यमाह सार्द्धेन (भा० ५-५-२ व ३)—

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥५३८॥

ये समचित्ता निर्विशेषब्रह्मनिष्ठास्ते महान्तस्तेषां शीलमाह—प्रशान्ता इत्यादि। महद्विशेषमाह—ये वेति। वा–शब्दः पक्षान्तरे। उत्तरपक्षत्वादस्यैव

श्रैष्ठयम्। मयि कृतं सिद्धं यत् सौहृदं प्रेम तदेवार्थः परमपुरुषार्थो येषां तथाभूता ये ते महान्त इति पूर्वेणान्वयः। यतो मयि सौहादार्थस्तत एव देहम्भरवार्त्तिकेषु विषयवार्त्तानिष्ठेषु जनेषु तथा गेहेषु जायात्मज-बन्धुवर्गयुक्तेषु न प्रीतियुक्ताः, किन्तु यावदर्थाः यावानर्थः श्रीभगवद्भक्तजनानुरूपं प्रयोजनं तावानेवार्थो धनं येषां तथाभूता इत्यर्थः। उभयोर्महत्त्वञ्च महाज्ञानित्वात् महाभागवतत्वाच्च, न तु द्वयोः साम्याभिप्रायेण (भा० ६।१४।५)—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः" इत्याद्युक्तेः। अत्र ज्ञानमार्गे ब्रह्मानुभविनो महान्तः, भक्तिमार्गे लब्धभगवत्प्रेमाणो महान्त इति लक्षणसामान्यमिति ज्ञेयम्॥ श्रीऋषभदेवः स्वपुत्रान्॥

इस प्रकार सत्सङ्ग को ही भगवत्-साम्मुख्य का द्वार स्वरूप कहा गया है। यहां सन्त या सत्पुरुष वे ही अभिप्रेत हैं जो श्रीभगवान् की सन्मुखता युक्त हैं, वे पुरुष नहीं जो केवल वैदिक आचार में लगे हुए हैं। क्योंकि वैदिक-आचरण भगवत्-प्राप्ति में अनुपयोगी हैं। जिसको जैसा सत्सङ्ग प्राप्त होता है उसको उसी प्रकार का ही साम्मुख्य प्राप्त होता है—यह बतलाने के लिए उन महत् पुरुषों में जो महान् है, उनके दो प्रकार के भेद श्रीभागवत (५-५-२ व ३) में इस प्रकार कहे गए हैं—

महत्-पुरुष वे हैं जो सम-चित्त, प्रशान्त, क्रोधहीन, सबके सुहृद एवं सदाचार युक्त हैं। अथवा वे महत्-पुरुष हैं जो मुझ परमात्मा ही के प्रेमको परम पुरुषार्थ मानते हैं। जो केवल बिषियों की चर्चा करने वाले हैं, उन लोगों में तथा स्त्री-पुत्र और धनादि युक्त घरों में जिनकी अरुचि है तथा जीवन रक्षा के उपयुक्त पदार्थ में भी जो अधिक कामना नहीं रखते, वे महत् पुरुष हैं॥५३८॥

जो समचित्त हैं, वे निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ महत्-पुरुष हैं, प्रशान्तादि गुणों द्वारा उनके स्वभाव का यहां वर्णन करते हैं—"ये वा" इत्यादि श्लोक द्वारा विशेष महत् पुरुषों के सम्बन्ध में कहते हैं। वा-शब्द यहां पक्षान्तर का सूचक है। उत्तर-पक्ष में इनका उल्लेख होने से इनकी श्रेष्ठता निरूपण की गई है। मुझमें कृत अर्थात् सिद्ध है सौहृद अर्थात् प्रेम, अर्थ अर्थात् परम पुरुषार्थ जिनका वे महत् पुरुष हैं। यहां 'तत्'—शब्द के साथ पूर्वोक्त महत्-शब्द का अन्वय करना होगा। क्योंकि वे मेरे विषय में सिद्ध प्रेम को परम पुरुषार्थ मानते हैं, इसलिए विषय वार्त्ता निष्ठ व्यक्तियों के प्रति एवं स्त्री, पुत्र—बन्धु वान्धवयुक्त घरों में उनकी प्रीति नहीं। किन्तु जितना धनादि श्रीभगवान् के भजन के लिए प्रयोजनीय है उतना ही वे रखते हैं। दोनों का ही महत्व स्वीकृत है, एक का महाज्ञानी—निर्विशेष ब्रह्म निष्ठ होने से और दूसरों का महाभगवत् भक्त होने से, किन्तु दोनों का समान अभिप्राय से महत्व नहीं है। क्योंकि श्रीभागवत (६।१४।५) में कहा गया है कि 'जो जीवन-मुक्त हैं तथा जो सायुज्य मुक्ति रूप सिद्धि को प्राप्त करने वाले हैं अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ हैं—ऐसे कोटि व्यक्तियों में भी श्रीनारायण

का सेवापरायण प्रशान्तचित्त भक्त सुदुर्लभ है अर्थात् श्रेष्ठ है। (श्लोक ३७४ द्रष्टव्य)। अतः ज्ञानमार्ग से ब्रह्मानुभव करने वाले पुरुष भी महान्त हैं तथा भक्तिमार्ग से भगवत् प्रेम प्राप्त करने वाले व्यक्ति भी महान्त अर्थात् महत् पुरुष हैं—यह महत् पुरुषों का सामान्य लक्षण ही जानना चाहिये। —ऐसा श्रीऋषभदेव ने अपने पुत्रों के प्रति कहा है।

गोपाल-तोषणी टीका—सारांश यह है कि महत् पुरुषों का सङ्ग ही भगवत् साम्मुख्य का कारण है। किन्तु महत् पुरुष भी निष्ठा भेद से दो प्रकार के हैं। १. निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ महत् पुरुष तथा २. भगवत्-निष्ठ महत् पुरुष। इन दोनों में जिस प्रकार के महत् पुरुष का सङ्ग या कृपा प्राप्त होगी, उसी प्रकार का साम्मुख्य प्राप्त होगा ब्रह्मनिष्ठ महत्पुरुषों के सत्सङ्ग से निर्विशेष ब्रह्म साम्मुख्य प्राप्त होगा और भगवत्निष्ठ महत् पुरुषों के सङ्ग से श्रीभगवान् का साम्मुख्य प्राप्त होगा। वेद विधानानुसार आचरणशील भी महत् पुरुष होते हैं, किन्तु उनका सङ्ग पर-तत्व वस्तु के साम्मुख्य में उपयोगी नहीं है। उससे परतत्व की प्राप्ति न होकर स्वर्गादि भोग-सुखों की कामना प्रबल हो जाती है और वही प्राप्त होते हैं जो नश्वर हैं।

ब्रह्मनिष्ठ तथा भगवत्निष्ठ महत् पुरुषों में भगवत्निष्ठ महत् पुरुष ही श्रेष्ठ हैं, ऐसा श्रीऋषभदेव जी के वचनों से निरूपण किया गया है। अगले अनुच्छेद में इस विषय की विस्तृत आलोचना करते हैं॥१८६॥

१८७—अत्र चैवं विवेचनीयम्, तत्तन्मार्गे सिद्धा महान्तो द्विविधा दर्शिताः। अत्र च ज्ञानिसिद्धाः (भा० ११।१३।३६)—देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा, सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् इत्यादौ वर्णिताः। अथ भक्तसिद्धास्त्रिविधाः;—प्राप्तभगवत्पार्षददेहाः, निर्धूतकषायाः, मूर्च्छितकषायाश्च। यथा श्रीनारदादयः, श्रीशुकदेवादयः, प्राग्जन्मगतनारदादयश्च। (भा० १।६।२९)—

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनूम्।
प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥५३९॥

इत्यादौ, (भा० १२।१२।६८)—"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः" इत्यादौ (भा० १।६।२२)—

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥५४०॥

इत्यादौ च प्रसिद्धेः, श्रीनारदस्य पूर्वजन्मनि स्थितकषायस्य प्रेम वर्णितं स्वयमेव—(भा० १।६।१८)—

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥५४१॥इति।

श्रीभरत एवात्रोदाहरणीयः। तस्य च भूतपिपालयिषारूपः प्रारब्धालम्बनः सात्त्विककषायो निगूढ़ आसीत्, प्रेमा च वर्णित इति। तदेवं समानप्रेम्नि त्रिविधे पूर्वपूर्वाधिक्यं ज्ञेयम्। क्वचित् स्थितेऽपि प्राकृतदेहादित्वे यदि प्रेम्णः परिमाणतः स्वरूपतो वाधिक्यं दृश्यते, तदा प्रेमाधिक्येनैवाधिक्यं ज्ञेयम्। तच्च भजनीयस्य भगवतोऽंशांशित्वभेदेन भजतश्च दास्यसख्यादिभेदेन स्वरूपाधिक्यं प्रेमांकुरप्रेमादिभेदेन परिमाणाधिक्यं च प्रीतिसन्दर्भे विवृत्य दर्शयिष्यामः। साक्षात्कार-मात्रस्यापि यद्यपि पुरुष-प्रयोजनत्वम्, तथापि तस्मिन्नपि साक्षात्कारे यावान् यावान् श्रीभगवतः प्रियत्वधर्मानुभवस्तावांस्तावानुत्कर्षः। निरुपाधिप्रीत्यास्पदतास्वभावस्य प्रियत्वधर्मानुभवं विना तु साक्षात्कारोऽप्यसाक्षात्कार एव। माधुर्य्यं विना दुष्टजिह्वया खण्डस्येव। अतएवोक्तं श्रीऋषभदेवेन (भा० ५।५।६)—"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्" इति। ततः प्रेमतारतम्येनैव भक्त-महत्तारतम्यं मुख्यम्। अतएव "मयीशे कृतसौहृदार्थाः" इत्येव तल्लक्षणत्वेनोक्तम्। यत्र तु प्रेमाधिक्यं साक्षात्कारः कषायादि-राहित्यादिकमप्यस्ति, स परमो मुख्यः। तत्रैकैकाङ्गवैकल्ये न्यूनन्यून इति ज्ञेयम्। तदेवम् (भा० ५-५-३)—"ये वा मयीशे" इत्यादिना, ये उक्तास्ते तु प्राप्तपार्षददेहा न भवन्ति, तथा विषयवैराग्येऽपि गूढ़संस्कारवन्तोऽपि सम्भवन्ति। ततस्तद्विवेचनाय प्रकरणान्तरमुत्थाप्यते। यथा—राजोवाच, (भा० ११-२-४४)—

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥५४२॥

अथ अनन्तरं भागवतं ब्रूत। तज्ज्ञानार्थं स च नृणां मध्ये यद्धर्मो यत्स्वभावस्तं स्वभावं ब्रूत; यथा च स आचरति अनुतिष्ठति तदनुष्ठानं ब्रूत; यद्ब्रूते तद्वचनञ्च ब्रूत; इति मानस-कायिक-वाचिकलिङ्गपृच्छा। ननु पूर्वं (भा० ११-२-३९)—शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः इत्यादिना ग्रन्थेन तत्तल्लिङ्गं श्रीकविनैवोक्तं ? सत्यम्, तथापि पुनस्तदनुवादेन तेषु लिङ्गेषु यैर्लिङ्गैः स भगवत्-प्रियो यादृश उत्तम-मध्यमतादिभेद-विविक्तो भवति, तानि लिङ्गानि विविच्य ब्रूतेत्यर्थः ॥

अब ब्रह्मनिष्ठ या ज्ञानसिद्ध महत् पुरुष तथा भगवन्निष्ठ महत् पुरुषों के विषय में विवेचना करते हैं—उपर्युक्त अनुच्छेद में दो प्रकार के सिद्ध महत् पुरुषों का वर्णन किया गया था।

ज्ञानी-सिद्ध महत् पुरुषों के विषय में श्रीभागवत (११।१३।३६) में उल्लेख है—जैसे मदिरा पीकर मदान्ध पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया है, वैसे ही ज्ञानी-सिद्ध पुरुष, जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है, दैववश कहीं आया या गया है, उस नश्वर शरीर सम्बन्धी सब बातों पर दृष्टि नहीं डालता।[1]

१—देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरा-मदान्धः॥

भक्त-सिद्ध तीन प्रकार के हैं—१. **भगवत् पार्षद - देह प्राप्त**, २. **निर्धूत कषाय** एवं ३. **मूच्छित-कषाय**। श्रीनारद, श्रीशुकदेवादि तथा पूर्वजन्मगत नारदादि —ये तीनों क्रमशः तीन प्रकार के भक्तसिद्ध महत् पुरुषों के दृष्टान्त स्वरूप हैं। श्रीभागवत् (१।६।२६) में श्रीनारद जी ने कहा है कि—

मुझे शुद्ध सत्वमय भगवत्-पार्षद देह प्राप्त होने का समय आने पर मेरे प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने के कारण मेरा पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया ।।५३२।।

इस श्लोक में (१) **भगवत्-पार्षद देह प्राप्त** भक्तसिद्ध श्रीनारद जी के विषय में कहा गया है।

श्रीभागवत (१२।१२।६८) में **निर्धूत-कषाय** श्रीशुकदेव जी के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—श्रीशुकदेव जी आत्म-आनन्द में ही निमग्न थे, इसलिए उनकी भेद दृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी श्रीकृष्ण की मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत् के प्राणियों पर कृपा करके भगवत् तत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस महा-पुराण श्रीभागवत को प्रकटित किया, मैं उन्हीं सर्व पापहारी व्यासनन्दन श्रीशुकदेव जी को नमस्कार करता हूँ।[2]

श्रीभागवत (१।६।२२) में वर्णित **मूच्छित-कषाय** श्रीनारद जी का दृष्टान्त उल्लेख करते हैं—

श्रीभगवान् ने कहा—हे वत्स ! खेद है कि इस जन्म में तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी वासनाएँ पूरी तरह शान्त नहीं हो गई हैं; उन कुयोगियों को मेरा दर्शन दुर्लभ है ।।५४०।।

इस प्रकार तीन प्रकार के भक्तसिद्ध पुरुषों का प्रसङ्ग प्रसिद्ध ही है। पूर्वजन्म में विषय-वासना की स्थिति में श्रीनारद जी ने अपने प्रेम को स्वयं ही श्रीभागवत (१।६।१८) में वर्णन किया है—

हे व्यासजी ! उस समय प्रेम-भाव के अतिशय उद्रेक से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्द की बाढ़ में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और अपने ध्येय वस्तु का भी भान न रहा ।।५४१।।

२—स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिर-
लीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं
व्यासमूनुं नतोऽस्मि ।।

इस विषय में श्रीभरत का उदाहरण भी युक्ति-युक्त है। उनका प्राणियों को पालन करने की इच्छा रूप सात्विक कषाय (राग); जो उनकी प्रारब्ध का आलम्ब था, उन में छिपा हुआ था। इस अवस्था में उनमें प्रेम भी विद्यमान था-यह भी कहा गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों में समान या समजातीय प्रेम होते हुए भी एक का दूसरे से और दूसरे का तीसरे से अधिक प्रेम जानना चाहिए। प्राकृत-शरीर होने के कारण किसी में यदि प्रेम परिमाण में या स्वरूप में अधिक दीखता है, तो प्रेम की अधिकता से उस व्यक्ति का श्रेष्ठत्व नहीं समझना चाहिये। भजनीय भगवान् के अंश-अंशी भेद से तथा भजनकारी के दास्य, सख्य आदि भेद से उस व्यक्ति का स्वरूप वैशिष्ट्य होता है तथा प्रेमांकुर—रति एवं स्नेहादि के भेद से प्रेम का परिमाण अधिक होता है।—"इस विषय को मैं 'प्रीति-सन्दर्भ' में विस्तार-पूर्वक प्रदर्शित करूँगा"—(ऐसा ग्रन्थकार श्रीपाद जीवगोस्वामी कहते हैं)

यद्यपि भगवत् साक्षात्कार की ही मनुष्य के लिए प्रयोजनीयता है, तथापि उस साक्षात्कार में श्रीभगवान् की प्रीति-धर्म का जितना अधिक रूप से अनुभव होता है, उतना ही वहां उत्कर्ष होता है। पित्त रोग से दूषित जिह्वा द्वारा मिश्री के माधुर्य की अनुभूति न होने से जैसे उसका खाना न खाने के तुल्य होता है, उसी प्रकार निरुपाधिक प्रेम के स्वभावतः आस्पद श्रीभगवान् के प्रियत्व धर्म के अनुभव बिना साक्षात्कार भी असाक्षात्कार के तुल्य है। इसलिए श्रीऋषभदेव ने (श्री भा० ५।५।६) में कहा है—

अविद्या के कारण भगवत् दासत्व स्वरूप के ढक जाने से अन्यान्य कामनाओं के रहने से मन मनुष्य को कर्मों में प्रवृत करता है, परन्तु जब तक मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तब तक देह-बन्धन नहीं छूट सकता।[1] इसलिए प्रेम के तार-तम्यानुसार भक्तों की महत्ता के तारतम्य की प्रमुखता है। इसलिए "मयीशे कृतसौहृदार्थाः"—(मुझ में प्रेम स्थापन कर जो उस प्रेम को पुरुषार्थ जानते हैं) इत्यादि श्लोक (५३८) में उस के लक्षण कहे गए हैं। जिसमें प्रेम की अधिकता है, साक्षात्कार है तथा कषायादि नहीं हैं—वह परम मुख्य है। इस प्रकार किसी एक-एक अङ्ग की कमी रहने से साक्षात्कार आदि की न्यूनता तथा उस न्यूनता से भक्त की महत्ता में भी न्यूनता जाननी चाहिए।

इस प्रकार (भा० ५।५।३) में "ये वा मयीशे" (श्लोक ५३८) में जिन को कहा गया है वे भगवत् पार्षद देह प्राप्त भक्त नहीं हैं। और विषयों में वैराग्य होते हुए भी गूढ़ भाव से—छिपे रूप से विषय संस्कार उन में वर्त्तमान हैं। इस विषय की विवेचना के लिए दूसरा प्रकरण उठाते हैं, जैसे श्रीभागवत् (११।२।४४) में राजा निमि ने कहा है—

१—एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामि विरचित

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत-पारायण

★

रिटायर्ड कैप्टन श्रीनाथूराम जी मिश्र के हम अति आभारी हैं, जिन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृत के नवाह तथा मास पारायण के विश्राम स्थलों को यहाँ अद्धृत करने की शुभ प्रेरणा प्रदान की।

श्रीचैतन्यचरितामृत, अन्त्यलीला प्रथम संस्करण (सन् १९६५) के पृष्ठ ४६८ पर इस विषय को प्रकाशित किया जा चुका है। परन्तु इस बीचमें आदिलीला मध्यलीला तथा अन्त्यलीला के प्रथम संस्करण समाप्त होकर द्वितीय एवं तृतीय संस्करण प्रकाशित किए जा चुके हैं। यह स्वाभाविक है कि द्वितीय संस्करणों में पृष्ठों की संख्या में व्यतिक्रम आ गया है। यहाँ तीनों खण्डों के द्वितीय संस्करणों के अनुसार पृष्ठ संख्या दी जा रहीं है। विश्राम एवं परिच्छेद संख्या ज्यों की त्यों है। आदिलीला द्वितीय संस्करण उपलब्ध नहीं है। तीसरा संस्करण शीघ्र उपलब्ध होने जा रहा है। अतः उसके परिच्छेद एवं पयारों के आधार पर पाठक पृष्ठ संख्या देख सकेंगे।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य के पञ्चशती आविर्भाव-उपलक्ष्य में श्री श्रीचैतन्यचरितामृत का पारायण-नियम अपने आपमें एक महत् आयोजन है।

नवाह-पारायण

विश्राम	लीला-परिच्छेद	पृष्ठ संख्या	पयार-श्लोक	संख्या योग
१.	आदि परि० ६	२१२	पयार ५० तक	१२८१
२.	मध्य० परि० १	४१	पयार २७३ तक	१३१०
३.	मध्य० परि० ८	२३६	श्लोक ३५	१२७१
४.	मध्य० परि० १३	३८०	प० ९२ तक	१२०७
५.	मध्य० परि० १८	५३८	प० २१९ तक	११६७
६.	मध्य० परि० २३	७४४	प० ६९ तक	१२९१
७.	अन्त्य परि० ३	११०	प० २६९ तक	१३०९
८.	अन्त्य परि० १०	२५२	प० १५९ तक	१३१९
९.	अन्त्य परि० २०	४४८	आरती तक	१२४१

★

मास-पारायण

विश्राम	लीला	परिच्छेद	पृष्ठ संख्या	पयार-श्लोक	संख्या-योग
१.	आदि	परि० ४	७९	पयार २४ तक	३६५
२.	आदि	परि० ५	१४५	पयार ११६ तक	३८३
३.	आदि	परि० ७	१९२	पयार १६४ तक	३९३
४.	आदि	परि० ११	२३५	पयार ५८ तक	३६४
५.	आदि	परि० १५	२७१	पयार ३१ तक	३५३
६.	आदि	परि० १७	३३४	आरती — तक	४४७
७.	मध्य	परि० २	६२	पयार ८४ तक	३८१
८.	मध्य	परि० ४	१०३	पयार २१० तक	४३१
९.	मध्य	परि० ६	१५८	पयार २५८ तक	४४२
१०.	मध्य	परि० ८	२४८	पयार १६६ तक	३६३
११.	मध्य	परि० ९	३०१	पयार २५१ तक	३८५
१२.	मध्य	परि० ११	३३९	श्लोक १० तक	३७३
१३.	मध्य	परि० १२	३७०	पयार २१९ तक	३६२
१४.	मध्य	परि० १४	४१५	पयार १६६ तक	३७९
१५.	मध्य	परि० १५	४५६	पयार २९६ तक	३९१
१६.	मध्य	परि० १७	४९९	पयार ९९ तक	३९३
१७.	मध्य	परि० १८	५३८	पयार २१९ तक	३६१
१८.	मध्य	परि० २०	५८७	पयार ९७ तक	३५७
१९.	मध्य	परि० २१	६६४	पयार १२७ तक	४४९
२०.	मध्य	परि० २३	७४४	पयार ६८ तक	३२५
२१.	मध्य	परि० २४	८१८	पयार २६४ तक	३५९
२२.	मध्य	परि० २५	८८०	प्रार्थना — तक	२८२
२३.	अन्त्य०	परि० २	६९	पयार १७० तक	३९५
२४.	अन्त्य०	परि० ४	१२२	पयार ९८ तक	३७६
२५.	अन्त्य०	परि० ६	१६९	पयार ९८ तक	३९९
२६.	अन्त्य०	परि० ७	२१२	पयार १५७ तक	४००
२७.	अन्त्य०	परि० १०	२५२	पयार १५९ तक	४१७
२८.	अन्त्य०	परि० १३	२८७	पयार १३८ तक	४०२
२९.	अन्त्य०	परि० १७	३५६	पयार ६८ तक	४४४
३०.	अन्त्य०	परि० २०	४४८	आरती — तक	३९५

साधक ! सावधान !!

•

• साधक को साधना से पहले अपने स्वरूप का निर्णय करना चाहिये ?

* निज-स्वरूप के जान लेने पर कर्त्तव्य या साधन का आरम्भ होता है।

• साधन से साधक क्या प्राप्त करना चाहता है ? उस साध्य या प्राप्य-वस्तु का शास्त्रीय-निर्णय आवश्यक है।

* साध्य को क्यों प्राप्त करना चाहता है, उस प्रयोजन को भी निर्धारण करना होगा।

• साधक, साधन (उपासना) तथा साध्य (उपास्य तत्त्व) के निर्णय करने में एक मात्र वेद - पुराण - श्रुति - स्मृति तथा पञ्चम वेद—श्रीमद्भागवत का आश्रय लेना अनिवार्य है।

*. साधक या जीव के स्वरूप का वास्तविक परिचय शास्त्र ही प्रदान करते हैं।

• समस्त शास्त्रों ने, समस्त वैष्णवाचार्यों ने, भक्त-सन्तों ने, साधक या जीव को स्वरूपत: श्रीभगवान् का दास या सेवक निर्णय किया हैं।

* श्रीकृष्ण, श्रीराम-श्रीनारायणादि समस्त भगवत् स्वरूप साध्य या उपास्य हैं।

• सर्वावतारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वोत्तम उपास्य हैं।

* श्रीवृन्दावनीय समस्त लीलाएँ नित्य एवं ध्येय हैं।

• व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण नराकृति ब्रह्म ही परम उपास्य तत्त्व हैं।

* श्रीमद्भागवत-श्रुति-स्मृति पुराणादि अनुमोदित उपासना ही सफल एवं वास्तव उपासना है।

• जो साधना या उपासना शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, वह एक-मात्र वञ्चना है।

* जो उपासना श्रीवैष्णवाचार्यों द्वारा अनुमोदित नहीं है, वह सदा त्याज्य है। वह आत्यन्तिक श्रेयस्कर नहीं है।

• कोई भी पारमार्थिक वाणी, वचन यदि श्रुति-स्मृति-पुराण-भागवत-शास्त्र पर आधारित नहीं है, तो वह अमान्य है, वह किसी भगवदवतार के ही क्यों न हों।

* जिस उपासना में श्रीराम-कृष्णादि का सम्बन्ध नहीं, वह उपासना निकृष्ट है।

अनुभव बानी सांची

□ श्री वन जी आ० कवि

साधु अनुभव बानी सांची।
बिना साँच के सोचे रे मनुवा, सोई मति-अति काँची॥
मन मारे चित्त मारे कोई, काम क्रोध रह्यो जाँची।
मूल बिना सब शूल है साधु. पल-पल मति है नाँची॥
पद-मद में सब गाथा गाई, अपनी बीति ना बाँची।
निरख-परख रस 'जीवन' चाख्यो, सोई रह्यो सङ्ग राँची॥

❀ तेरा दीवाना हो जाए ❀

□ श्रीमती कलावती भटनागर

दिलरुबा दिल जो मेरा, तेरा दिवाना हो जाए।
तेरे तक आने का बस, इक बहाना हो जाए॥

मुस्कुरा कर जो मुझे, देख लो मेरी तरफ।
बस तुम्हीं अपने बनो, और सब बिगाना हो जाय॥

तुम मुझे प्रेम भरी, एक नजर से देख लो।
मेरे जीने का भी, कुछ रोज ठिकाना हो जाए॥

दो घड़ी भी के लिये आ जाओ जो तुम मेरे, पास।
मेरा भी तेरे यहाँ फिर आना, जाना हो जाए॥

जो तेरे प्रेम के कुछ फिकरे जबाँ से निकलें।
"कला" गाने के लिये, प्रेम का गाना हो जाए॥

★

श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय की

अनुपम रचना

श्रीप्रेमभक्ति-चन्द्रिका

छोटी सी, किन्तु बड़े काम की, प्रेम पथ की पोथी
व्रज - भक्ति से परिपूर्ण, सिद्धों की सार वाणी
प्रकाशित हो चुकी है। आज ही मँगा कर
आनन्द लीजिए ! न्यौ० २) रुपये

पोस्टेज पृथक्

श्रीमद्भगवद्गीता (चतुर्थोऽध्याय)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

सारार्थवर्षिणी टीका—तेष्वपि मध्ये ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति लक्षणादपि द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ब्रह्माग्नावित्यनेनोक्तो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् ; कुतः ? ज्ञाने सति सर्व्वं कर्म्माखिलमव्यर्थं सद् परिसमाप्यते समाप्तीभवति—ज्ञानानन्तरं कर्म्म न तिष्ठतीत्यर्थः ॥३३॥

अनुवाद - हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है ॥३३॥

तात्पर्य—उक्त सभी यज्ञों में ब्रह्मार्पण ब्रह्महविः (४।२४) लक्षण वाले द्रव्यमय, यज्ञों से 'ब्रह्माग्नौ' (४।२५) वाला ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ है; क्योंकि सभी कर्म ज्ञान होने पर ही सार्थक होकर परिसमाप्त (पूर्ण) हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान के बाद कर्म नहीं रहता ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

सारार्थवर्षिणी टीका—तज्ज्ञानप्राप्तये प्रकारमाह—तदिति । प्रणिपातेन ज्ञानोपदेष्टरि गुरौ दण्डवन्नमस्कारेण, "भगवान् ! कुतोऽयं मे संसारः, कथं निर्वत्तिष्यते" इति परिप्रश्नेन च, सेवया तत्परिचर्य्यया च, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतेः ॥३४॥

अनुवाद—इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरुषों को भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम कर, उनकी सेवा कर एवं उनसे निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जान; वे तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥३४॥

तात्पर्य—तत्त्व ज्ञान प्राप्ति का उपाय कहते हैं—हे अर्जुन ! ज्ञान के उपदेशक गुरु को दण्डवत् नमस्कार कर। "हे भगवन् ! मुझे यह संसार - बन्धन किस हेतु है और मैं इससे कैसे मुक्त होऊँगा ?"—इत्यादि प्रश्न उनसे कर तथा उनकी परिचर्या कर । श्रुति भी कहती है—"भगवत तत्त्व विज्ञान के लिये समिधा हाथ में लेकर वेद तत्त्व के ज्ञाता श्रोत्रिय गुरु के पास जाना चाहिए। ॥मु० १।२।१२॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्थो मयि ॥३५॥

सारार्थवर्षिणी टीका—ज्ञानस्य फलमाह-यज्ज्ञात्वेति सार्द्धैस्त्रिभिः। यज्ज्ञानं देहादतिरिक्ति एवात्मेति लक्षणं ज्ञात्वा एवं मोहमन्तःकरणधर्म्मं न प्राप्स्यसि

येन च मोह-विगमेन स्वाभाविकनित्यसिद्धात्मज्ञानलाभादशेषाणि भूतानि मनुष्यति-र्य्यगादीन्यात्मनि जीवात्मन्युपाधित्वेन स्थितानि पृथक् द्रक्ष्यसि । अथो मयि परम-कारणे च कार्य्यत्वेन स्थितानि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

अनुवाद–हे पाण्डव ! उस तत्त्व ज्ञान को जानकर तू फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा सम्पूर्ण प्राणियों के एक जीवात्मतत्त्व में अवस्थित एवं परमकारण रूप भगवत्-स्वरूप मुझमें अवस्थित देखेगा ॥३५॥

तात्पर्य—उस तत्त्व ज्ञान का फल अगले साढ़े तीन श्लोकों में कहते हैं-आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है—उस तत्त्व ज्ञान से तू ऐसा जान सकेगा। फिर अन्त:करण के धर्म मोह को तू प्राप्त नहीं होगा। मोह के दूर होने पर तुम्हें स्वाभाविक नित्य सिद्ध आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा। फिर तू सम्पूर्ण मनुष्य-तिर्यक् आदि प्राणियों को जीवात्मा में उपाधि रूप से स्थित पृथक् देखेगा और परम-कारणभूत मुझमें उन्हें कार्य रूप से अवस्थित देखेगा ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सारार्थवर्षिणी टीका—ज्ञानस्य माहात्म्यमाह—अपि चेदिति । पापिभ्यः पापकृद्भ्योऽपि सकाशात् यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि, तथापि अत्रैतावत्पाप-सत्त्वे कथमन्तःकरणशुद्धिः ? तदभावे च कथं ज्ञानोत्पत्तिः ? नाप्युत्पन्नज्ञानस्यैतद्-दुराचारत्वं सम्भवेदतोऽत्र व्याख्या श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादानाम्—"अपि चेदित्य-सम्भाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न सम्भवत्येव, तथापि ज्ञान-फलकथनायाभ्युपेत्योच्यते"इत्येषा ॥३६॥

अनुवाद—यदि तू समस्त पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञान रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण पापों को अनायास पार कर जायगा ॥३६॥

तात्पर्य - श्रीभगवान् ने कहा—पापियों में यदि तू सर्वाधिक पाप करते वाला भी है, तो भी तत्त्वज्ञान से उन समस्त पापों से तू मुक्त हो जायगा ? यहाँ एक शङ्का उठती है—पापों के रहते हुए अन्त:करण की शुद्धि कभी नहीं हो सकती और अन्त:करण के शुद्ध हुए बिना तत्त्वज्ञान का उत्पन्न होना ही असम्भव है। अतः दुराचारी एवं पापी में उस ज्ञान की सम्भावना कैसे ? और ज्ञान के हो जाने पर फिर पाप कैसे ?

श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती ने इसका समाधान करते हुए कहा है—यहाँ असम्भावित अभ्युपगम प्रदर्शन रीति अपनाई गई है। यह बात महापापी के निस्तार के उपाय रूप में नहीं कही गई है। तत्त्वज्ञान के रहते हुए पापों का रहना असम्भव ही है, तो भी ज्ञान फल को बताने के लिए असम्भव विषय का सम्भव रूप में उल्लेख किया गया है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

सारार्थवर्षिणी टीका–शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नं तु ज्ञानं प्रारब्धभिन्नं कर्म्म-मात्रं विनाशयतीति सदृष्टान्तमाह – यथेति । समिद्धः ज्वलितः ॥३७॥ इह तपो-योगादियुक्तेषु मध्ये ज्ञानेन सदृशं पवित्रं किमपि नास्ति । तज्ज्ञानं न सर्व्वसुलभं; किन्तु योगेन निष्कामकर्म्मयोगेन सम्यक् सिद्ध एव, न त्वपरिपक्वः, सोऽपि कालेनैव, न तु सद्यः । आत्मनि स्वस्मिन् स्वयं प्राप्तं विन्दति, न तु संन्यासग्रहण-मात्रेणैवेति भावः ॥३८॥

अनुवाद–हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूहको भस्म भूत कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मीभूत कर देता है। इसलिये इस संसार में ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है। निष्काम कर्म योग से समय पाकर भली प्रकार सिद्ध व्यक्ति अपने आप ही उसको प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य–शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति में उत्पन्न होकर कर्मों का नाश कर देता है, किन्तु प्रारब्ध कर्म को छोड़कर। प्रारब्ध कर्म ज्ञान से नष्ट नहीं होते। यहाँ तपस्या, योग आदिकों में ज्ञान के समान कुछ पवित्र नहीं है। किन्तु वह ज्ञान सर्व-सुलभ नहीं है। निष्काम कर्मयोग के सम्यक् सिद्ध होने पर तथा परि-पक्वता आ जाने पर, तत्काल नहीं, वह भी आत्मा में अपने आप प्राप्त होता है, केवल संन्यास ग्रहण मात्र से प्राप्त नहीं होता।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

सारार्थवर्षिणी टीका–तर्हि कीदृशः सन् कदा प्राप्नोतीत्यत आह—'श्रद्धा' निष्कामकर्म्मणैवान्तःकरणशुद्ध्यैव ज्ञानं स्यादिति शास्त्रार्थे आस्तिक्यबुद्धि-स्तद्वानेव; तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठः, तादृशोऽपि यदा संयतेन्द्रियः स्यात्तदा परां शान्ति संसार-नाशम् ॥३९॥

अनुवाद—जितेन्द्रिय एवं तत्पर होकर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञानको प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्तकर लेता है ॥३९॥

तात्पर्य—किस प्रकार और किस समय वह ज्ञान को प्राप्त करता है ? —श्रद्धावान् होने पर अर्थात् निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर —आस्तिक बुद्धि वाला होने पर। ज्ञान प्राप्त होता है ; वह भी शास्त्र वचनों में, आस्तिक बुद्धि वाला होने पर। तत्परः अर्थात् ज्ञान के अनुष्ठान में जो निष्ठावान् हो, और जितेन्द्रिय भी हो तब उसे ज्ञान प्राप्त होता है और फिर वह परा शान्ति को प्राप्त करता है अर्थात् तब उसका संसार-बन्धन निवृत्त होता है ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

सारार्थवर्षिणी टीका--ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीताधिकारिणमाह- अज्ञः पश्वादिवन्मूढ़ः ; अश्रद्दधाना शास्त्रज्ञानवत्त्वेऽपि नानावादिनां परस्परविप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा न क्वापि विश्वस्तः ; श्रद्धावत्त्वेऽपि संशयात्मा--ममैतत् सिध्येन्नवेति सन्देहाक्रान्तमतिः ; तेष्वपि मध्ये संशयात्मानं विशेषतो निन्दति—नायमिति॥४०॥

अनुवाद--अज्ञ, श्रद्धा-रहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ-पथ से भ्रष्ट हो जाता है। उस में संशययुक्त पुरुष के लिए न इस लोक में सुख है न परलोक में ॥४०॥

तात्पर्य--ज्ञान अधिकारी के बाद उसके अनधिकारी का परिचय देते हैं--अज्ञ अर्थात् पशु आदि के समान मूढ़ एव अश्रद्दधान अर्थात् शास्त्र ज्ञानवान् होने पर भी अनेक वादों के बीच परस्पर विरोध देखकर किसी में विश्वास न करने वाला और श्रद्धा होने पर भी संशयात्मा अर्थात् मुझे इसमें सिद्धि मिलेगी या नहीं मिलेगी—इस प्रकार सन्देहयुक्त पुरुष ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। उन सब में सन्देहवान् पुरुष अति निन्दनीय है, उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

सारार्थवर्षिणी टीका--नैष्कर्म्म्यं त्वेतादृशस्य स्यादित्यादि-योगान्निष्काम- कर्म्म योगानन्तरमेव संन्यस्तकर्म्माणं संन्यासेन त्यक्तकर्म्माणम्, ततश्च ज्ञानाभ्यासानन्तरं छिन्नसंशयम्, आत्मवन्तं प्राप्तं प्रत्यगात्मानं कर्म्माणि न निवध्नन्ति।

अनुवाद—हे धनंजय ! निष्कामकर्म योग के द्वारा जिसने कर्म संन्यास कर दिया है और जिसके ज्ञान द्वारा संशय नष्ट हो गए हैं,—ऐसे आत्मा में अवस्थित पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ॥४१॥

तात्पर्य--इस प्रकार के व्यक्ति की ही निष्कर्मता होती है—निष्काम कर्मयोग के बाद जो संन्यास द्वारा कर्मों का त्याग कर देता है। फिर ज्ञान अभ्यास के बाद जिसके संशय मिट जाते हैं और प्रत्यक् आत्मा को जिसने प्राप्त कर लिया हो, उस व्यक्ति को कर्म नहीं बाँधते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

सारार्थवर्षिणी टीका--उपसंहरति—तस्मादिति। हृत्स्थं हृद्गतं संशयं छित्त्वा योगं निष्कामकर्म्मयोगमातिष्ठाश्रय, उत्तिष्ठ युद्धं कर्त्तुमिति भावः ॥४२॥

श्री श्रीवास पण्डित

श्रीवास की एक भतीजी थी, केवल ४ वर्ष की उसकी आयु। प्रभु ने उसे अपने पास बुलाया और कहा — 'नारायणी ! कृष्ण कहो।" इतना कहते ही वह बालिका 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर प्रेमाविष्ट हो उठी और नाचने लगी। नेत्र जलसे उसने सब आँगन ही तो तर कर दिया। श्रीवास के दास-दासी आदि जितने भी व्यक्ति घर में थे श्रीगौराङ्ग के उस प्रकाश—नृसिंह रूप के दर्शन कर कृतार्थ हो गए। श्रीवास निर्भय हो गए एवं नित्य उच्च सङ्कीर्त्तन का आयोजन करने लगे।

व्यास पूजा का अद्भुत महोत्सव श्रीवास पण्डित जी के घर में ही श्री गौराङ्ग ने मनाया, जिसमें श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीव्यासदेव के गले में डालने वाली माला श्रीमन्महाप्रभु के गले में डाल दी और श्रीमहाप्रभु ने सब को वहाँ षड़भुज रूप के दर्शन कराये।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य तथा और भी अनेक भक्त नवद्वीप आ चुके थे। श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रति श्रीवास पण्डित की अचल भक्ति थी। श्रीनित्यानन्द जी उस समय इनके घर में निवास करते और बाल्य-भाव में श्रीवास पण्डित जी को वात्सल्य रस का आस्वादन कराते। यहाँ तक कि प्रभु श्री निताई अपने हाथ से भोजन भी न करते। श्रीवास पण्डित की धर्मपत्नी श्रीमती मालिनी देवी अपने हाथ से उन्हें पुत्र की भाँति भोजन कराती थीं।

श्रीगौराङ्ग श्रीवास की प्रभु नित्यानन्द के प्रति भक्ति की परीक्षा करने के लिए एक दिन बोले—श्रीवास ! इस अवधूत नित्यानन्द को तूने अपने घर में क्यों ठहरा रखा है ? इसको जाति, कुल का भी तो पता नहीं है। तुम बड़े भोले सन्त हो। अपने जाति-कुल की यदि रक्षा चाहते हो तो अवधूत को घर से टरका दो।" प्रभु के वचन सुनकर श्रीवास हँस पड़े और बोले—

दिनेको ये तोमा भजे, सेइ मोर प्राण।
नित्यानन्द तोर देह, आमाते प्रमाण॥

प्रभो ! मेरी परीक्षा करने चले हो। सुनिए ! एक बार भी, एक दिन भी जो व्यक्ति आपका भजन-स्मरण करता है, वह मुझे प्राणों के समान प्रिय है। नित्यानन्द तो आपका शरीर है—आप एक प्राण दो देही हो—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ, मेरे पास प्रमाण है। उसके लिए आपका यह कहना ?

श्रीवास के वचन सुनते ही श्रीमहाप्रभु हुङ्कार करते हुए उठ खड़े हुए, बोले—श्रीवास ! नित्यानन्द के प्रति तुम्हारी यह निष्ठा और विश्वास। तुमने मेरे परम गोप्य निताई चान्द को पहचान लिया ! धन्य है तू। अति सन्तुष्ट हूँ मैं तुमसे। सुन मेरे बरदान को—

यदि लक्ष्मी भिक्षा करे नगरे नगरे।
तथापि दारिद्र तोर नहिवेक घरे॥
विड़ाल - कुकर - आदि तोमार बाड़ीर।
सभार आमते भक्ति हइवेक स्थिर॥

श्रीवास ! साक्षात् लक्ष्मी भी दरिद्र होकर नगर-नगर में भिक्षा माँगती डोले—यह हो सकता है। किन्तु तुम्हारे घर कभी दारिद पाँव न रख सकेगा। तुम्हारे घर के बिल्ली-कुत्ता आदि में भी मेरी भक्ति सदा स्थिर रहेगी, पुत्र-परिजनों की तो बात ही क्या ? देख, श्रीवास ! मैंने अपने निताईचांद को तेरे समर्पण किया, इसकी ठीक तरह से देखभाल करते रहो।" इतना कह प्रभु अपने निवास स्थान पर चले आए।

श्रीवास पण्डित के घर ही रात्रि में एकान्त सङ्कीर्त्तन आयोजन के लिए प्रभु ने प्रस्तावित कर रखा था। कभी-कभी श्रीचन्द्रशेखरादि भक्तों के घर भी सङ्कीर्त्तन होता था। असंख्य भक्त-पार्षद एकत्रित होते श्रीवास आँगन में। प्रभु के हुङ्कार, उच्च कृष्णनाम ध्वनि से ब्रह्माण्ड गूँज उठता। घर के कपाट बन्द कर दिए जाते, बहिर्मुख तथा पाखण्डी व्यक्ति कोई भी उस संङ्कीर्त्तन में न जा सकता था। पाखण्डी लोग चेत गए। अनेक कुवचन कहकर प्रभु की एवं विशेषतः श्रीवास की निन्दा करते। अनेक उपाय श्रीवास को कलङ्कित करने के सोचते, परन्तु निरर्थक।

श्रीवास के घर ही सात दिन तक श्रीमन्महाप्रभु की महाप्रकाश - लीला का सबने दर्शन किया था। इस प्रकार श्रीवास श्रीगौरचन्द्र के अनेक प्रकाश दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु की ऐश्वर्यमयी लीलाओं का भी ये नित्य आस्वादन करते थे। श्रीमालिनी का स्तन-पान करते और वह इन्हें अति छोटे शिशु रूप में देखतीं।

एकदिन एक कौआ आँगन में धरी घीं-बत्ती की कटोरी लेकर उड़ गया और वृक्ष पर जा बैठा, और मालिनी के आगे आने पर वह उड़ गया, जाने कहाँ चला गया। थोड़ी देर में कहीं, कटोरी फेंक कर खाली मुँह आ बैठा आँगन में श्रीवास नित्य उसमें घी-बत्ती रखते और ठाकुर सेवा में लेते। मालिनी अति भयभीत हो रही थी क्योंकि श्रीवास ठाकुर सेवा में विघ्न आने पर अति क्रोधित हो उठते थे। यह तो कृष्ण-सेवा का पात्र था। मालिनी रोने लगी। इतने में श्री निताईचान्द आ पहुंचे। रोने का कारण पूछा। प्रभु ने आश्वस्त किया। कौए की तरफ देखकर बोले– अरे ! झट लादे वह घी-बत्तो की कटोरी।" सुनते ही कौआ उड़ गया। मालिनी देवी और भी चिन्तित हो उठीं। थोड़ी देर में ही फिर कटोरी ले आया कौआ और आँगन में डाल दी। मालिती के विस्नय और हर्ष की सीमा न रही।

प्रतिदिन रात्रि को इनके घर प्रभु पधारते एवं समस्त वैष्णव मिलकर सङ्कीर्त्तन आनन्द में विभोर होते। कपाट बन्द कर दिए जाते, कोई बहिरङ्ग व्यक्ति अन्दर प्रवेश न करे। एकदिन श्रीवास पण्डित की सास दिन में घर में आईं और एक कोने में एक नारियल की टोकनी में छिपकर बैठ गईं। वह प्रभु का सङ्कीर्त्तन आनन्द देखना चाहती थी। परन्तु यह किसी को पता न लगा कि वह विशाल टोकनी के अन्दर घुसी बैठी है।

रात्रि में सङ्कीर्त्तन आरम्भ हुआ, श्रीगौराङ्ग बार-बार कहें--श्रीवास ! आज मुझे आनन्द नहीं आ रहा और न ही उल्लास। बार-बार नृत्य करने लगते हैं—और फिर कहते हैं--आज सुख नहीं मिल रहा—न जाने आज तुम्हारे घर में कौन बहिरङ्ग व्यक्ति छिपा बैठा है। सर्वान्तर्यामी हैं न, परन्तु स्पष्ट नहीं कहते। घर में सबने देखा, श्रीवास भी स्वयं घर में देख आए और कहा—प्रभो ! यहाँ कोई भी दूसरा व्यक्ति नहीं है। प्रभु फिर नृत्य आरम्भ करते, परन्तु फिर कहते हैं--आज आनन्द नहीं आ रहा, लगता है आज कृष्ण-कृपा से वञ्चित हो रहा हूँ !

सबके मन में भारी चिन्ता ! न जाने हम से कोई अपराध बन गया है ? एक बार श्रीवास फिर घर में गए कोने में देखते हैं कि सास एक पिटारी के नीचे छुपी बैठी है ! क्रोध में लाल हो उठे श्रीवास, पकड़ा उसे बालों से घसीट कर बाहर निकाल दिया घर से। श्रीगौराङ्ग में आनन्द-उल्लास बढ़ उठा। श्रीवास आकर हँसते-हँसते सङ्कीर्त्तन में बैठे। सब आनन्द में विभोर हो उठे। कैसी अद्भुत श्रीचैतन्य-लीला एवं उनके चरित्र।

श्रीगौराङ्ग कभी-कभी श्रीवास के आँगनमें बैठकर जल-केलि करते और सब भक्तजन प्रभु को स्नान कराते। श्रीवास पण्डित के घर एक दासी थी--वह प्रभु के लिए भाग-भागकर गङ्गाजल के घड़े भर लाती और कतार सी लगा देती गङ्गाजल के भरे घड़ों की। प्रभु के दर्शन करती रहती, प्रेम में रोती भी रहती और घड़ा खाली होने पर भाग कर फिर उसे भर लाती। एक दिन उन सब घड़ोंकी कतार लगी देखकर प्रभुने पूछा-श्रीवास ! इतने घड़े गङ्गासे कौन भरकर ला रखता है ? श्रीवास ने कहा—इन्हें दुखी भर लाती है। प्रभु ने चमक कर पूछा—दुखी ? 'हाँ प्रभु ! उस दासी का नाम दुखी है। प्रभु हँस पड़े और बोले—मेरी इस प्रकार सेवा करने वाली 'दुःखी' ? उसका नाम तो 'सुखी' उचित है। आज से सब इसे 'सुखी' ही बुलाया करो ! तभी से वह सुखी नाम पाकर वास्तविक सुखी हो गई। ऐसी कृपा भक्तों के दास-दासियों पर !

श्रीवास पण्डित का एक लड़का बीमार था और उसकी अवस्था अधिक गम्भीर थी। परन्तु रात्रि में तो प्रभु का सङ्कीर्त्तन होना ही था। सब भक्तगण जुड़े और प्रभु का नृत्य सङ्कीर्त्तन आरम्भ हुआ। श्रीवास सङ्कीर्त्तन में विभोर हैं। दैव इच्छा उसी समय पुत्र का परलोक-गमन हो गया। घर के भीतर स्त्रियों ने क्रन्दन कोलाहल करना ही था। श्रीवास के कानों से रोने की आवाज पड़ी। झट उठकर भीतर आए, देखा, पुत्र मर चुका है। परम गम्भीर थे श्रीवास। सबको सान्त्वना देते हुए बोले—कैसा भाग्यवान् यह जीव ! अन्त समय जिनका नाम श्रवण से महान् पापी भी कृष्णधाम को प्राप्त करता है, वे साक्षात् श्रीकृष्ण स्वयं नाम-गान नृत्य कर रहे हैं और इसका परलोक गमन हो रहा है--निश्चय ही यह तो कृष्णधाम में गया। अब आप सब लोग रोना-धोना बन्द करें। इस का शोक

करना वृथा है ।" इस अति दुखद समय में भला माँ, परिवारिक जन का रोना बन्द हो सकता है क्या ? श्रीवास ने फिर कहा, रो लेना आप बाद में जब प्रभु का नृत्यगान सङ्कीर्त्तन शेष हो जाये । परन्तु अब किसी की आवाज नहीं आनी चाहिए । सुन लो मेरी बात, यदि प्रभु के कान में आपके रोने की आवाज पड़ी और उनका आनन्द भङ्ग हुआ तो मैं उसी समय ही गङ्गा में कूद कर प्राण त्याग दूँगा । सब चुप हो गए श्रीवास के वचन सुनकर । श्रीवास फिर सङ्कीर्त्तन में आकर बैठे । खूब आनन्द में सङ्कीर्त्तन करने लगे । किन्तु धीरे-धीरे सब भक्तों के कान में पुत्र के मरने की बात पड़ी और सब अन्दर ही अन्दर अति शोक में डूब गये, परन्तु कहीं प्रभु का आनन्द भङ्ग न हो, कोई भी उस दुःख को जाहिर नहीं कर रहा था ।

सर्वज्ञ श्रीगौराङ्ग बोले—न जाने मेरे चित्त में आज क्या हो रहा है? श्रीवास के घर में कोई दुःख आ पड़ा है क्या ? श्रीवास ने हँसकर कहा--प्रभो! आप सुप्रसन्न-मुख के घर में रहते हुए मेरे घर में कैसा दुःख ? अन्त में दूसरे लोगों ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । प्रभु व्याकुल हो उठे श्रीवास के धैर्य एवं अपने में स्नेह को जानकर । "धन्य हो श्रीवास तुम धन्य हो ।" प्रभु मृतक पुत्र के पास आए और संवेदना-पूर्वक उस मृतक पुत्र से पूछा--अरे शिशु ! तुम इस घर को छोड़कर क्यों जा रहे हो ? शिशु बोल उठा--प्रभो ! यह तो आपका ही बना नियम है । जितने दिन मेरे भाग्य में था उतने दिन श्रीपण्डित के घर आपके दर्शन-सङ्कीर्त्तन का लाभ लिया अब मुझे आप विदा दीजिए ।" इतना कह कर शिशु चुप हो गया । प्रभु भक्तों के साथ कृष्ण-प्रेम गोष्ठी कर रहे हैं और श्रीवास चरणों में पड़कर कहने लगे—

जन्म - जन्म तुमि पिता माता पुत्र प्रभु ।
तोमार चरण येन ना पासरि कभु ।
येखाने सेखाने प्रभु ! केने जन्म नहे ।
तोमार चरणे येन प्रेमभक्ति रहे ।।

हे गौराङ्ग ! आपही मेरे पिता-माता-पुत्र और प्रभु हो । कहीं भी मेरा कोई भी जन्म क्यों न हो, आपके चरणों में मेरी प्रेम-भक्ति बनी रहे, आपके चरणों की विस्मृति न हो । सब भक्त व्याकुल हो उठे । समयानुसार सब कार्य सम्पन्न कर सब अपने-अपने घरों को चले गए ।

इस प्रकार श्रीवास पण्डित जी के अनन्त लोकातीत चरित्र हैं। अद्भुत महिमा है इनकी । श्रीवास जी के वस्त्र सीने वाले यवन दर्जी को भी श्रीगौराङ्ग ने अपना स्वरूप दर्शन कराकर प्रेमोन्मत्त कर दिया और वह परम भागवत हो गया, श्री श्रीवास पण्डित श्रीमन्महाप्रभु के कितने कृपा-पात्र थे—इसका कौन अनुभव कर सकता है ?

श्रीवास पण्डित के ध्यान, मन्त्र एवं गायत्री का श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामि-पद्धति में उल्लेख है । "आश्रयामि श्रीश्रीवासम्" इत्यादि अष्टक आपका प्रसिद्ध है ।

★

योगी-लीला

[राग देश सोरठ]

प्यारी निरखति छबि न अघात नैन,
बसि गयो हिय योगी शोभा ऐन,
कछु रह्यौ न जगत सों लैन दैन।
भये आतुर अङ्ग अनङ्ग रङ्ग,
उर आनँद के जू उठत तरङ्ग।
कछ कह्यो चहत निज मुख सों बैन।
पै वचन न सकत उचार लली,
जाने कोउ फाग को फिरत छली।
बतरात यह ललित लड़ैती सैन ॥ ६ ॥

श्रीजी वचन सखी प्रति [राग जोगिया आसावरी वा जं० जि०]

बूझत निज सजनी सूँ प्यारी।
कोमल क्यों तव गात सखीरी यह अचरज मेरे जिय भारी ॥
नैन विशाल अमल सों घूमत सुन्दर भेष तपोधन धारी।
धरें अनमनी मुख नहिं बोलत जाने कहा इन मनें विचारी ॥
कै कोउ आयौ फागको स्वांगी फिरत छलन हितनगर मझारी।
कै कोऊ राजकुमर घर तजके तप करिवे हित बन्यो भिखारी॥
धनि लघु बैस माँहि इन साध्यो कठिन जोग व्रत पूजा भारी।
ललित लड़ैती रतन प्रगट भयो बड़भागिन याकी महतारी ॥१०॥

सखी वचन श्रीजी प्रति [राग जोगिया आसावरी]

आसन थिर दीसत या प्यारी।
मन थिर तप को तेज अधिक इन रूपवंत गुणवंत हूं भारी ॥
मृग छाला ओढ़ शुभ लक्षण ललित लड़ैती मैं जु विचारी।
है चेला काहू गुरु पूरे तज सुख भवन भयो बनचारी ॥११॥

श्रीजी वचन योगी प्रति [राग जोगिया आसावरी]

कहौ रावल तुम कहाँ ते आवत।
तपकौ तेज रूप नव जोबन गहि मुख मौन अधर मुसिक्यावत ॥
किते वर्ष भये करत तपस्या क्यों जननी तुम बिन सुख पावत।
ललित लड़ैती कुटी छवावो बसौ नगर प्यारी समझावत ॥१२॥

योगी वचन श्रीजी प्रति [राग योगिया आसावरी]

हम योगी बहु काल के प्यारी।
कठिन योग कीने बहु साधन तज सम्पत्ति घर राजदुलारी ॥

गिरि कानन विचरत सुख पावैं फूलैं दृग लखि बन छबि न्यारी।
सिंगी नाद करैं रुचि गावैं बसैं न नगर टेक दृढ़ धारी॥
पै कोऊ आदर दै राखै श्रद्धा प्रीति दिखावै भारी।
ललित लड़ैती बिरमैं कोउ दिन जो कदापि होय मौज हमारी॥१३॥

श्रीजी वचन योगी प्रति [जङ्गला० जि० वा राग योगिया आसावरी]

अमी धारवत बचन तिहारे।
सुनत सुनत नहिं श्रवण तृप्त ह्वैं छबि लखि दृग न अघात हमारे॥
बिरमो फागुन मास अधिक सुख सुनो श्रवण डफके धुंधकारे।
ललितलड़ैती बसौ नगर चलि देखौ पिचकारिन के फुहारे॥१४॥

योगी वचन श्रीजी प्रति [राग दादरा वा जङ्गला० जि०]

तुम निज भवन जाउ सुकुमारी।
जगसौं निपट उदास फिरौं बन मैं योगी तू राजदुलारी॥
भलौं नहीं यों बिपन डोलिवो दोष लगावैं मिलि ब्रजनारी।
ललित लड़ैती देर करौ जिन तकत होयँ सब बाट तिहारी॥१५॥

श्रीजी वचन सखी प्रति० [लावनी की राह देश को जि०]

सखी जग सों निपट उदास फिरै यह मन कौ लुटेरौ।
कहा करूँ कित जाऊँ चलत नहिं कछु बस मेरौ॥
सखी रूप बैस गुण मिलत होय यह प्रीतम चेरौ।
वैसे दृग के भाव नैक तुम हू याहि हेरौ॥
सखी वैजु लालची रूप लेत यह अमल घनेरौ।
उनके गौ धन अधिक योग धन याहि बहुतेरौ॥
सखी उन प्रेम श्रीबन कुंज इन्हें गिरि विपन बसेरौ।
वे समझत रस रीति हिये इन ज्ञान उजेरौ॥
सखी यह मति कहुँ उठि जाय बैठि मिलि चहुंदिसि घेरौ।
बिन देखे ललित लड़ैती नैक मन माने न मेरौ॥१६॥

सखी वचन [राग छद्म झंझौटी का जि०]

योग जुगति भूले पिया प्यारे।
राधा राधा नाम रटत मुख सखी परस्पर देत इशारे॥
निरखि निरखि यह हँसि मुसिक्यावत कहैं प्यारी यह प्रीतम तिहारे।
ललित लड़ैती हो होरी कहि भाजि चले पुनि नन्द दुलारे॥१७॥

[दोहा]

गाई यह लीला नई युगल केलि रस रीति।
ललित लड़ैती नित सुनें बढ़ै युगल सों प्रीति॥१८॥

इति श्रीयोगी-लीला

॥ इति श्रीदम्पती-विलास तृतीय भाग सम्पूर्णम्॥

श्रीदम्पति-विलास चतुर्थ भाग

शयन-लीला

श्रीजी वचन [झूलना परज]

सुंदर सेज बिछाई सखियन तकिया जरी लगाया है।
सबज रङ्ग का नया दुशाला पगन ओर फैलाया है॥
पलका पे चंदोया अतलस लटकन सहित सुहाया है।
ललित लड़ैती रैन बहुत गई प्रीतम अजहुं न आया है॥ १॥

[झूलना खम्माच वा ब० पी० जि०]

आज सखिन नें रतन भवन में पलका कनक बिछाया है।
चादर बहुत बरीक बिछी सिंगार सभी दरसाया है॥
सुंदर चारू गेंदुवा तकिया सीस पगाँत लगाया है।
ललित लड़ैती बाट देखि रही पिया अजहुं नहि आया है॥२॥

[वार्त्तिक]

जब श्री प्रिया जी यों सोच कर रही हुतीं तब ललिता सखी तहाँ आय गई अरु आप ते बूझिवे लगी॥ ३॥

ललिता वचन श्रीजी प्र० [दोहा]

कहा सोच मन करत हो एरी छबि की रास।
ललित लड़ैती आज तुम दीसत कछू उदास॥ ४॥

श्रीजी वचन सखी प्र० [राग सोरठि वा ब० पी० जि०]

आज पिया बिन चैन न आवै।
करूँ कहा न कछू बस मेरो बिन देखे जियरा घबरावै॥
दई दई कर तोहि निहोरूँ जाय खोज वाँ जहाँ तोहि पावै।
ललित लड़ैती गुण मानूँगी लाय बेग मम सिजा सुलावै॥५॥

[वार्त्तिक]

जब श्री प्रिया जी सखी तें यों बतराय रही हुतीं तब प्रीतम हूं आय गये-सखी तो न्यारी भई—आप बोलीं॥ ६॥

श्रीजी वचन श्रीलालजी प्रति [राग सोरठि गिरिनारी]

पौढ़ौ सुख सेज आज देर भई प्यारे।
सोवत संसार फिरत पहरूवा जु न्यारे॥
अकुलावत दगन नींद सिथल बोल तिहारे।
प्राण पति ललित लड़ैतो नैनन के तारे॥ ७॥

[राग सोरठि वा ब० पी० जि०]

शयन भवन चलिये गिरिधारी ।
मणिन खचित विद्रुम के पाये पलका बिछ रह्यौ भवन मझारी ।।
पाटी कनक उनो रेशम सों बेलि छिकी कोरन पै न्यारी ।
दरियाई की तोशक अद्भुत गद्दा मखमल शोभा भारी ।।
मुक्ता मणिन विशाल की झालरि बिछी सेज चादर जरतारी ।
ललित लड़ैती आज सखिन नें सेज रङ्गीली भली सँवारी ।। ८ ।।

[वार्त्तिक]

तब श्रीलाल जी बोले--अबी सिदौस है रास विलास करके सोयेंगे--यों कहि दम्पति क्रीड़ा करिबे लगे--जब घनी देर भई--फिर श्रीजी बोलीं ।।९।।

श्रीजी वचन लालजी प्रति [राग झंझौटी का जि०]

प्रीतम गई बहुत रैन शयन को विचारौ ।
अकुलावत नींद नैन श्रम तनक निवारौ ।।
ठाड़ी सब मनात अली सुभ सगुन तिहारौ ।
पौढ़ौ अब ललित लड़ैती कुंज को पधारो ।।१०।।

[राग सोरठि जि०]

चलौ वेग पिया निकुंज सुख सों दोऊ सोवैं ।
रास रस विलास करत आज राति बहुत गई,
पायो श्रम अधिक याहि नींद हू में खोवैं ।
शयन भवन को सजाय पलका सुंदर बिछाय,
ठाड़ी सखी द्वार कब सौं हमरी बाट जोवैं ।
ललित लड़ैती देर करौ जिन पधारौ अब,
पौढ़ै सुख सेज हिये हार नेह परोवैं ।।११।।

[वार्त्तिक]

तब श्री जी की आज्ञा अनुसार प्रीतम शयन भवन को पधारे ।।१२।।

सखी वचन परस्पर [राग सोरठि वा ब० पीलू० जि०]

आज इन दोउन पै बलिहारी ।
पौढ़ै सुख सों शयन भवन में नंद नँदन वृषभानु दुलारी ।।
विविध भाँतिके सुमन सुगंधित अतर सुवास उठत तन न्यारी ।
ललित लड़ैती देखि नई छबि ऐसो को न मोहे नरनारी ।।१३।।

[राग सोरठि वा बरिवे पी० जि०]

सुख सौं पौढ़ि रहे दोऊ चन्द ।
एक ओर वृषभानु नंदनी एक ओर नँद नन्द ।।
रैन उजेरी चलत पवन वर सीतल मंद सुगंध ।
ललित लड़ैती बोलो मतिना जाग परें छबि कंद ।।१४।।

॥ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ॥

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

वातोऽप्यतो हरेर्नाम उग्राणामपि दुःसहः।
सर्वेषां पापराशीनां यथैव तमसां रविः॥
सर्वार्थ शक्तियुक्तस्य देव-देवस्य चक्रिणः।
यच्चाभिरुचितं नाम तत् सर्वार्थेषु योजयेत॥※

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, अगस्त १९८२ { अंक ८

झूलत हैं संकेत

प्रीतम दोऊ झूलत हैं संकेत।
उतहिं कुँवर इत कुँवरि राधिका, ललिता झोटा देत।
दोऊ मिलि मुदित परस्पर गावत, अलापत राग मलार।
खिसि-खिसि परत नील पीताम्बर नाहिन अङ्ग सम्हार॥
बरषत मेह सकल वन रंजित, अवलोकत छबि देत।
जय श्रीहित हरिवंश परस्पर, झूलत सखी बलैयाँ लेत॥

—गो० श्रीहित हरिवंशचन्द्र जी

※ सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को अनायास तत्काल नाश कर देता है, उसी प्रकार श्रीभगवन्नाम रूप वायु वासनाओं सहित घोरतम दुसह-पापों को उड़ा ले जाता है। श्रीभगवान् चक्रपाणि का प्रत्येक नाम सर्वाभीष्टों को प्रदान करने की शक्तियुक्त है, अतः जो भी नाम प्यारा लगे उसे सर्व-कामनाओं की पूर्त्ति के लिए स्मरण करें।

श्रीहरिभक्तिविलास ११/१९७-९८

श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचितम्

कार्पण्य-पंजिका-स्तोत्रम्

★

क्रोशत्यार्तस्वरैरास्ये न्यस्यांगुष्ठमसौ जनः।
कुरुतं कुरुतं नाथौ करुणाकणिकामपि ॥२२॥

हे हे वृन्दावनाधीश्वर-युगल ! मैं दीन-जन मुख में अंगुष्ठ दबाकर बड़ी आर्त्त-ध्वनि से प्रार्थना करता हूँ कि मुझ पर एक कणिका मात्र करुणा कीजिए ही कीजिए ॥२२॥

वाचेह दीनया याचे साक्रन्दमतिमन्दधीः।
किरतं करुणस्वान्तौ करुणोर्मिच्छटामपि ॥२३॥

मैं अति मन्द-बुद्धि रो-रोकर अतिशय विनीत वाणी से यही याचना करता हूँ कि हे दयालु-हृदय ! अपनी करुणा-तरङ्ग की एक झलक ही मेरी ओर फेंक दीजिए ॥२३॥

[इस प्रकार श्रीयुगल सरकार से सम्बन्ध जोड़कर अगले तीन श्लोकों में प्रेममयी-सेवा की याचना करते हैं]—

मधुराः सन्ति यावन्तो भावाः सर्वत्र चेतसः।
तेभ्योऽपि मधुरं प्रेम प्रसादीकुरुतं निजम् ॥२४॥

हे प्रिया-प्रीतम ! आपके धाम में दिव्य रस, गन्ध आदिमय अनेकानेक मधुर भोग हैं एवं अनेक मधुर पदार्थ भी विद्यमान हैं; किन्तु उन सबसे अति मधुर आप अपना प्रेम ही मुझे प्रसन्न होकर प्रदान कीजिए ॥२४॥

[यदि आप कहो, कि हम तुम पर प्रसन्न होकर तुम्हें इस लोक में हर प्रकार की समृद्धि प्रदान करते हैं, फिर हमारे प्रेम को क्यों माँगते हो ?—तो करुणामय ! सुनो]—

सेवामेवाद्य वां देवावीहे किंचन नापरम्।
प्रसादाभिमुखौ हन्त भवन्तौ भवतां मयि ॥२५॥

हे श्रीश्रीराधा-माधव ! मैं आपके प्रेम को एकमात्र आपकी सेवा के लिए ही माँगता हूँ, और किसी के लिए नहीं। अहो ! आप अपना सेवा-प्रसाद देने के लिए ही मुझे अपना प्रेम दान कीजिए ॥२५॥

नाथितं परमेवेदमनाथजन - वत्सलौ ।
स्वं साक्षाद्दास्य मेवास्मिन् प्रसादीकुरुतं जने ॥२६॥

हे अनाथजन-वत्सल ! (यद्यपि आप सर्व-समृद्धि प्रदान करने के लिए मुझ पर प्रसन्न हो, तथापि मैं केवल आपका साक्षाद् दास्य—आपकी चरण-सेवा की याचना करता हूँ। हे उदार-शिरोमणि ! आप मुझे उस परमानन्दमयी प्रेम-सेवा को ही प्रदान कीजिए ॥२६॥

[साक्षाद् दास्य से जो विशेष फल प्राप्त होता हैं, उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं]—

अञ्जलिं मूर्ध्नि विन्यस्य दीनोऽयं भिक्षते जनः ।
अस्य सिद्धिरभीष्टस्य सकृदप्युपपाद्यताम् ॥२७॥

हे वृन्दावनाधिपति ! मैं दीन-जन दोनों हाथ जोड़कर एवं सिर पर रखकर जो भिक्षा चाहता हूँ, उस मनोवाञ्छित की एकबार आप सिद्धि सम्पादन कर दीजिए—उसे पूर्ण कर दीजिए ॥२७॥

[श्रीगोस्वामिपाद अपने अभीष्ट को अगले पन्द्रह श्लोकों में वर्णन करते हैं]—

अमलो वां परिमलः कदा परिमिलन्वने ।
अनर्घेण प्रमोदेन घ्राणं मे घूर्णयिष्यति ॥२८॥

हे युगलकिशोर ! श्रीवृन्दावन में आप दोनों के आनन्दमय-मिलन में उत्थित श्रीअङ्ग-सौरभ से कब मेरी नासिका आनन्द से घूमने लगेगी ?—आनन्द विभोर हो उठेगी ? ॥२८॥

रञ्जयिष्यति कर्णौ मे हंसगुञ्जितगञ्जनम् ।
मञ्जुलं किं नु युवयोर्मञ्जीर कलसिञ्जितम् ॥२९॥

हंस-ध्वनि के गर्व को भी मर्दन करने वाली आपके चरणकमलों की मधुर नूपुर-ध्वनि कब मेरे कानों को अह्लादित करेगी ? ॥२९॥

सौभाग्याङ्कुरथाङ्गादिलक्षितानि पदानि वाम् ।
कदा वृन्दावने पश्यन्नुन्मदिष्यत्ययं जनः ॥३०॥

सौभाग्य रूप चक्र-यवांकुशादि चिह्नों से विभूषित आपके चरणों का श्रीवृन्दावन में दर्शन कर कब मैं आनन्द प्राप्त करूँगा ? ॥३०॥

सर्वसौन्दर्यमर्यादानीराज्यपदनीरजौ ।
किमपूर्वाणि पर्वाणि हा ममाक्ष्णो विधास्यथ ॥३१॥

हे प्रिया-प्रीतम ! समस्त सौन्दर्यों की सीमाओं द्वारा आपके चरणकमल निराजित हैं—आरती उतारे गए हैं, हाय ! अपूर्व उत्सवों को क्या आप मेरे दृष्टिगोचर कराओगे ?—उन रसमय उत्सबों का दर्शन कराकर नेरे नेत्रों को कृतार्थ कीजिए ॥३१॥

सुचिराशाफलाभोगपदाम्भोज - विलोकनौ ।
युवां साक्षाज्जन स्यास्य भवेतामिह किं भवे ॥३२॥

हे वृन्दावनेश्वर-युगल ! मुझ दीन-जन को इस जन्म में क्या आपके साक्षात् दर्शन प्राप्त हो सकेंगे ?—आपके चरणकमल—दर्शन की चिर-कालीन मेरी अभिलाषा आप परिपूर्ण कीजिए ॥३२॥

कदा वृन्दाटवीकुञ्जकन्दरे सुन्दरोदयौ ।
खेलन्तौ वां विलोकिष्ये सुरतौ नातिदूरतः ॥३३॥

श्रीवृन्दावन की कुन्ज-कन्दरा में आपके पास रह कर, हे करुणामय ! क्या मैं आप दोनों को विहार करते हुए कभी देख सकूँगा ? ॥३३॥

गुर्वायत्ततया क्वापि दुर्लभान्योन्यवीक्षणौ ।
मिथः संदेशशीधुभ्यां नन्दयिष्यामि वां कदा ॥३४॥

निज-जन्मोत्सव आदि के कारण (श्रीश्यामसुन्दर के वन में न जाने पर राधाकुण्ड पर) जब आप एक-दूसरे को नहीं देख पाते या नहीं मिल पाते, तो क्या मैं कभी आप दोनों को एक दूसरे का संवाद रूपी अमृत लाकर पान करा के आनन्दित कर सकूँगा ? ॥३४॥

(क्रमशः)

★

❀ देव परसन भए, पुत्र भयो ❀

गोकुल प्रगट भए हरि आइ ।
अमर-उधारन, असुर-संहारन, अन्तरजामी त्रिभुवन-राइ ।
माथैं धरि वसुदेव जु ल्याए, नन्द-महर-घर गए पहुँचाइ ।
जागी महरि, पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अङ्ग उर मैं न समाइ ॥
गदगद कंठ, बोलि नहिं आवै, हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ ।
आवहु कंत, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाइ ॥
दौरि नंद गए, सुत-मुख देख्यौ, सो सुख मोपै वरनि न जाइ ।
'सूरदास' पहिलै ही मांग्यौ, दूध पियावन जसुमति माई ।

—श्रीसूरदास जी

□

हे योगेश्वर ! आप कृपया अब भगवद्भक्त का लक्षण वर्णन कीजिए। उसका क्या धर्म है ? कैसा स्वभाव होता है ? वह कैसा आचरण करता है ? क्या बोलता है ? एवं किन लक्षणों से वह भगवत् प्रिय होता है ? ॥५४२॥

अथ—शब्द का अर्थ है तत्पश्चात् । राजानिमि ने पूछा—भक्त के विषय में पहचानके लक्षण कहिये। वह लोगोंमें जैसे धर्म एवं जैसे स्वभावयुक्त होता है, उस धर्म एवं स्वभाव का वर्णन कीजिऐ। वह कैसा आचरण अर्थात् अनुष्ठान करता है, उस अनुष्ठान को कहिए। जैसे वह वचन बोलता है, उन वचनों को कहिए—इस प्रकार राजा ने भक्तों के मानसिक, कायिक तथा वाचिक लक्षणों को पूछा।

प्रश्न उठता है—इससे पहले (भा० ११।२।३९) श्रीकवि योगेश्वर भक्तों के लक्षणों को जब इस प्रकार कह आए हैं कि शास्त्र एवं लोक परम्परा-प्रसिद्ध श्रीभगवान् के जन्म एवं लीला आदि का श्रवण-कीर्त्तन करते हुए भक्त निस्पृह तथा निर्लज्ज होकर विचरण करता है (श्लोक ९८ द्रष्टव्य)। " तब पुनः राजा ने भक्तों के लक्षणों को क्यों पूछा ?—इसके उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक है कि भक्त के लक्षण पहले कहे जा चुके थे, परन्तु उन पूर्वोक्त लक्षणों में जिन लक्षणों द्वारा वह भक्त श्रीभगवान् का प्रिय होता है, अथवा जिनके द्वारा भक्त की उत्तमता, मध्यमता आदि के भेद की विवेचना होती है, उन लक्षणों को यहाँ विस्तार-पूर्वक कहने का प्रश्न राजा निमि ने किया है, जो युक्त ही है।"

गोपाल-तोषणी टीका—मनुष्य या साधक को किस महत् पुरुष का सङ्ग करना चाहिए— उसके लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि महत् पुरुषों में कौन सर्वश्रेष्ठ है—इस बात की उपर्युक्त अनुच्छेद में विवेचना की गई है।

यह तो सप्रमाण कहा जा चुका है कि ज्ञानी-सिद्ध महत् पुरुषों से भक्त-सिद्ध महत्-पुरुष श्रेष्ठ हैं। भक्त-सिद्ध महत् पुरुष भी तीन प्रकार के गिनाए हैं। १-भगवत् पार्षद-देह प्राप्त भक्तसिद्ध, २- निर्धूतकषाय अर्थात् जिनके अन्दर राग-द्वेष अवथा किसी प्रकार की भी कामना नहीं है, तथा ३-मूर्च्छित-कषाय अर्थात् जिन में विषयों के संस्कार गुप्त रूप से वर्त्तमान रहते हैं। इन तीनों प्रकार के महत् पुरुषों में भगवत् प्रेम रहता हैं। यदि भगवत् प्रेम न रहे तो वे महत् पुरुष या सत्पुरुष कहलाने योग्य ही नहीं रहते। परन्तु इन में कौन उत्तम है कौन मध्यम ? इस बात का विवेचन इस आधार पर किया जाता है कि किसी भक्त का भजनीय स्वरूप कौन है ? उसका अपने इष्ट में किस भाव का प्रेम है ? फिर वह प्रेम अभी अंकुर रूप में उदित हुआ है या गाढ़तर या गाढ़तम अवस्था को प्राप्त कर चुका है। यदि भक्त सर्वांशी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का उपासक है और उसकी मधुर-रागात्मिका-भक्ति है तथा वह प्रेम की गाढ़तम अवस्था को प्राप्त कर चुकी है—तो वह भक्त-सिद्ध महत् पुरुष सर्वोत्कृष्ट है। इस विषय में प्रीतिसन्दर्भ में श्रीगोस्वामिपाद ने विस्तरशः विवेचन किया है।

अतः भक्तसिद्ध महत् पुरुषों में जिसको भगवत् साक्षात्कार हो चुका है, एवं अन्य कामनाओं का जितना अधिक अभाव है, उसे श्रीभगवान् के साक्षात्कार में उनका उतना अधिक माधुर्य आस्वादन प्राप्त होता है। साक्षात्कार की सार्थकता भी माधुर्य-आस्वादन में है। यदि माधुर्य आस्वादन नहीं हुआ जैसे शिशुपाल, कंस, चाणूर मूष्टकादि को, तो उनके भगवत् साक्षात्कार का भी कोई मूल्याङ्कन नहीं है। माधुर्य का आस्वादन भी प्रेम के तारतम्यानुसार होता है। जिस में जितना अधिक प्रेम होता है, वह उतने अधिक भगवत्-माधुर्य के आस्वादन में सक्षम हुआ करता है। इसलिये जिस भक्तसिद्ध में प्रेम की अधिकता है, वे श्रेष्ठ-महत् पुरुष" है।

उन भगवत् प्रेमी भक्तों के विषय में राजा निमि तथा नवयोगेश्वरों के बीच विवेचन हुआ है, भगवत् प्रेमी के क्या लक्षण हैं और कैसा उसका धर्म-स्वभाव होता है?—उसकी मानसिक, शारीरिक, तथा वाचिक क्या अवस्थाएँ होती हैं—जिन से उसकी सर्वश्रेष्ठता सम्पादन होती है, उसका निरूपण अगले अनुच्छेद में करते हैं ॥१८७॥

१८८—तत्रोत्तरम्—श्रीहरिरुवाच (भा० ११-२-४५)—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥५४७॥

तत्र तत्तदनुभवद्वारावगम्येन मानसलिङ्गेन महाभागवतं लक्षयति—सर्वभूतेष्विति (भा० ११।२।४०)—"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः" इति श्रीकविवाक्योक्तरीतया यश्चित्तद्रव-हास-रोदनाद्यनुभावकानुरागवशत्वात् (भा० ११-२-४१)—खं वायुमग्निम्" इत्यादि तदुक्तप्रकारेणैव चेतनाचेतनेषु सर्वभूतेषु आत्मनो भगवद्भावम् आत्माभीष्टो यो भगवदाविर्भावस्तमेवेत्यर्थः, पश्येदनुभवति, अतस्तानि च भूतानि आत्मनि स्वचित्ते तथा स्फुरति यो भगवान् तस्मिन्नेव तदाश्रितत्वेनैवानुभवति, एष भागवतोत्तमो भवति। इत्थमेव श्रीव्रजदेवीभिरुक्तम् (भा० १०-३५-९)—"वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः" इत्यादि। यद्वा, आत्मनो यो भगवति भावः प्रेमा तमेव चेतनाचेतनेषु भूतेषु पश्यति। शेषं पूर्ववत्। अतएव भक्तरूप-तदधिष्ठानबुद्धिजातभक्तया तानि नमस्करोतीति "खं वायुम्" इत्यादौ पूर्वमुक्तमिति भावः। तथैव चोक्तं ताभिरेव (भा० १०-२१-१५)—"नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीतमावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः" इत्यादि। यद्वा, श्रीपट्टमहिषीभिरपि (भा० १०-९०-१५)—"कुररि विलपसि त्वम्" इत्यादि। अत्र न ब्रह्मज्ञान्यभिधीयते, भागवतैः तज्ज्ञानस्य तत्फलस्य च हेयत्वेन जीवभगवद्विभागाभावेन च भागवतत्वविरोधात्, (भा० ३-२९-१२)—"अहैतुक्यव्यवहिता" इत्यादिकात्यन्तिकभक्तिलक्षणानुसारेण सुतरामुत्तमत्वविरोधाच्च। न च निराकारेश्वरज्ञानम् (भा ११-२-५५)—"प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः" इत्युपसंहारगतलक्षणपरमकाष्ठाविरोधादेवेति विवेचनीयम् ॥

उपर्युक्त जिज्ञासा के उत्तर में योगेन्द्र श्रीहरि ने महाभागवतों के मानसिक भावों का वर्णन करते हुए कहा—

हे राजन् जो समस्त भूतों—चेतन-अचेतन में अपने उपास्यदेव श्रीभगवान् के ही दर्शन करता है और अपने उपास्यदेव में समस्त चेतन-अचेतन भूतों को देखता है, वह भक्तों में उत्तम है ॥५४७॥

इस श्लोक में अनुभवगम्य मानस-लक्षणों द्वारा महाभागवत के लक्षण दिखाए गये हैं। श्रीभागवत (११।२।४०) में कहा गया है—"इस प्रकार अनुरागी भक्त अपने प्रीतम श्रीहरि के नाम का कीर्त्तन करते-करते द्रवित-चित्त हो जाता है, कभी तो वह उन्मत्त व्यक्ति की भाँति उच्चस्वर में हँसने लगता है, कभी रोने और चिल्लाने लगता है। कभी वे गान करने लगता और बाहर की सुध-बुध बिसार कर नाचने लगता है, (श्लोक ७८२ द्रष्टव्य)—योगेन्द्र कवि के इन वचनों के अनुसार जिस का चित्त द्रवीभूत हो जाता है, हास्य, रोना आदि से उत्पन्न करने वाले प्रेम के वशीभूत हो जाता है, वह फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि पदार्थों को श्रीहरि का शरीर जानकर उनको अनन्यभाव से प्रणाम करता है—ऐसा श्रीभागवत (११।२।४२) में कहा गया है।[1] अतः उक्त रीति से ही चेतन-अचेतन सब भूतों में आत्माभीष्ट भगवदाविर्भाव का जो अनुभव करता है। उन चेतन-अचेतन भूतों को भी अपने चित्त में स्फूर्त्ति - प्राप्त श्रीभगवान् में देखता हैं अर्थात् उन सब को उन श्रीभगवान् के आश्रित अनुभव करता है। वह प्रेमी भक्त है, वही भागवतों में उत्तम है। यही बात श्रीव्रज देवियों ने (भा० १०।३५।९) में कही है—

"वन की लताएँ और वृक्ष, फूल-फलों से लद जाती हैं, उनके भार से शाखाएँ झुक कर पृथ्वी को छूने लगती हैं मानों प्रणाम कर रही हों। वे वृक्ष-लताएँ अपने में भगवान् विष्णु की अभिव्यक्ति सूचित करती हुई प्रेम से फूल उठती हैं, उनका रोम-रोम खिल जाता है और सब की सब मधु-धाराओं को उड़ेलने लगती हैं।[2] अर्थात् श्रीव्रजगोपियों को वन के समस्त वृक्ष-लताओं में श्रीकृष्ण की अनुभूति होने लगती है। अथवा श्रीभगवान् में अपना जो 'भाव-प्रेम' है, वही चेतन-अचेतन भूतों में वह देखती हैं। श्लोक के शेषांश का अर्थ पूर्ववत् ही है। इसलिए भक्त की भगवद् अधिष्ठान में जो बुद्धि होती है, उसी बुद्धिजात भक्ति के कारण वह सब भूतों को प्रणाम करता है, जैसे कि 'खं वायुमग्निं, (भा० ११।२।४२) श्लोक में पहले कहा जा चुका है।

१—खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

२—वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणत भारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म॥

श्रीभागवत (१०।२१।१५) में श्रीव्रज-गोपियों ने कहा है कि "सखि! चेतनों की बात तो रहने दो, इन अचेतन नदियों में भी मनोहर वेणु-ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्ण की मिलन आकांक्षा जाग उठी है। इससे उनकी प्रवाह गति रुक रही है। वे अपनी तरङ्गोंरूप हाथों से उनके चरण पकड़ कर कमल-फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही है।[1] अर्थात् प्रेममयी गोपियों को सर्वत्र अपने प्रीतम की ही अनुभूति होती है। इसी प्रकार द्वारका की महिषीगण में भी (भा० १०।९०।१५) श्रीकृष्ण की सर्वत्र अनुभूति दीखती है। उन्होंने कहा है—"अरी कुररी ! बड़ी रात हो गई है और सब जगत् सो रहा है। इस समय भगवान् भी अपने अखण्ड बोध को छिपाकर सो रहे हैं। तुम्हें नींद नहीं आती ? तू जागकर विलाप क्यों कर रही है ? कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीला भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी तरह बिंध तो नहीं गया है ?[2] अर्थात् इन को कुररी में भी अपना सा प्रेम विरह दीखता है।

'सर्वभूतेषु यः पश्येत्'—सब भूतों में जो अपने इष्ट भगवान् को देखता है—इस श्लोक में ब्रह्म ज्ञानियों को लक्ष्य नहीं किया गया है. परन्तु सर्वभूतों में इस प्रकार की अनुभूति केवल परम भागवतगण को ही होती है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के ज्ञान तथा उस ज्ञान के फल—मुक्ति को तुच्छ माना गया है तथा जीव और भगवान् में जो सेवक-सेव्य का भेद है, ब्रह्मज्ञान में उसका अभाव होने से वह भगवद् भक्ति का विरोधी है।

श्रीभागवत (३।२९।१२) में कहा गया है—भगवान् पुरुषोत्तम—श्रीकृष्ण में अहैतुकी एवं कर्म-ज्ञानादि व्यवधानरहित भक्ति ही विशुद्ध सर्वोत्तम भक्ति का लक्षण है, (श्लोक ६७९ द्रष्टव्य)। ये एकान्तिक-भक्ति के लक्षण हैं। ब्रह्मज्ञान में जो अभेद-भाव है उससे इस भक्ति का विरोध है। यहाँ निराकार भगवान् का ज्ञान भी नहीं कहा गया है। श्रीभागवत (११।२।५५) में यह कहा गया है कि श्रीभगवान् प्रेमरज्जु में बद्धचरण होकर जिनके हृदय में अवस्थान करते हैं, वे ही श्रेष्ठ भागवत हैं", (श्लोक ५५८ द्रष्टव्य)। —यह जो उपसंहारगत भक्तिलक्षणों की पराकाष्ठा है, उसमें और क्रम के अभेद भाव में विरोध हैं। अतः उक्त श्लोक (५४३) के विषय ब्रह्मज्ञानी नहीं है, हो भी नहीं सकते। केवल महाभागवत ही इस के विषय हैं।

१—नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्त लक्षित मनोभव भग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मि भुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

२—कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे,
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्त बोधः।
वयमिव सखि क्वच्चिद् गाढ़निर्भिन्नचेता,
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन॥

गोपाल-तोषणी टीका—श्रीकवि योगेश्वर ने उन भक्तों के लक्षण (भा० ११।२।२९) वर्णन किए जो साधन-भक्ति का आचरण करते हैं—श्रीभगवान् के नाम-गुण लीलादि का श्रवण कीर्त्तन करते-रहते हैं। इस प्रकार श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते जब मन अन्यान्य कामनाओं से रहित हो जाता है, तब कृष्णरति का उदय होता है। जब रति में गाढ़ता आती है तब भाव-भक्ति उदित होती है और भक्त सदा अपने प्रियतम भगवन्नामों का कीर्त्तन करते हुए उन्मत्त हो उठता है। कभी हँसना-रोना, कभी नृत्य-गानादि भाव उभर आते हैं, जिससे वह लोक एवं शरीर की सुध-बुध खो बैठता है; जैसा कि (भा० ११।२।४०) में कहा गया है—ऐसे जातानुराग भक्तों में जब भाव-भक्ति और अधिक गाढ़ता को प्राप्त करती है तब उनकी जो अवस्था होती है—उसका वर्णन उपर्युक्त अनुच्छेद में किया गया है। उस अवस्था को जो भगवत्-भक्त प्राप्त हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं और वे ही सबसे श्रेष्ठ महत्पुरुष हैं।

ऐसे भागवतोत्तम पुरुषों के मानसिक लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे समस्त प्राणियों में, जड़-जङ्गम में अपने इष्टदेव श्रीभगवान् का दर्शन करते हैं और समस्त चेतन-अचेतन को अपने इष्टदेव के आश्रित या अवस्थित देखते हैं। तात्पर्य यह है जो सर्वश्रेष्ठ भागवत हैं, उनमें जब अपने अभीष्ट अनुराग की गाढ़ता प्रकाशित होती है, तब उनको स्थावर-जङ्गम की मूर्त्ति या आकार भी नहीं दीखता। साक्षात् अपने अभीष्ट श्रीभगवान् को ही सर्वत्र देखते हैं। और जब अनुराग में कुछ तरलता या ढीलापन आता है तब वे स्थावर-जङ्गमादि की मूर्त्ति या आकृति भले देखते हैं, किन्तु हर वस्तु के भीतर अपने भगवान् की सत्ता उपलब्ध करते हैं। एक पूर्णत्तम अवस्था वह भी है कि समस्त चेतन-अचेतन को वे अपने चित्त में स्फुरित श्रीभगवान् के आश्रित रूप में ही अनुभव करते हैं—सब को ही वे भगवत् भक्त या श्रीभगवान् से सम्बन्धित देखते हैं; उस दशा को प्राप्त हैं व्रजगोपीगण, जो समस्त वस्तुओं में अपने प्रीतम श्रीकृष्ण की अनुभूति उपलब्ध करती हैं। चेतन-अचेतन सब में श्रीकृष्ण के प्रति उन को अपना मधुर भाव ही झलकता दीखता है।

ब्रह्म-ज्ञानियों का भी मन्तव्य है कि जो कुछ दीखता है वह सर्वब्रह्म है। वे सर्वत्र आत्मदृष्टि का मनन करते हैं, किन्तु उक्त श्लोक के विषय ऐसे ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि उन ज्ञानियों का साध्य है जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान तथा मुक्ति। किन्तु ये दोनों वस्तुएँ भक्तों के लिए तुच्छ हैं और भक्तिके प्राणरूप सेव्य-सेवक भाव के तो नितान्त विरोधी हैं। इस प्रसङ्ग के अन्त में उपसंहार करते हुए भी उन भागवतों की ही श्रेष्ठता या उत्तमता निरूपण की गई है जिनकी प्रेम की रस्सी में बद्ध होकर श्रीभगवान् उनके हृदय में निरन्तर अवस्थान करते हैं। अतः सर्वत्र आत्म-दृष्टि या निराकार ब्रह्मोपासकों के विषय में इस श्लोक का अर्थ सङ्गत नहीं है।

१८९—अथ मानसलिङ्गविशेषेणैव मध्यमभागवतं लक्षयति (भा० ११।२।४६)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम - मैत्री - कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥५४४॥

परमेश्वरे प्रेम करोति, तस्मिन् भक्तियुक्तो भवतीत्यर्थः, तथा तदधीनेषु भक्तेषु च मैत्रीं बन्धुभावम्, बालिशेषु तद्भक्तिमजानत्सु उदासीनेषु कृपाम्, यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।९।४३)—"शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्" इति आत्मनो द्विषत्सु उपेक्षा तदीयद्वेषे चित्ताक्षोभेणौदासीन्यमित्यर्थः, तेष्वपि बालिशत्वेन कृपांशसम्भावात्—यथैव श्री-प्रह्लादो हिरण्यकशिपौ। भगवतो भागवतस्य वा द्विषत्सु तु सत्यपि चित्तक्षोभे तत्रानभिनिवेशमित्यर्थः। अस्य बालिशेषु कृपाया एव स्फुरणम्, द्विषत्सूपेक्षाया एव; न तु प्राग्वत् सर्वत्र तस्य तत्प्रेम्ण वा स्फुरणम्; ततो मध्यमत्वम्।

अथोत्तमस्यापि तदधीनदर्शनेन तत्स्फुरणानन्दादयो विशेषत एव। तत-श्च स्मिन्नधिकैव मैत्री यद्भवति, तन्नो निषिध्यते, किन्तु सर्वत्र तद्भावावश्यकता विधीयते। परमोत्तमोत्तमेऽपि तथा दृष्टम् (भा० ४।२४।५७)—

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ॥५४५॥इति।

(भा० ४।२४।३०)—"अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा" इति च श्रीरुद्रगीत् (भा० १।७।११)—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥५४६॥

इति श्रीसूतवाक्याच्च। एवं (भा० १०।१।३५)—भोजानां कुलपांसनः" इत्यादौ तत्र बादरायणि-प्रभृतीनां द्वेषोऽपि दृश्यते; किन्तु मध्यमानां तत्रानभिनि-वेश एव स्फुरति। तेषान्तु तत्रापि तद्विधशास्तृत्वेन निजाभीष्टदेवपरिस्फूर्त्तिर्न व्याहन्यत एवेति विशेषः। तद्दृष्टचैव च श्रीमदुद्धवादीनामपि दुर्य्योधनादौ नम-स्कारः। (भा० ४।३।२३)—"सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमान-पावृतः" इत्यादि श्रीशिववाक्यवत्। उक्तञ्च लक्षणाहरणे (भा० १०।६८।१७)—"सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रम्" इत्यादौ दुर्य्योधनं चेति। यत्र पक्षे च स्वकीयभावस्यैव सर्वत्र परिस्फूर्त्तेः श्रीभगवदादिद्विषत्स्वपि सा पर्य्यवस्यति, तत्र च नायुक्तता। यतस्ते निजप्राणकोटिनिर्मञ्छनीय-तच्चरणपङ्कजपरागलेशास्तेषां दुर्व्यवहारदृष्ट्या क्षुभ्यन्ति। स्वीय-भावानुसारेण त्वेवं मन्यन्ते—अहो ईदृशश्चेतनो वा कः स्यात् यः पुनरस्मिन् सर्वानन्दकदम्बे निरुपाधिपरमप्रेमास्पदे सकललोकप्रसादक-सद्गुण-मणिभूषिते सर्वहितपर्य्यवसायिचर्य्यामृते श्रीपुरुषोत्तमे तत्प्रियजने वा प्रीतिं न कुर्वीत। तद्द्वेषकारणन्तु सुतरामेवास्मदबुद्धिपद्धतिमतीतम्। तस्मात् ब्रह्मादिस्था-वरपर्य्यन्ता अदुष्टा दुष्टाश्च तस्मिन् बाढं रज्यन्त एवेति। तदुक्तं श्रीशुकेन (भा० ११।२।१-२)—

गोविन्दभुजगुप्तयां द्वारकायां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥५४७॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥५४८॥इति।

अब मानस-लक्षणों के द्वारा "**मध्यम भागवतगण**" के लक्षण कहते हैं। श्रीभागवत (११।२।४६) में कहा गया है—

जो श्रीभगवान् से प्रेम, भक्तों से मैत्री, अज्ञानी पुरुषों पर कृपा तथा भगवान् से द्वेष करने वाले लोगों की उपेक्षा करता है, वह "मध्यम-भागवत" है ॥५४४॥

जो परमेश्वर से प्रेम करता है अर्थात् श्रीभगवान् की भक्तियुक्त होता है, भगवदाधीन पुरुषों अर्थात् भक्तजनों से मैत्री अर्थात् उनमें बन्धु-भाव रखता है, 'वालिशेषु' अर्थात् अज्ञानी जो भक्ति को नहीं जानते, उन पर कृपा करता है, जैसे श्रीप्रह्लाद ने (भा० ७।९।४३ में) कहा है—कि जो मूर्ख व्यक्ति आप (भगवान्) का लीला-यश गान रूप महा अमृत से वञ्चित होकर इन्द्रियों के विषयों जनित मायासुख के लिए स्त्री-पुत्रादि का पोषण भार वहन कर रहे हैं—उन्हें देखकर मुझे विशेष दुःख हो रहा है।[1] ऐसे व्यक्तियों पर जो कृपा करता है, तथा भगवान् के द्वेष करने वाले के प्रति उसका चित्त क्षुब्ध होता है, इसलिए उनके प्रति वह उदासीन रहता है। अज्ञ होने के कारण मूढ़ पुरुषों के प्रति कृपा-अंश की सम्भावना रहती है, जैसे हिरण्यकश्यपु के प्रति श्रीप्रह्लाद का कृपांश विद्यमान था। भगवान् एवं भक्तों के प्रति जिनका द्वेष रहता है, उनके प्रति चित्तक्षोभ होने के कारण उनके प्रति जो अभिनिवेश का न होना है, वही यहाँ 'उपेक्षा'—शब्द का तात्पर्य है। अज्ञपुरुषों के प्रति मध्यम-भक्त की कृपा तथा द्वेष - कर्ताओं के प्रति उपेक्षा स्फुरित होती है, किन्तु उतम श्रेणी के भागवतों की भाँति इन में भगवत् प्रेम जनित सर्वत्र भगवान् की स्फूर्त्ति नहीं होती। इसलिए ही इनको मध्यम भागवत या महत्-पुरुष कहा गया है।

उत्तम भागवतों को भी भगवदाधीन भक्तों के दर्शन करने पर भगवत्-स्फूर्त्ति जनित आनन्द विशेष भाव से प्राप्त हुआ करता है। इसलिए उत्तम भक्तों में भगवदाधीन पुरुषों में मैत्री भाव अधिक रूप से देखने में आता है। अतः उनमें मैत्रीभाव का निषेध नहीं है। किन्तु सर्वत्र भगवद्-भाव की आवश्यकता ही विहित होती है। परमोत्तमोत्तम भागवतों में अर्थात् भगवत् पार्षद देह प्राप्त उत्तम-भागवतों में भी उक्त मैत्री-भाव दीखता है। श्रीभागवत (४।२४।५७) में कहा गया है—

१—नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायन - महामृत मग्नचित्तः।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-माया सुखाय भरमुद्वहतो विमूढ़ान् ॥

श्रीभगवान् के भक्तों का जो सङ्ग है, उसके आधे क्षण के सुख के साथ भी मैं स्वर्ग-सुख तथा मुक्ति-सुख की तुलना नहीं कर सकता, फिर क्षणभंगुर राज्यादि पदार्थों की क्या बात ? ।।५४५।।

श्रीभागवत (४।२४।३०) में परमोत्तमोत्तम भागवत श्रीशिव जी ने कहा है—"हे राजपुत्रो ! आप परम भागवत हैं, इसलिए श्रीभगवान् जैसे मुझे प्रिय हैं, वैसे आप भी मुझको प्रिय हो। (श्लोक २१६ द्रष्टव्य)। श्रीभागवत (१।७।१२) में श्रीसूतजी ने कहा है—

सर्वदा भक्तों के प्रिय श्रीशुकदेव जी श्रीहरि के गुणों में आकृष्ट-चित्त होकर श्रीव्यासदेव के पास आए और महापुराण श्रीभागवत का अध्ययन किया ।।५४६।।

श्रीभागवत (१०।१।३५) में श्रीशुकदेव जी ने कहा—"कंस भोजवंश का कलंक स्वरूप था"—इन वाक्यों से श्रीशुकदेव आदि भागवतों में कंस के प्रति द्वेष दीखता है। किन्तु मध्यम भागवतों का भगवान् एवं भक्तों के द्वेषियों के प्रति अनभिनिवेश ही स्फुरित होता है। उत्तम भागवतों में भगवान् एवं भक्तों के द्वेषी-जनों के प्रति शासनकर्ता रूप में अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति में कोई व्याघात नहीं होता अर्थात् उनके द्वेष में भी अपने इष्टदेव की लीला-कथा ही स्फुरित हुआ करती है—"इन द्वेषीजनों का शासन मेरे भगवान् के बिना और कोई नहीं कर सकता--ऐसी बात उनके मन में आती है—यही विशेषता है उत्तम भागवतों की। इसीदृष्टि से ही श्रीउद्धवादि हरि-विरोधी दुर्योधन आदि को भी नमस्कार करते देखे जाते हैं।

श्रीशिव जी ने (भा० ४।३।२३) में कहा है—हे पार्वती ! विशुद्ध सत्त्व स्वरूप जो श्रीवासुदेव हैं, जो सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप में विराजमान हैं, मैं उनको प्रणाम किया करता हूँ—देह-दृष्टि या अभ्यागत जानकर किसी को प्रणाम नहीं करता"। (श्लोक ३१ द्रष्टव्य)। दुर्योधन की कन्या लक्षणा के हरण वृत्तान्त में जब श्रीबलराम जी ने श्रीउद्धव को भेजकर कौरवों को अपने आगमन की सूचना दी तो श्रीउद्धव जी ने (भा० १०।६८।१७) अम्बिका पुत्र श्रीभीष्म-देवादि तथा दुर्योधन को भी विधिवत् प्रणाम करके सन्देश दिया। इस से भगवद् द्वेषीजनों के प्रति भी उत्तम भागवतों में अपने इष्ट की स्फूर्त्ति होने से उनको नमस्कारादि करने का प्रमाण मिलता है। और जैसे उत्तम भागवत को अपने अभीष्ट भाव के कारण चेतन-अचेतन सर्वत्र अपने इष्ट की स्फूर्त्ति होती है, उसी तरह इस पक्ष में भगवद् द्वेषी जनों में भी उन्हें अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति होती है यह भी कोई अनुचित नहीं है। क्योंकि उत्तम भागवतों का हृदय अपने कोटि-कोटि- प्राणों को बलिहार कर देने योग्य श्रीभगवान् के चरण-कमलों की पराग-लेश से निरन्तर परिभावित रहता है। अतः द्वेषीजनों के दुर्व्यवहार को देखकर वे क्षुब्ध हो उठते हैं। अपने भावानुसार तो वे इस प्रकार मानते हैं—अहो ! इस

'कृष्ण-जन्माष्टमी' एक महानतम पर्व

पं० श्रीकृष्णवल्लभजी उपाध्याय

सनातन-धर्म ही एक-मात्र सनातन और अनादि धर्म है। इतना व्यापक और उदार क्षेत्र है इसका कि जिस भाव से भी मानव ने उस पर-तत्त्व वस्तु की साधना या उपासना की, वह उसी रूप में मूर्त्तिवान् होकर साधक के सामने आ उपस्थित हुआ। उस पर-तत्त्व ने साधकों की इच्छानुरूप अपने को एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकटित किया। अतः अनेक भगवत्-स्वरूप एवं देवी-देवताओं की मान्यताएँ हैं। उनके अनुयायी उनके जन्म-पर्व, उनकी स्मृतियाँ मनाते हैं—मनाने भी चाहिएँ। लोकोक्ति है कि महीने के दिन तो हैं तीस परन्तु हिन्दुओं के पर्व हैं पैंतीस।

अधिकतर मुख्य पर्व मनाये जाते हैं भगवदवतारों की अवतार-तिथियों पर, उन में भी वैष्णव-धर्मावलम्बी व्यक्ति शिव चतुर्दशी, वामन-द्वादशी, नृसिंह-चतुर्दशी, रामनवमी एवं कृष्ण-जन्माष्टमी के पर्वों को विशेष उत्साह एवं श्रद्धा से मनाते हैं एवं इन तिथियों पर विशेष आराधना, अनुष्ठान करते हैं। उक्त समस्त तिथियों में भी फिर जन्माष्टमी का पर्व जितने व्यापक रूप से एवं श्रद्धा से मनाया जाता है, उतने स्तर पर और कोई भगवत् जयन्ती नहीं मनायी जाती। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, संसार भर में इस पर्व का महान् आदर, विशेष श्रद्धा-उत्साह है एवं इसकी निष्ठा-पूर्वक मान्यता है।

इस जन्माष्टमी-पर्व के सर्वाधिक महत्व की एक मौलिक भित्ति है, शास्त्रीय आधार है। यह आविर्भाव-तिथि है अद्वयज्ञान-तत्त्व सच्चिदानन्दघन मूर्त्ति परात्पर परं ब्रह्म स्वयं भगवान् नन्द-यशोदानन्दन श्रीकृष्ण की। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त भगवदवतारों के, निखिल देवी-देवताओं के मूल कारण हैं, समस्त ईश्वरों के परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्द मूर्त्ति हैं। जो कुछ है, हो सकता है, सब के ये आदि हैं, स्वयं अनादि हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्॥

—ब्रह्मसंहिता–५/१॥

अतः ये सर्वोत्कृष्ट उपास्य तत्त्व रूप में स्वतः सिद्ध विराजमान हैं एवं उनकी उपासना ही समस्त उपासनाओं से श्रेष्ठतम है। इसलिए इनकी आविर्भाव-

तिथि जन्माष्टमी का भी एक असमोर्ध्व महत्व है। गोपाल तापनी-उपनिषद् में कहा गया है—

एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोपि सन् बहुधा यो विभाति।
तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

एकमात्र परम-स्वतन्त्र सर्वत्र-व्यापक श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं। अद्वय-तत्त्व होकर भी वे अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं। इनकी सपरिकर जो सेवा—उपासना करते हैं, वे ही धीर अर्थात् सम्यक् व्यवस्थित बुद्धि या तत्त्ववेत्ता हैं, उनको ही स्थायी सिद्धि अर्थात् परमपद की प्राप्ति होती है, और किसी को नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वावतारी हैं, अन्यान्य समस्त भगवद् अवतार इनके अंश हैं, या कला अर्थात् अंश का अंश हैं। पुराण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत का स्पष्ट कथन है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

सर्वावतारी भगवान् श्रीकृष्ण ही मन्वन्तरावतार, युगावतारादि धारण कर साधुओं, भक्तों की रक्षा करते हैं, असुरों का संहार करते हैं और सनातन धर्म की रक्षा करते हैं। श्रीराम रूप में ये लौकिक मर्यादाओं का आदर्श स्थापन कर 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कहलाते हैं और निज प्रेम-भक्ति सम्पति कलि जीवों को प्रदान करने के लिए श्रीकृष्णचैतन्य रूप में अवतीर्ण होकर ये 'प्रेम-पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। इसी प्रकार श्रीनृसिंह श्रीवामन आदि अनेक भगवदवतारों में आत्म-प्रकट कर अनन्त लीलाएँ करते हैं और अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करते हैं। भक्तों को ही नहीं, वे स्वयं भी विभिन्न भक्तों के विभिन्न भावों का रसास्वादन कर अपने "रसो वे सः" स्वरूप को या रसिक-शेखरत्व को चरितार्थ करते हैं।

ब्रह्मसंहिता (५।३९) में भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वावतारी होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है, ब्रह्माजी ने कहा है—

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

जो परम पुरुष श्रीकृष्ण कला-नियम से अंश रूप से अर्थात् पूर्ण शक्ति को प्रकाशित न कर केवल लीलोचित शक्ति को प्रकटित कर श्रीराम, नृसिंह, वामनादि रूपों में अवतरित होते हैं और स्वयं भी अवतीर्ण होते हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यपाद ने कहा है—

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानाहो बुधाः ॥

श्रीयशोदा द्वारा लालित-पालित श्रीकृष्ण को ही मैं परम तत्त्व जानता हूँ। जो इनको छोड़कर और कोई परतत्त्व मानते हैं, तत्त्ववेता लोग उन्हें असुर कहते हैं। इसलिए पुष्टिमार्ग का मुख्य उपास्य तत्त्व एवं उन से अभिन्न अष्टाक्षर-मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं मम" ही भजनीय-तत्त्व में निर्धारित किया गया है। -

इसी प्रकार प्रायः समस्त वैष्णवाचार्यों ने भगवान् श्रीकृष्ण को ही परम-उपास्य रूप में स्वीकार किया है, फिर इनकी सर्वमाधुर्य-ऐश्वर्य-मण्डित जन्म-तिथि का परम महत्व क्यों न हो ?

बड़े मजे की बात यह है कि जिस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने पर-तत्त्व स्वरूप का दावा किया है और अपने विभिन्न रूपों की उपासनाओं में अपनी उपासना को ही सर्वतोभाव से श्रेष्ठतम खुले मैदान में छाती ठोक कर कहा है, उस प्रकार और किसी भगवत्-स्वरूप ने करने-कहने का साहस नहीं किया, करें भी कैसे ? कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय॥
मयी सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥

हे अर्जुन ! मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का मूल-कारण हूँ। मेरे सिवाय किञ्चित् मात्र भी दूसरी कोई वस्तु स्वतन्त्र सत्ताधारी नहीं है। यह समस्त विश्व सूत्र में मणियों की भाँति मेरे में पिरोया हुआ है—मेरे ही आश्रित है। तू सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सनातन-कारण मुझे ही जान।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति या उपासना को भी सर्वश्रेष्ठतम रूप में वर्णन किया है। पहले तो (श्रीगीता ९।२) में ब्रह्मज्ञान को राजविद्या एवं गुह्य कहकर वर्णन किया। फिर **"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"।** (गी० १८-६१, ६२) आदि का वर्णन कर अपने अन्तर्यामी-स्वरूप की उपासना कही और उसे **'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।"** इन वचनों में गुह्य से गुह्यतर कहा, अर्थात् अपने निर्विशेष ब्रह्म - स्वरूप की उपासना से अन्तर्यामी-परमात्मा-स्वरूप की उपासना को श्रेष्ठ बताया।

किन्तु यह सब साधारण लोगों के लिए बात थी। अपने प्रियजनों के लिए इसे श्रीभगवान् ने अभीष्ट नहीं समझा। इसलिए आगे बोले—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

हे अर्जुन ! अब तू मेरे सर्व गुह्यतम सार वचनों को सुन ; क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिए तुम्हारे प्रति हितकारी वचन कहता हूँ। तू मुझ में

मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर। यह सब इसलिए कह रहा हूँ कि तू मेरा प्रिय है, मैं शपथ खाकर कहता हूँ, तू मुझे प्राप्त करेगा।

इस प्रकार जीवों को स्वयं अपने उत्कृष्ट उपास्य-स्वरूप तथा अपनी परम श्रेष्ठ उपासना या अपनी प्राप्ति के उपाय बताने वाले श्रीयशोदा - नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण की आविर्भाव-तिथि का क्यों न परम महत्व वेद, पुराण, शास्त्र तथा वैष्णवाचार्यगण मुक्तकण्ठ से निरूपण करें? विशेषतः जब ये एक मात्र अपने भक्तों को सुख देने के लिए प्रकट-लीला को अभिव्यक्त करते हैं।

*

❀ टेरत गोपी-गोप बधाई ❀

—श्रीनारायण शर्मा

पूरण ब्रह्म रूप शिशु आयो, गोकुल नन्द-भवन री माई।
जसुमति-नन्द मुदित भये आजें गल मोतियन हार दियो धाई॥
नन्द महरि के पुत्र भयो री, गोप ग्वालिनी सुनि हर्षाई।
तोरण द्वार चहुंदिशी बांधे जड़ो के बन्धनवार बँधाई॥
विथिन - विथिन, द्वारे - द्वारे, कदली खम्भन की लौनाई।
जमुना जल भरि कलश धराये, ता पै श्रीफल सोहे माई॥
नीरद सजल वरण है जाको, मानो श्याम घटा सी छाई।
कोटिन चन्द्र छटा फीकी भ , नीलमणि हूं गयी लजाई॥
नभ मण्डल में खड़े देवगण, मन आनन्द सुमन बरसाई।
बाजत ढोल, मृदङ्ग, झांझ, डफ, टेरत गोपी-गोप बधाई॥
नन्द भवन पूरण सजि आयो, दीप मालिका सी छबि छाई।
नन्द भवन को खुल्यो खजानों, नारायण दोऊ हाथ लुटाई॥

卐

श्रीवृन्दावन-स्वरूपोत्थान परिभावना

—श्रीसेवक शरणजी 'संयोजक'

श्रीवृन्दावन धाम एक वन है—नगर नहीं !

श्रीवृन्दावन धाम एक प्राचीनतम उपासना-स्थली है, उपासना मन्दिर है। भारतीय आध्यात्म एवं संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए इसके मूल-स्वरूप तथा परिवेश की समुचित रक्षा आवश्यक है।

आधुनिक विकास एवं सभ्यता की अन्धी दौड़, इसकी गरिमा एवं प्रभाव को तीव्रता से क्षीण एवं नष्ट कर रही है। अतएव, आधुनिक प्रगति की दृष्टि का विवेक-पूर्वक रचनात्मक उपयोग होना चाहिये।

सम्पूर्ण विश्व तथा मानव जाति के गौरव इस **भगवदीय-उपासना मन्दिर** को इसके स्वरूप के अनुरूप ही उपयोग में लाया जाए तथा तदनुरूप ही इसको सजा-सँवार कर रखा जाए।

मानव की उच्चतम अवस्था के प्रतीक इस श्रीवृन्दावन धाम को सुरक्षित तथा सुव्यवस्थित करना एवं रखना **सम्पूर्ण मानव जाति के हित में है।** अतएव आज के प्रबुद्ध, प्रज्ञावान समाज का कर्त्तव्य है कि इस दिशा में गम्भीरता-पूर्वक अग्रसर हों।

मानव की त्रिकोणात्मक अर्थात् शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक सुख-समृद्धि के लिये ही राजनेता, विद्वज्जन, वैज्ञानिक तथा धर्मविद् सदा से ही सचेष्ट रहे हैं। यह त्रिकोणात्मक समृद्धि एक मात्र श्रीवृन्दावन-उपासना की ही देन है।

श्रीवृन्दावन की सहज-संतुलित उपासना-शैली ही संतुलित मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। अतएव मानव को बचाने के लिये **श्रीवृन्दावन के मूल स्वरूप** को **बचाना आवश्यक है।**

श्रीवृन्दावन धाम को **विश्व के आदर्श-उपासना-मन्दिर** के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया जाना चाहिये।

कुछ सुझाव, सूत्र रूप में

१—श्रीयमुना द्वारा आवृत्त पुराने श्रीवृन्दावन को, सुनरख, बेलवन तथा मान-सरोवर सहित **"सुरक्षित वन-प्रदेश"** घोषित किया जाय।

२—लता-वृक्षों के कटाव को रोका जाय।

३—वन्य जन्तुओं और पक्षियों की रक्षा और विकास किया जाय।

४—नवीन वृक्षारोपण तथा उद्यानीकरण भारी मात्रा में हो।

५—पक्के भवनों का निर्माण अत्यन्त मर्यादित हो और प्रत्येक नये एवं पुराने पक्के मकान में कुछ हरियाली की भी व्यवस्था अवश्य हो।

६—कोलाहल पर भारी रोक हो।

७—विद्युत प्रकाश सीमित हो।

८—वायु एवं जल प्रदूषण की कड़ी रोक-थाम हो।

९—मांस, नशीली वस्तु, चाय, धूम्रपान पर पूर्ण प्रतिबन्ध हो।

१०—अस्पताल, कारखाने, आधुनिक शिक्षा संस्थान आदि श्रीवृन्दावन वन-प्रदेश से बाहर सीमा से पर्याप्त दूरी पर हों। निकट में केवल आकस्मिक सेवाओं की सुविधा हो।

११—स्वच्छता एवं पवित्रता की सुन्दरतम व्यवस्था हो।

१२—नाली मोरी की समस्त गन्दगी की बिल्कुल अलग व्यवस्था की जाय।

१३—जल की समुचित व्यवस्था के लिये उचित स्थान पर यमुना बाँध बनाकर श्रीयमुनाधारा का उपयोग किया जाय।

१४—श्रीयमुना के प्राचीन घाटों का जीर्णोद्धार करके मुख्य यमुना-प्रवाह को घाटों पर से ही निकाला जाय। और सुनरख, बेलवन तथा मानसरोवर तक की समस्त खादर की भूमि को कृषि तथा उद्यानों के लिए विकसित किया जाय।

१५—**श्रीवृन्दावन नगर** इस वन-प्रदेश के चारों ओर व्यवस्थित रूप से वृहदाकार में बसाया जाय जिसमें सभी आवश्यक आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हों। यह चक्राकार नगर व्यवस्था, छटीकरा, मथुरा और माँट तीन ओर से स्वतः मुख्य मार्गों से भी जुड़ जायेगी।

१६— मूलतः इसी प्रकार की व्यवस्था सम्पूर्ण व्रज-प्रदेश के लिये भी स्वीकार की जाय जिसमें प्राचीन स्थल तथा वन-प्रदेश सुरक्षित रखकर नागरिक विकास बाह्य परिधि पर हो।

सम्पर्क सूत्र—श्रीवृन्दावन स्वरूपोत्थान परिभावना, द्वारा श्रीहित सेवक सदन, अठखम्भा, श्रीवृन्दावन—२८११२१

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वत्यकेनापि हन्यते ।
ग्राहोउत्पीयानदि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥

"One out of his place is vanquished even by an insignificant foe. An alligator, although very small, drags even the king of elephants under the water,"

—Kamandaki



Orissa Cement Limited

Rajgangpur (Orissa)

Manufacturers of 'KONARK' Brand Cement, Special Cement, Quality Refractories, Soda Ash and Ammonium Chlorids.

ऐसी पुस्तक कभी मत पढ़ो जिससे विषय का लालच बढ़े और पाप में मन जाय, चाहे उसका नाम शास्त्र ही क्यों न हो। बिषयों से मन को हटाने और पाप से बचाने की शिक्षा देने वाली पुस्तक पढ़ो, ऐसी ही बातें सुनो और ऐसे ही स्थान में रहो।

कल्याण-कुंज (शिव) भाग-१, पृष्ठ ४४



डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड

डालमियापुरम-६२१ ६५१ (तमिलनाडु)

मुख्य कार्यालय—हंसालय (११वां एवं १२ वां माला)

१५-बाराखम्भा रोड, नई दिल्ली-११० ००१

'राकफोर्ट' सिमेंट के निर्माता

अनुवाद--श्रीभगवान् ने कहा—हे भारत ! इसलिए अपने हृदय के अज्ञान-जनित संशय को ज्ञान-रूपी तलवार से छेदन कर और निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।।४२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-
पर्वणि श्रीभगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ज्ञान-
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

उक्तेषु मुक्त्युपायेषु ज्ञानमत्र प्रशस्यते ।
ज्ञानोपायन्तु कर्म्मैवत्यध्यायार्थो निरूपितः ।। (२)
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतास्वयं चतुर्थो हि सङ्गतः सङ्गतः सताम् ।।

इति श्रीभगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ।

इस चौथे अध्याय में कहे गए मुक्ति के उपायों में ज्ञान की प्रशंसा की गई है । किन्तु ज्ञान-प्राप्ति का उपाय निष्काम-कर्म निरूपित किया गया है ।।२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय की साधुजन
सम्मत भक्तजनानन्द - दायिनी सारार्थवर्षिणी
टीका का अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ।।४।।

*

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्म्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। १ ।।

सारार्थवर्षिणी-टीका--प्रोक्त ज्ञानादपि श्रेष्ठं कर्म्म तद्दाढर्य सिद्धये ।
तत्पदार्थस्य च ज्ञानं साम्याद्या अपि पञ्चमे ।। (१)

पूर्व्वाध्यायान्ते श्रुतेन वाक्यद्वयेन विरोधमाशङ्कमानः पृच्छति—सन्न्यासमिति । "योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।" इति वाक्येन त्वं कर्म्मयोगेनोत्पन्नज्ञानस्य कर्म्मसन्न्यासं ब्रूषे ; "तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।" इत्यनेन पुनस्तस्यैव कर्म्मयोगञ्च ब्रूषे । न च कर्म्मसन्न्यासः कर्म्मयोगश्चैकस्यैकदैव सम्भवतः स्थितिगतिवद्विरुद्धस्वरूपत्वात् । तस्मात् ज्ञानी कर्म्मसन्न्यासं कुर्य्यात् कर्म्मयोगं वा कुर्य्यादिति त्वदभिप्रायमनवगतोऽहं पृच्छामि-- एतयोर्मध्ये यदेकं श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तन्मे ब्रूहि ।।१।।

अनुवाद--अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! आपने पहले कर्म-संन्यास की बात कही, अब फिर कर्म-योग की बात कह रहे हो ; इन दोनों में जो मेरे लिए कल्याणकारी हो, उस एक को सुनिश्चित रूप से बताईये ।।१।।

तात्पर्य--चतुर्थ अध्याय में ज्ञान की दृढ़ता-सिद्धि के लिए कर्म को ज्ञान से भी श्रेष्ठ कहा गया है । अब इस पाँचवें अध्याय में तत्-पदार्थ का ज्ञान साम्य आदि का वर्णन किया जाएगा ।

चतुर्थ अध्याय के अन्त में श्रीभगवान् ने (श्लोक सं० ४१) में कहा कि जो निष्काम-योग द्वारा कर्म-संन्यास करते हैं, उनके संशय ज्ञान द्वारा छेदन हो जाते हैं, वे आत्म-स्वरूप को जान पाते हैं । इस में कर्म-संन्यास अर्थात् कर्मों के त्याग की बात कही गई है । फिर (श्लोक सं० ४२) श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! निष्काम-कर्मयोग का आश्रय लेकर तू युद्ध के लिए खड़ा हो । इन दो प्रकार के वचनों को सुनकर अर्जुन को इन वचनों में विरोध की आशङ्का हुई ; क्योंकि स्थिति और गति के न्याय से कर्म-संन्यास और कर्मयोग परस्पर विरोधी हैं । एक ही समय में एक व्यक्ति के लिए दोनों का आचरण सम्भव नहीं है । इसलिये अर्जुन ने पूछा—ज्ञानी-व्यक्ति कर्म-संन्यास करे या कर्म-योग ? आप इन में एक बातको सुनिश्चित करके कहिये, जो मेरे लिए कल्याणकारी हो । इस जिज्ञासा के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं—

भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। २ ।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—कर्म्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानिनः कर्मकरणे न कोऽपि दोषः ; प्रत्युत निष्कामकर्मणा चित्तशुद्धिदार्ढ्याज्ज्ञानदार्ढ्यमेव स्यात् ; सन्न्यासिनस्तु कदाचिच्चित्तवैगुण्ये सति तदुपशमनार्थं किं कर्म्म निषिद्धम् ? ज्ञानाभ्यासप्रतिबन्धकन्तु चित्तवैगुण्यमेव, विषयग्रहणे तु वान्ताशित्वमेव स्यादिति भावः ।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले--कर्म-संन्यास तथा कर्म-योग दोनों ही कल्याणकारी हैं, किन्तु इन में कर्म-त्याग की अपेक्षा निष्काम-कर्मयोग ही श्रेष्ठ है ।।२।।

तात्पर्य—श्रीभगवान् ने कहा—कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी-व्यक्ति कर्म करते हैं तो उन्हें कोई दोष नहीं होता, बल्कि निष्काम-कर्म करने से उनके चित्त की शुद्धि दृढ़ होती है, जिससे ज्ञान में भी दृढ़ता आती है । किन्तु जिन्होंने कर्म-संन्यास कर रखा है, उनमें यदि कभी चित्त-विकार उत्पन्न हो आता है, तो उनको उस विकार के उपशम करने के लिए कर्म करना पड़ता है, और कोई चारा नहीं है । ज्ञान-अभ्यास में चित्त का वैगुण्य अति बाधक है । उस अवस्था में जब फिर वे कर्म करते हैं तो वह वमन को भोजन करना हो जाता है—

त्यक्त कर्म को फिर अपनाना पड़ता है, अतः कर्म-संन्यास से निष्कामकर्म-योग श्रेष्ठ ही है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

सारार्थवर्षिणी-टीका--न च सन्न्यासप्राप्यो मोक्षोऽकृतसन्न्यासेनैव तेन न प्राप्य इति वाच्यमित्याह—ज्ञेय इति। स तु शुद्धचित्तः कर्म्मी नित्यसन्न्यासी एव ज्ञेयः। 'हे महाबाहो' इति मुक्तिनगरीं जेतुं स एव महावीर इति भावः ॥३॥

अनुवाद--हे महाबाहो! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है तथा न किसी की आकांक्षा, उसे संन्यास न लेने पर भी शुद्ध-चित्त नित्य संन्यासी ही समझो, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित शुद्ध-चित्त पुरुष अनायास सुख-पूर्वक संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥३॥

तात्पर्य--संन्यास से प्राप्त होने वाला मोक्ष संन्यास के बिना न मिलता हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जो शुद्धचित्त कर्मी है, वही नित्य संन्यासी है। 'महाबाहो' सम्बोधन से यह व्यञ्जित होता है कि मुक्ति नगरी जीतने के लिये वही महावीर है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सारार्थवर्षिणी-टीका--तस्माद्यच्छ्रेय एवैतयोरिति त्वदुक्तमपि वस्तुतो न घटते, विवेकिभिरुभयोः पार्थक्याभावस्य दृष्टत्वादित्याह—सांख्ययोगाविति। सांख्य-शब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना तदङ्गः सन्न्यासो लक्ष्यते। सन्न्यास-कर्म्मयोगौ पृथक् स्वतन्त्राविति बाला वदन्ति न तु विज्ञाः, 'ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी' इति पूर्वोक्तेः, अत एकमपीत्यादि ॥४॥

अनुवाद--मूर्ख पुरुष ही सांख्य (कर्म-संन्यास) तथा कर्म-योग को भिन्न-भिन्न फल देने वाला कहते हैं, पण्डितजन नहीं। उन दोनों में एक का भली प्रकार आश्रय करने पर दोनों का फल जो मोक्ष है, वह प्राप्त हो जाता है ॥४॥

तात्पर्य--श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! इसलिए तू जो कहता है कि 'दोनों में जो कल्याणकारी हो, उसे कहो—यह प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि विवेकी-जन इन दोनों में पृथकता ही नहीं देखते। ज्ञान-निष्ठा वाले सांख्य शब्द से उसके अङ्ग संन्यास को लक्ष्य किया गया है। संन्यास-कर्मयोग पृथक् किंवा स्वतन्त्र है, ऐसा मूर्ख ही कहते हैं विज्ञ नहीं। इसलिये एक का ही आश्रय करना उचित है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

सारार्थवर्षिणी-टीका--एतदेव स्पष्टयति—यदिति। सांख्यैः सन्न्यासेन योगैर्निष्कामकर्म्मणा, वहुवचनं गौरवेण, अतएव तद्द्वयं पृथग्भूतमपि यो विवेकेनैकमेव पश्यति स पश्यति—चक्षुष्मान् पण्डित इत्यर्थः ॥५॥

अनुवाद--सांख्य के द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है, निष्काम-कर्मयोग से भी वही स्थान मिलता है। इसलिये जो सांख्य तथा कर्मयोग को एक ही फलदायक रूप से देखता है, वही वास्तविक द्रष्टा है ॥५॥

तात्पर्य--इस श्लोक में पूर्व कथन को ही स्पष्ट किया गया है। साख्यों तथा निष्काम कर्मों कहकर यहाँ बहुबचन से गौरव प्रकाशित किया गया है। दोनों पृथक् रूप होने पर भी इन्हें जो विवेक द्वारा एक रूप ही देखता है, वही देखता है अर्थात् वही नेत्रवान् पण्डित है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

सारार्थवर्षिणी-टीका--किन्तु सम्यक्चित्तशुद्धिमनिर्द्धारयतो ज्ञानिनः सन्न्यासो दुःखदः कर्म्मयोगस्तु सुखद एवेति पूर्व्वव्यञ्जितमर्थं स्पष्टमेवाह-सन्न्यासस्त्विति। चित्तवैगुण्ये सतीति शेषः। अयोगतः कर्म्मयोगाभावाच्चित्त—वैगुण्यप्रशामककर्म्मयोगस्य सन्न्यासिन्यभावात् तत्रानधिकारादित्यर्थः। सन्न्यासो दुःखमेव प्राप्तुं भवति। तदुक्तं वार्त्तिककृद्भिः—"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। सन्न्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः ॥" इति, श्रुतिरपि—"यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः" इति, भगवतापि—"यस्त्वसंयतषड्वर्गः" (भा० ११।१८।४०) इत्याद्युक्तम्। तस्माद्योगयुक्तः निष्काम-कर्म्मवान् मुनिर्ज्ञानी सन् ब्रह्म शीघ्रं प्राप्नोति ॥५॥

अनुवाद—हे महाबाहो ! निष्काम-कर्मयोग के बिना संन्यास दुःख प्राप्त कराने वाला है, किन्तु निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी होकर शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥६॥

तात्पर्य--सम्यक् प्रकार से चित्तशुद्धि न होने पर ज्ञानी के लिए संन्यास दुःखदायी होता है, किन्तु कर्मयोग ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है अर्थात् सुखदायी होता है—इस पूर्वोक्त अर्थ को यहाँ खोलकर कहा गया है। चित्त-वैगुण्य होने पर संन्यास को दुःखदायी कहा गया है, क्योंकि चित्त-वैगुण्य का प्रशामक है कर्मयोग। उसके अभाव में उस संन्यास में अधिकार ही नहीं रहता। तभी वह संन्यास दुःख-प्राप्ति का कारण हो जाता है। वार्त्तिककार ने कहा है—प्रमादी, अस्थिर-चित्त, दुष्ट तथा कलह में उत्सुक संन्यासी दैव से ही दूषित अन्तःकरण वाले देखे जाते हैं। श्रुति भी कहती है—यदि संन्यासी अपने हृदय की कामजटा को नहीं उखाड़ डालते तो दुःख प्राप्त करते हैं। श्रीभगवान् ने (भा० ११।१८।४०) कहा है--जिसने पाँच इन्द्रियों तथा मन को काबू में नहीं किया है, जिसे न ज्ञान और वैराग्य है, वह त्रिदण्डी संन्यासी दोनों लोकों से हाथ धो बैठता है-इत्यादि। इसलिए योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोगी मुनि ज्ञानी होकर शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त करता है।

शयन-लीला

★

[राग सोरठि वा वरिवे पी० जि०]

पौढ़े दम्पति दै गलबाहीं ।
घन दामिन मानो मिल क्रीड़ति मदन उमङ्गन माहीं ।
हों तो चहत तजूं न एक छिन पै मो बस की नाहीं ।
ललित लड़ैती डारत अंतर पलक पलोछिन माहीं ॥१५॥

[दोहा]

या लीला के सुनें तं उपजे परम अनंद ।
युगल चरण में मन बसै मिटै सकल दुख द्वन्द ॥१६॥

★

द्वितीय शयन-लीला

श्रीलालजी वचन श्रीजी प्रति [राग गौड मल्हार]

अब सुख सेज पधारौ गोरी ।
मुद्यौ दिवस भई प्रगट जामिनी रस लूटौ भरि अङ्क किशोरी ॥
तुम विन पल छिन जिया घबरावै तुम हौ प्राण जीवन धन मोरी ।
ललित लड़ैती वर माँगूँ इक स्वप्नें मान न कीजै भोरी ॥ १ ॥

[राग गौरी]

दिन मुद्यौ भई जामिनिया । रस लूटो नई जुबनिया ।
नव जोवन रूप उजारी । या नई छबि पै बलिहारी ।
ब्रज मोद बढ़ावन कारन । हमरो अवतार बिहारिन ।
हम एक द्वै तन धारौ । जिमि फूल सुगंध न न्यारौ ।
हा देर करौ न किशोरी । अब मानो विनती मोरी ।
भरि अङ्क सुन्दरी भेटौ । दुख ललित लड़ैती मेटौ ॥ २ ॥

[वार्त्तिक]

आप बोलीं नैक धीरज धरौ सोवैंगे ॥ ३ ॥

श्रीलालजी वचन श्रीजी प्रति [ठुमरी वा देश को जि०]

कैसे धीरज धारौं छबीली कैसे धीरज धारौं ।
हाय चलत न कछू बस मेरौ यतन अनेक विचारौं ॥

निशि सिज्जा पै आप पधारौ तन मन धन सब वारौं।
ललित लड़ैती मसकि अङ्ग मिलि मनमथ ताप निवारौं ॥ ४ ॥

[वार्त्तिक]

जब दोऊ महाराज सुख सौं सेज पै पधारे तब सखी बोली ॥५॥

सखी वचन सखी प्रति [राग सोरठि वा ब० पीलू० जि०]

ललिता सुंदर सेज बिछाई।
पौढ़े रसिक मदन मदमाते परस कपोल हरष उपजाई।
आनँद उमगि समात न अङ्गन मसकि अधर चट झट हट जाई।
ललित लड़ैती रूप माधुरी निरखि निरखि छबि दृग न अघाई ॥ ६ ॥

[राग सोरठि वा ब० पी० जि०]

पौढ़े दम्पति महलन माहीं।
हँस रस सुख विलसत हिये हुलसत घन दामिन दीने गलबाहीं।
मणिन जटित भूषण तन पहिरें जामे परत दोउन परछाईं।
चंचल नैन सैन सों बतियाँ लपट अङ्ग फूले न समाईं।
निरखैं रूप अनूप परस्पर मसकि अङ्ग रस लूटत जाईं।
ललित लड़ैती झाँकत रंध्रन युगल नई छबि दृगन अघाईं ॥ ७ ॥

[दोहा]

यह लीला गाई नई पिया प्रिया छबि ऐन।
ललित लड़ैती सुनें जो पावैं चित में चैन ॥ ८ ॥

★

तृतीय शयन-लीला

समाजी वचन [दोहा]

रैन समय निकसी लली ले सङ्ग सखी समाज।
रह न सकै बूझन लगे श्यामा सों व्रजराज ॥ १ ॥

श्रीलालजी वचन श्रीजी प्रति [राग धनाश्री]

प्यारी अब सखियन सङ्ग कितकूँ चली।
मुद्यौ दिवस भई रैन अंधेरी फिरत न कोऊ ग्राम गली।
पौढ़ौ प्राण जीवनी सुख सों बिछी भवन में सेज भली।
करौ रसीली बतियाँ हँसि हँसि ललित लड़ैती भानुलली ॥ २ ॥

[वार्त्तिक]

श्री जी बोलीं--हे प्राणनाथ अबी सिदौस है। सोयवे को समयो नाहिं ॥ ३ ॥

श्रीलालजी वचन श्रीजी प्रति [राग सोरठि वा जं० जि०]

बेगि निकुंज पधारो प्यारी।
ललिता ललते सेज बिछाई शोभा बनी जु न्यारी।
पौढ़ौ सेज करौ सब बतियाँ हँसि हँसि कंठ लगारी।
ललित लड़ैती देर करौ जिन मानों कही हमारी ॥ ४ ॥

[वार्तिक]

जब प्रिया जी ने फिरि उत्तर कछू न दीनो--तब सखी श्री लाल जी की ओर तें बोलीं ॥ ५ ॥

सखी वचन श्रीजी प्रति [राग धनाश्री]

मुद्यौ दिवस भई रैन छबीली मेरी कही तू मान री।
जाय अङ्क मिल निज प्रीतम सों तज दे रिस की बान री।
कहा कहैं सब युवती गाम यह भली लली वृषभाम री।
ललित लड़ैती अजहूं न सोवत बैठी घूँघट तान री ॥ ६ ॥

[वार्त्तिक]

जब आप सखी की विनती करिवे पे हूं कछू न बोलीं फिरि श्री लाल जी वचन ॥ ७ ॥

[राग सोरठ वा बरिवे पीलू० जि०]

अब सोवन की बेर प्राणप्रिय क्यौं एती अवसेर करत हौ।
सखी सहेली करत वीनती काहू की कही चित न धरत हौ।
कहा सोच छाई तुमरे मन बेर बेर मोहि देखि कुढ़त हौ।
ललित लड़ैती तन मन उकलत क्यौं न हृदय संताप हरत हौ ॥ ८ ॥

[खम्माच वा बरिवे पीलू० जि०]

प्राण प्रिया वृषभानु नंदनी बेगि निकुंज पधारो।
कंठ लगाय नैन भरि हेरौ राखौ प्राण हमारो।
पौढ़ो सेज करो रस बतियाँ उद्भव ताप निवारो।
ललित लड़ैती निठुराई तज स्वपने रिस नहिं धारो ॥ ९ ॥

[वार्त्तिक]

तब आप मुसिक्याय गईं--अपने प्रीतम की कही मान शयन भवन को पधारीं ॥१०॥

सखी वचन सखी प्रति [राग मुलतानी वा ब० पी० जि०]

देखौ शयन भवन की रचना आज कछू दरसत छबि भारी।
विद्रुम सेज खचित बहु मणि गण तो शक दरियाई जरतारी।
ताहू पै गद्दा मखमल को कोरन बेलि हू छिक रही न्यारी।
बिछी बरीक बसंत चादर सब सिङ्गार दरसावन हारी।
तकिया सीस कपोल गेंदुवा सबज दुशाला झलक किनारी।
ललित लड़ैती गलबाहीं दै आनन्द सौं पौढ़े पिया प्यारी ॥११॥

[दोहा]

रसिकन हिये बढ़ावनी यह लीला सुखसार।
ललित लड़ैती सुनें तें उतरैं भव तें पार ॥१२॥

चतुर्थ शयन-लीला

[वार्तिक]

एक दिना प्रिया जी ने प्रीतम सों कही--या समय ग्रीष्म ऋतु को है--आज राति कदम के नीचे सोवैंगे--जब श्री लाल जी ने बूझो कौन सौ कदम--आप बोलीं जो महलन में फूल रह्यो है--अच्छो प्यारी--जब राति भई तब श्रीप्रिया जी बोलीं ॥ १ ॥

[राग पीलू]

चलौ पिया वाही कदम तरे सोवैं।
चलत पवन मन मोद बढ़ावन श्रम तन सबरौं ही खोवैं।
सखी सहेली कब सौं ठाढ़ीं बाट तिहारी जोवैं।
ललित लड़ैती तुम बिन पलछिन अति व्याकुल हम होवैं ॥ २ ॥

[वार्तिक]

अर्थात् जो सखी सहेली सेवा में हाजिर हैं ॥ ३ ॥

समाजी वचन [दोहा]

मुद्यौ दिवस भई रैन जब मान्यौ अति आनन्द।
पौढ़े सुख सों सेज पै कदम तरे दोऊ चन्द ॥ ४ ॥

[वार्तिक]

दूरि की ब्रजवासिन जो युगल लाल के दरशनों को चलीं- मारग में अति विकल हैके कहिवे लगीं ॥ ५ ॥

श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी गोस्वामी

यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत।
श्रीगोपालः प्रादुरासीद वशः सन् यत्प्रेम्ना तं माधवेन्द्रं नतोऽस्मि॥

श्रीगोपीनाथ ठाकुर ने जिनको देने के लिए क्षीर के भरे पात्र की चोरी की और अपना नाम "**क्षीर-चोरा गोपीनाथ**" धराया, और प्रेम के वशीभूत होकर श्रीगोपाल जिनके सामने गोप-बालक रूप में साक्षात् प्रकट हुए, उन श्रीमाधवेन्द्र-पुरी गोस्वामीपाद को मैं प्रणाम करता हूँ।

लौकिक लीला में श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी श्रीकृष्णचैतन्यदेव के परम गुरु हैं—गुरु के गुरु हैं। श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी के शिष्य थे श्रीईश्वरपुरी जी, तथा उनके शिष्य थे श्रीमन्महाप्रभु। आपात-दृष्टि से ऐसा लगता है कि 'श्रीचैतन्य-भक्तमाल" में श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी का उल्लेख क्यों? जब कि वे श्रीचैतन्य के भक्त नहीं थे, गुरु थे बल्कि परमगुरु थे।

किन्तु यहाँ इस सिद्धान्त को याद रखना आवश्यक है कि—

कृष्णप्रेमेर एइ एक अपूर्व प्रभाव।
गुरु, सम, लघुके कराय दास्यभाव॥

कृष्ण-प्रेम का एक ऐसा अद्भुत अनुपम प्रभाव है कि जिसमें वह उदय होता है, वह व्यक्ति चाहे श्रीकृष्ण का गुरुजन हो, उनके बराबर का (सखा) हो अथवा उनसे छोटा (दास) हो, उस में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति दास्यभाव रहता है। वह अपने को श्रीकृष्ण का दास ही मानता है। श्रीकृष्ण की व्रज-लीला में श्रीनन्द महाराज के बराबर श्रीकृष्ण का गुरुजन और कोई नहीं हो सकता। वे शुद्ध वात्सल्य की मूर्त्ति हैं, कृष्ण के प्रति उनका ईश्वर-ज्ञान तीनों काल नहीं है, कृष्ण-प्रेम उन में भी दास्यभाव का अनुसरण कराता है—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥

—श्रीभागवत (१०।४७।६६)

श्रीनन्द महाराज ने श्रीउद्धव जी को, जब वे मथुरा लौटने लगे, तब कहा "हे उद्धव! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मन की एक-एक वृत्ति, एक-एक सङ्कल्प श्रीकृष्ण के चरणकमलों के ही आश्रित रहे। उन्हीं की सेवा के लिये ही हमारी वृत्ति और हर सङ्कल्प हो। हमारी वाणी नित्य-निरन्तर उन्हीं के नामों का उच्चारण करती रहे और शरीर उनको प्रणाम करने में, उन्हीं की आज्ञा पालन और सेवा में लगा रहे।" इसी प्रकार श्रीबलराम जी आदि समस्त गुरुजन, मथुरा-द्वारका के सब परिकर, ब्रह्मा-शिव आदि भगवदवतारगण भी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सदा दास्यभाव रखते हैं।

इसी प्रकार नवद्वीप-लीला में समस्त गुरुजनों अर्थात् माता-पिता में तो दास्यभाव अनेक स्थानों पर स्पष्ट दीखता ही है, कृष्णप्रेम-दीक्षा प्रदाता गुरु श्रीईश्वरपुरी गोस्वामी तथा संन्यास-प्रदाता गुरु श्रीकेशव भारती जी में भी श्रीकृष्ण-स्वरूप श्रीकृष्णचैतन्य के प्रति दास्यभाव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

श्रीमन्महाप्रभु गया-यात्रा पर गये। चक्रवेड़ पर, जहाँ श्रीविष्णु-चरण-कमलों के दर्शन हैं, वहाँ श्रीचरण-दर्शन एवं पूजा करते ही वे प्रेमाविष्ट हो उठे। शरीर में प्रेम के लक्षण स्वेद-कम्प-रोमाञ्च आदि हो उठे, नेत्रों से अजस्र अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। दैवयोग से वहाँ श्रीईश्वरपुरी गोस्वामी आ पहुँचे। श्रीपुरी के दर्शन करते ही श्रीमहाप्रभु ने उन्हें नमस्कार किया और अपनी तीर्थ-यात्रा को सफल माना। अनेक कृतज्ञता जनाई। श्रीमन्महाप्रभु नवद्वीप में उनके दर्शन कर चुके थे—पूर्व परिचित थे।

श्रीमन्महाप्रभु के वचन सुनकर श्रीपुरीपाद बोले—

येन आजि आमि शुभ स्वप्न देखिलाङ।
साक्षाते ताहार फल एई पाइलाङ॥
सत्य कहि, पण्डित ! तोमार दरशने।
परानन्द - सुख येन पाइ अनुक्षणे॥
सत्य एइ कहि, इथे किछु अन्य नाइ।
कृष्ण - दरशन - सुख तोमा देखि पाइ॥

श्रीचै० भागवत १।१२।५७-६०॥

मैंने जो शुभ स्वप्न आज देखा, उसका साक्षात् फल प्राप्त किया है। पण्डित विश्वम्भर ! आपके दर्शन से परमानन्द-सुख का मैं प्रतिक्षण अनुभव कर रहा हूँ। मैं यह सत्य कह रहा हूँ, कुछ बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कह रहा, आपके दर्शनों में कृष्ण-दर्शन का सुख अनुभव कर रहा हूँ।

अगले दिन फिर श्रीईश्वरपुरी जी श्रीमहाप्रभु के स्थान पर गये और प्रभु ने उन्हें भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। श्रीपाद वृन्दावनदास 'व्यास' लिखते हैं—

हेन कृपा प्रभुर ईश्वरपुरी - प्रति।
पुरीरो नाहिक कृष्ण - छाड़ा अन्य - मति॥

—श्रीचै० भा० १।१२।६०

श्रीमहाप्रभु की अपूर्व कृपा थी श्रीईश्वरपुरी के प्रति। और श्रीईश्वर-पुरीजी भी श्रीमन्महाप्रभु को श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं जानते थे।

इस से स्पष्ट है कि प्रेमदीक्षा-गुरु श्रीईश्वरपुरी भी श्रीमन्महाप्रभु में दास्य-भाव रखते थे, और उन्हें अपना इष्टदेव श्रीकृष्ण मानते थे।

श्रीकेशव भारती जी को जिस समय श्रीमहाप्रभु ने संन्यास देने की प्रार्थना की, तो उन्होंने कहा (श्रीकृष्णदास कविराज के वचनों में)—

भारती कहेन, तुमि ईश्वर अन्तर्यामी।
येई कराइ, सेइ करिब, स्वतन्त्र नहि आमी॥

—श्रीचै० चरि० १।७।२६४॥

प्रभो! आप तो अन्तर्यामी ईश्वर हो, आप जो कुछ करने की आज्ञा दें, मैं वही करने को तैयार हूँ, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ—आपका अनुचर हूँ। अतएव स्पष्ट है कि श्रीमन्महाप्रभु के दीक्षा-गुरु एवं सन्यास-गुरु भी उन में दास्यभाव रखते हैं—उनके गुरुजन होते हुए भी उनकी भक्त-श्रेणी में गणना है।

अब देखिये श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद के विषय में —श्रीमन्महाप्रभु जीव-जगत् को प्रेमभक्ति रूप निज सम्पत्ति को प्रदान करने के लिए अवतीर्ण हुए, उस सङ्कल्प की पूर्त्ति के लिए—(श्रीचै० चरि० १।८।७-८) –

श्री चैतन्य मालाकार पृथिवीते आनि।
भक्ति - कल्पतरु रोपिला सिञ्चि इच्छा पानी॥
जय श्री माधवपुरी कृष्णप्रेम - पूर।
भक्ति - कल्पतरुर तेंहो प्रथम अंकुर॥

श्रीचैतन्यदेव स्वयं माली बने और नवद्वीप में प्रेम-फल का बागीचा लगाना आरम्भ किया। उन्होंने श्रीगोलोक-धाम से भक्ति-कल्पतरु लाकर नवद्वीप की पावन-भूमि में रोपण किया। और अपनी इच्छा रूप पानी से उसे सींचन करने लगे। श्रीमाधवेन्द्रपुरी का हृदय कृष्णप्रेम से परिपूर्ण था। वे उस भक्ति-कल्पतरु के प्रथम अंकुर रूप में प्रकटित हुए।—श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी को इस ही कार्य-सिद्धि के लिए श्रीव्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण ने अपने आविर्भाव से पहले ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण कराया—जैसे हर अवतार में अपने गुरुजनों को पहले भेजते हैं। ये व्रज में दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर रसमयी रागात्मिका-भक्ति के परिपक्व फल कृष्ण-प्रेम को धारण करने वाले कल्पवृक्ष रूप से विराजमान थे—जैसा कि श्रीगौर-गणोद्देश-दीपिका में कहा गया है—(गौ० ग०–२२)—

कल्पवृक्षस्यावतारो व्रजधामनि तिष्ठतः।
प्रीत-प्रयोःवत्सलतोज्ज्वलाख्यफल - धारिणः॥

श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी को श्रीकृष्णभक्ति-पथ का प्रथम अवतारी माना जाता है। इन्होंने कृपा कर श्रीपाद ईश्वरपुरी एवं श्रीपाद रंगपुरी में कृष्ण-प्रेम का सञ्चार किया। गौड़ एवं उत्कल देश को फिर उन सब ने कृष्ण-भक्ति रस में प्लावित किया।

सम्प्रदाय परम्परा में श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी को माध्व-सम्प्रदाय में माना जाता है। श्रीपाद मध्वाचार्य से चौदहवें स्थान पर हैं ये। चौदहवें स्थान पर होते हुए भी इन्हें श्रीकृष्णभक्ति-पथ का प्रथम अवतारी माना गया है ऐसा क्यों? इसका कारण एकमात्र यही प्रतीत होता है कि श्रीपाद मध्वाचार्य से लेकर उनके तेरह शिष्यों तक कोई भी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की उस व्रजप्रेम - रसमयी - भक्ति

या रागानुगा-भक्ति में प्रवृत होने का अधिकारी न था, जिस को प्रदान करने के लिए श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचैतन्य रूप में आविर्भूत हुए थे।

इतिहास तथा श्रीमाध्व-भाष्य भी इसका साक्षी है कि श्रीपाद मध्वाचार्य के इष्ट वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण थे। कर्मापर्ण-पूर्वक चार प्रकार की मुक्तियाँ ही उनका साध्य था, श्रीमद्भागवत सार पञ्चाध्यायी श्रीरासलीला के नायक-नायिका श्री श्रीयुगल-किशोर अथवा श्रीव्रजगोपियों की मधुररसमयी-उपासना उनका अभीष्ट न था। उन्होंने श्रीब्रह्मा को ही परम श्रेष्ठ भक्त माना है। व्रजगोपियों के विषय में उनकी निकृष्ट भावना थी।

अतः व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने व्रज-स्थित भक्ति कल्पतरु-स्वरूप श्रीमाधवेन्द्रपुरी पाद को अवतरित कराया एवं स्वयं भी उनकी परम्परा में आविर्भूत होकर जीव-जगत् को अपनी प्रेम-भक्ति का दान दिया। यही कारण है कि श्री पुरीपाद को श्रीमन्महाप्रभु रोपित भक्ति-कल्पतरु का प्रथम अंकुर माना गया है। अतः गौड़ीय-गोस्वामिवृन्द अपना सम्वन्ध श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी की परम्परा में जोड़ते हैं, श्रीमाध्व से नहीं। वस्तुतः श्रीमाधवेन्द्रपुरी के सम्वन्ध से ही रागानुगा भक्ति एवं प्रेमोत्थ सात्त्विक-विकारों का परिचय भौतिक जगत् को मिला। इस तथ्य का प्रमाण उनके अनेक चरित्रों में हम देखते हैं।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी के श्रीगुरुदेव थे श्रीपाद लक्ष्मीपतिपुरी। श्रीलक्ष्मीपतिपुरी प्रेमप्रदाता श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के मन्त्रगुरु होते हुए भी उनके अत्यन्त कृपापात्र थे। श्रीमन् नित्यानन्दप्रभु तीर्थाटन करते हुए जब पण्डरपुर में पधारे, तो एक विज्ञ-ब्राह्मण उनकी प्रेममयी स्फूर्त्ति का दर्शन कर उन्हें अपने घर ले आया। यह ब्राह्मण श्रीलक्ष्मीपति का शिष्य था। जब श्रीनित्यानन्द प्रभु उसके घर पर रह रहे थे, दैवयोग से श्रीलक्ष्मीपतिपुर भी अपने अनेक शिष्यों के साथ अपने शिष्य उस ब्राह्मण के घर पर आकर ठहरे। श्रीपुरी जी वहाँ सदा श्रीकृष्ण-कथा कहते रहते। इस बार उन्हें एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होने लगा। वे बार-बार अपने उस ब्राह्मण शिष्य से कहते—"मैं अनेक बार तुम्हारे घर पर आकर ठहरा और सदा कृष्ण-कथा कहता था, किन्तु अहो! इस बार तो मुझे कुछ अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा है। ऐसा सुख मुझे कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। मुझे लगता है, यहाँ कोई विशिष्ट-कृष्णभक्त निवास कर रहा है? उस ब्राह्मण के कहा—'गुरुदेव! इसे तो मैं आपकी वलवती कृपा का फल समझता हूँ।" उस ब्राह्मण का ध्यान श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की तरफ तो गया ही नहीं। अनेक दिन ऐसे गुजर गये।

एक दिन रात्रि के समय श्रीवलराम जी के चरित्र का अकेले गान कर रहे थे। प्रेमाविष्ट होकर कहने लगे—"हे श्रीबलराम! मुझ अधम पर कब कृपा करोगे? हे करुणामय! मुझ पर कृपा करो। ऐसा कहते-कहते अधीर होकर वे मूर्च्छित हो गये। वृद्ध ब्राह्मण ने जैसे-तैसे उन्हें स्थिर किया और सुला दिया।

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः *

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥
नारायण! जगन्नाथ! वासुदेव! जनार्दन!
इतीरयन्ति ये नित्यं ते वै सर्वत्र वन्दिताः॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, सितम्बर १९८२ { अंक ९

पालने झूलैं

कीरति-कुंवरि पालने झूले।
मृदुमुसकान मनोहर चितवन, निरखि निरखि मुख रानी फूले॥
ऐसो कौन दिवस ह्वै हेली प्राणनाथ व्रज-जीवन मूले।
ललितलड़ैती नयनन निरखौं करत विहार कालिन्दी कूले॥

—स्वामी श्रीललितलड़ैती जी

---

*हे हृषीकेश! आपके नाम-कीर्त्तन से केवल मैं ही आनन्द अनुभव नहीं करता हूँ, उससे सम्पूर्ण संसार सन्तुष्ट और अनुरागयुक्त होता है, यह यथार्थ बात है। राक्षस भी आपके नाम के प्रभाव से शंकित होकर दूर भाग जाते हैं, योग-तप मन्त्रादि से सिद्धि प्राप्त करने वाले महापुरुष भी आपका नाम सुनते ही नमस्कार करते हैं॥ हे नारायण! हे जगन्नाथ! हे वासुदेव! हे जनार्दन!—इस प्रकार जो नामोच्चारण करते हैं, वे लोग सर्वत्र पूजनीय होते हैं।

श्रीहरिभक्तिविलास ११।१९९-२००

※ श्रीवृन्दावनेशौ जयतः ※

श्रीमद्रूपगोस्वामि विरचितम्

कार्पण्य-पंजिका-स्तोत्रम्

गवेषयन्तावन्योन्यं कदा वृन्दावनान्तरे ।
संगमय्य युवां लप्स्ये हारिणं पारितोषिकम् ॥३५॥

हे वृन्दावनेश्वर-युगल ! श्रीवृन्दावन में आप जब एक दूसरे को खोज रहे होंगे, तब कब मैं आप दोनों को मिला दूँगा, और मनोहर पदकादि का पुरस्कार प्राप्त करूँगा ? ।।३५।।

पणीकृतमिथोहारलुञ्चनव्यग्रहस्तयोः ।
कलिं द्यूते विलोकिष्ये कदा वां जितकाशिनोः ॥३६॥

पण में लगाये हुए हार को परस्पर खींचते-झपटते हुए आप दोनों को चौसर खेल में कब मैं कलह करता हुआ देखूँगा ? जब कि श्रीस्वामिनी कह रही होंगी—'मैं जीती हूँ', और आप कह रहे होंगे—"मैं जीता हूँ" ॥३६॥

कुञ्जे कुसुमशय्यायां कदा वामर्पिताङ्गयोः ।
पादसंवाहनं हन्त जनोऽयं रचयिष्यति ॥३७॥

श्रीवृन्दावन की कुञ्ज में कुसुमशय्या पर जब आप दोनों शयन कर रहे होंगे, तब अहो ! कब मैं आपके चरण-संवाहन करूँगा ? ॥३७॥

कन्दर्पकलहोद्धट्टत्रुटितानां लतागृहे ।
कदा गुम्फाय हाराणां भवन्तौ मां नियोक्ष्यतः ॥३८॥

लता-भवन में कन्दर्प-कलह की चञ्चलता में अपने टूट गए हारों को पुनः पिरो देने की कब मुझे आप आज्ञा प्रदान करेंगे ? ॥३८॥

केलिकल्लोलविस्रस्तान्हन्त वृन्दावनेश्वरौ ।
कर्हि बर्हिपतत्रैर्वां मण्डयिष्यामि कुन्तलान् ॥३९॥

हे वृन्दावनेश्वर-युगल ! क्रीड़ा-उत्साह में आप के बिखरे हुए केशों को कब मैं मोर-पुच्छादि से फिर सुसज्जित करूँगा ? ॥३९॥

कन्दर्पकेलिपाण्डित्यखण्डिताकल्पयोरहम् ।
कदा वामलिकद्वन्द्वं करिष्ये तिलकोज्ज्वलम् ॥४०॥

कन्दर्प-केलि-नैपुण्य में जब आप दोनों की वेश-रचना खण्डित हो जाएगी, तब कब मैं आप दोनों के माथे पर उज्ज्वल तिलक-रचना करूँगा ? ॥४०॥

देवोरस्ते वनस्रग्भिर्दृशौ ते देवि कज्जलैः।
अयं जनः कदा कुञ्जमण्डपे मण्डयिष्यति ॥४१॥

हे देव-कृष्ण ! कुञ्ज-मण्डप में आपके वक्षस्थल को पुष्पमालाओं से कब मैं विभूषित करूँगा ? और हे देवि राधिके ! आपके नेत्रों में कब मैं कज्जल लगाने का सौभाग्य प्राप्त करूँगा ? ॥४१॥

जाम्बूनदाभताम्बूलीपर्णान्यवदलय्य वाम् ।
वदनाम्बुजयोरेष निधास्यति जनः कदा ॥४२॥

हे प्रिया-प्रीतम ! स्वर्णकान्तियुक्त ताम्बूल को लगा कर मैं कब आप दोनों के मुख-कमल में अर्पण करूँगा ? ॥४२॥

[ऐसे-ऐसे दुर्लभ अभीष्टों की प्रार्थना करने के वाद, श्रीगोस्वामदिपाद का जब अपनी अयोग्यता पर ध्यान जाता है, तब कहते हैं]—

क्वासौ दुष्कृतकर्माहं क्व वामभ्यर्थनेदृशी।
किं वा कं वा न युवयोरुन्मादयति माधुरी ॥४३॥

हे युगलकिशोर ! मैं कैसा दुष्कृती—पापी ! और कहां आप ऐसे दिव्य-गुणागणालंकृत ! मेरे लिये उक्त अभीष्टों की प्राप्ति अति असम्भव है। (किन्तु इसमें मेरा दोष क्या है ?) आपकी रूप-माधुरी भला किस लिए, और किस व्यक्ति को पागल नहीं बना देती है ? ॥४३॥

[माधुरी की स्तुति सुनकर श्रीयुगलकिशोर को मन्द मुसकराता देखकर कहते हैं]—

यथा वृन्दावने जन्तुरनर्होऽप्येष वास्यते ।
तथैव कृपया नाथौ सिद्धिं कुरुतमीप्सितम् ॥४४॥

आपकी जिस कृपा को प्राप्तकर यह अयोग्य जीव भी इस श्रीवृन्दावन में वास कर रहा है, हे नाथ ! उसी कृपा द्वारा ही मेरे समस्त अभीष्टों को परिपूर्ण कीजिए ॥४४॥

[इस स्तोत्र के पाठ मात्र से प्रेमसिद्धि प्राप्त होती है—ऐसी फल-श्रुति का वर्णन करते हैं]—

कार्पण्यपञ्जिकामेतां सदा वृन्दाटवीनटौ ।
गिरैव जल्पतोऽप्यस्य जन्तोः सिध्यतु वाञ्छितम् ॥४५॥

इस कार्पण्य-पञ्जिका (दैन्य को विस्तार करने वाले) स्तोत्र का जो व्यक्ति केवल वाणी से पाठ करेगा, उसके सब मनोभीष्ट सिद्ध हो जाएंगे, तब जो मन से श्रद्धापूवक इसका पाठ करेगा, उसके विषय में तो कहना ही क्या है ?—उसे वृन्दावननटयुगल में परम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति होगी ही ॥४५॥

श्रीराधा-जनमबधाई

आजु वृषभान के आनन्द ।
वृन्दावन की रानी राधा प्रगटी आनन्द-कन्द ।।
जसुदादिक आईं सब गोपी प्रमुदित आनन्दचन्द ।
गोधन गाइ सिंगारि लै आये व्रजपति बाबा नन्द ।।
फूले व्रजवासी सब नाचत प्रफुलित गावत छन्द ।
माखन दूध दही को कादौं तन कुमकुम मकरन्द ।।
देत परस्पर आभूषन अरु हाटक सुरभि अमन्द ।
प्रगट भये सुख पुन्ज व्यास के दूरि भये दुखद्वन्द ।।

—श्री हरिरामजी व्यास

●

श्रीराधानाम

राधा रासेश्वरी रासवासिनी रसिकेश्वरी ।
कृष्ण प्राणाधिका कृष्णप्रिया कृष्णस्वरूपिणी ।।
कृष्णवामाङ्ग सम्भूता परमानन्द-रूपिणी ।
कृष्णा वृन्दावनी वृन्दा वृन्दावनविनोदिनी ।।
चन्द्रावली चन्द्रकान्ता शरच्चन्द्रनिभानना ।
नामान्येतानि साराणि तेषामभ्यन्तराणिच ।।

श्रीश्यामा-श्याम स्तोत्रावली

श्रीभक्तिसन्दर्भः

विश्व में ऐसा कौन प्राणी है, जो निखिल आनन्दों के मूल-आश्रय, निरुपाधि, परम प्रेमास्पद सर्वलोक सुखकारी सद्गुण रत्नालंकृत एवं जिनकी लीला सुधा सब का हित करने वाली है—ऐसे श्रीलीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तथा उनके प्रिय भक्तजनों में प्रीति किये विना रह सकता है ? किन्तु जिनका उन श्रीपुरुषोत्तम एवं भक्तों के प्रति द्वेष है, उसके कारण को मेरी बुद्धि विवेचन करने पर भी नहीं खोज पाती। अतएव ब्रह्मा आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त अदुष्ट अथवा दुष्ट सब ही श्रीभगवान् में गाढ़ भाव से अनुरक्त हैं। इसी बात को श्रीशुकदेव जी ने (भा० १२।२।१-२) में कहा है—

हे राजन् ! श्रीनारद जी कृष्ण-उपासना की लालसायुक्त होकर सर्वदा श्रीकृष्ण-भुजाओं द्वारा रक्षित द्वारका में वास करते थे ॥५४७॥

हे राजन् ! ऐसा कौन मरणशील शरीरधारी पुरुष है जो मुक्त, मुमुक्षु एवं देवगणों के भी उपास्य श्रीमुकुन्द के चरण-कमलों का भजन नहीं करेगा ? ॥५४८॥

गोपाल-तोषणी टीका—सारांश यह है कि जो मध्यम-भागवतगण हैं, उन में श्रीभगवान् के प्रति प्रेम रहता है, भक्तों के प्रति उनका बन्धुत्व—मैत्री रहती है और अज्ञानी और संसार के विषय-भोगों में दुर्लभ मानव शरीर को व्यर्थ करने वाले मायाताप-तप्त जीवों के प्रति उनके मन में कृपा होती है, वह उनका उद्धार चाहते हैं, अपने द्वेषी और भगवान् के द्वेषी व्यक्तियों के प्रति उनकी न कृपा होती है न द्वेष। उनके प्रति वे उदासीन रहते हैं—उनकी ओर मन ही नहीं देते।

उत्तम भागवतों में भगवत् पार्षद देह प्राप्त किए हुए भागवत श्रेष्ठ हैं। जिनके कषाय धुल चुके हैं, वे उत्तम भागवतों में मध्यम हैं तथा मूर्च्छित-कषाय उत्तम भागवतों में कनिष्ठ हैं। भगवत् पार्षद देह प्राप्तों में भी जो फिर उत्तम हैं, उन्हें परमोत्तमोत्तम माना गया है—जैसे श्रीमहादेव जी। मैत्री सब प्रकार के भागवतजनों में रहती है। श्रीमहादेव जी, श्रीशुकदेव जी, श्रीउद्धवादि समस्त उत्तम भागवतों में भी भगवान् एवं भक्तों के प्रति मैत्री भाव रहता है। वे भगवद् द्वेषीजनों को देखकर उन पर क्षुब्ध अवश्य होते हैं—क्योंकि उनके इष्ट-देव श्रीभगवान् से वे द्वेष करने वाले होते हैं, फिर भी उनका भाव श्रीभगवान् के प्रति अक्षुण्ण बना रहता है—उनके मन में यह कभी नहीं आता कि यह दुष्ट श्रीभगवान् का कुछ विगाड़ेगा, बल्कि यही समझते हैं कि श्रीभगवान् इसका उद्धार कर भक्तों के सुख देने वाली किसी लीला का विस्तार करेंगे। अतः उस में भी वे अपने इष्ट की स्फूर्त्ति उपलब्ध करते हैं। क्योंकि चेतन-अचेतन—सब में जब वे अपने इष्ट श्रीभगवान् को देखते हैं—तब वे द्वेषीजन उन चेतन-अचेतनों से कहीं पृथक् तो हैं नहीं।

अतः चाहे उत्तमोत्तम भागवत हों, चाहे उत्तम, विशेषतः मध्यम—सब ही संसारासक्त जीवों के प्रति करुणा एवं मैत्री किसी न किसी भाव में रखते ही हैं ॥१८९॥

१९०—अथ भगवद्धर्माचरणरूपेण कायिकेन किञ्चिन्मानसेन च लिंगेन कनिष्ठं लक्षयति (भा० ११-२-४७)—

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥५४९॥

अर्च्चायां प्रतिमायामेव, न तद्भक्तेषु, अन्येषु च सुतरां न, भगवत्प्रेमाभावात् भक्तमाहात्म्यज्ञानाभावात् सर्वादरलक्षणभक्तगुणानुदयाच्च। स प्राकृतः प्रकृतिप्रारम्भः। अधुनैव प्रारब्धभक्तिरित्यर्थः। इयञ्च श्रद्धा न शास्त्रार्थवधारणजाता, (भा० १०।८४।१३)—"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः। यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु" इत्यादि-शास्त्राज्ञानात्। तस्माल्लोकपरम्पराप्राप्तैवेति पूर्ववत्। अतश्चाजातप्रेमा शास्त्रीयश्रद्धायुक्तः साधकस्तु मुख्यः कनिष्ठो ज्ञेयः ॥

अब भगवद् धर्म-आचरण रूप शारीरिक लक्षणों एवं कुछ मानसिक-लक्षणों द्वारा कनिष्ठ-भागवतों के लक्षण प्रदर्शित करते हैं—श्रीभागवत (११।२।४७) में कहा गया है—

जो श्रद्धापूर्वक अर्च्चा-विग्रह में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु हरि-भक्तों में और अन्यजनों में श्रीभगवान् की पूजा नहीं करते, वे प्राकृत-भक्त हैं ॥५४९॥

'अर्च्चायां'—अर्थात् श्रीहरि की मूर्त्ति में वे श्रीहरि की पूजा करते हैं, हरि-भक्तों में नहीं और न अन्यान्य भूतों में। इसका कारण यह है कि उनमें भगवत्-प्रेम का अभाव रहता है, तथा भक्तों की महिमा को भी वे नहीं जानते। भक्त का गुण है सब का आदर करना, यह गुण उन में उदित नहीं होता—इसलिए उनको 'प्राकृत' अर्थात् प्रकृति-प्रारम्भ कहा गया है। अर्थात् उनके स्वभाव में अभी थोड़े समय से ही भक्ति का आरम्भ हुआ है। उन में शास्त्रों के तात्पर्य को जान लेने से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा उदित नहीं होती। जैसे कि श्रीभागवत (१०।८४-१३) में कहा गया है कि जिनकी वात-पित्त-श्लेषा इस त्रिधातुमय शरीर में आत्म-बुद्धि है—अपने को शरीर-मात्र ही जानते हैं, स्त्री-पुत्रादि को ही जो आत्मीय-जन जानते हैं, तथा मृत्तिकादि निर्मित मूर्त्ति में जिनकी पूज्य-बुद्धि है, पानी में ही जिन की तीर्थ-बुद्धि है, तथा जिनकी भागवत् तत्त्व-वेत्ता भक्तों में पूज्य-बुद्धि नहीं है, वे बैल और गधे के समान हैं" (श्लोक ७३५ द्रष्टव्य)—ऐसे लोग शास्त्र के इन वचनों को नहीं जानते या मानते। अतः उनकी श्रद्धा लोक-परम्परा से प्राप्त की गई होती है। इसलिए वे व्यक्ति जिनमें प्रेम का तो उदय हुआ नहीं, किन्तु

शास्त्रीय श्रद्धायुक्त होकर जो भक्ति का साधन कर रहे हैं, वे साधक ही मुख्य कनिष्ठ-भागवत जानने चाहिये ॥१९०॥

१९१—अथ टीका, "पुनरष्टभिः श्लोकैरभ्यर्हितत्वात् उत्तमस्यैव लक्षणान्याह—गृहीत्वापि" इत्येषा। तथाहि (भा० ११।२।४८)—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥५५०॥

पूर्वोक्तप्रकारेण तदाविष्टचित्तो न गृह्णाति तावदिन्द्रियैरर्थान् गृहीत्वापीत्यपि-शब्दार्थः। इदं विश्वम्, मायां बहिरङ्गशक्तिविलासत्वाद्धेयमित्यर्थः। अत्रापि कायिक-मानसयोः साङ्कर्य्यम्।

श्री श्रीधरस्वामी ने टीका में लिखा है कि उत्तम-भागवत ही सर्व-श्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए पुनः आठ श्लोकों में उनके लक्षणों को कहते हैं—श्रीभागवत (११।२।४८) में कहा गया है—

हे महाराज ! श्रीवासुदेव में आविष्टचित्त जो व्यक्ति इस विश्व को श्रीविष्णु की माया जानकर, इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी उन में अनासक्त रहकर किसी से द्वेष नहीं करता, न किसी को आकांक्षा करता है, वह उत्तम-भागवत है ॥५५०॥

पूर्वोक्त प्रकरणानुसार जिसका चित्त श्रीभगवान् में आविष्ट है, इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता हुआ भी जो ग्रहण नहीं करता अर्थात् उन में आसक्त नहीं होता—यही 'अपि'-शब्द का अर्थ है। इस विश्व को माया अर्थात् श्रीभगवान् की बहिरङ्गा-शक्ति का विलास जानता है—वह उत्तम भागवत है। यहाँ वर्णित लक्षणों में कायिक एवं मानसिक लक्षणों का मिश्रण है ॥१९१॥

१९२—अथ केवलमानसलिङ्गैराह यावत् प्रकरणम् (भा० ११।२।४९)—

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥५५१॥

यो हरेः स्मृत्या देहादीनां संसारधर्मैर्जन्माप्ययादिभिः अविमुह्यमानो न भवति, स भागवतप्रधानः, उक्तञ्च श्रीगीतासु (७-२८)—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥५५२॥

अब इस प्रकरण के शेष पर्यन्त केवल मानस-लक्षणों द्वारा उत्तम भक्तों के लक्षण कहते हैं—

श्रीभागवत (११।२।४९) में कहा गया है—जो श्रीभगवान् श्रीहरि की स्मृति के कारण शरीर का जन्म-मरण, प्राणों की क्षुधा, मन के भय, बुद्धि की

तृष्णा तथा इन्द्रियों के श्रमरूप सांसारिक धर्मों में विमुग्ध नहीं होता, वह ही प्रधान भागवत है ।।५५१।।

जिसको श्रीहरि की निरन्तर स्मृति बनी रहती है, इसलिए शरीर के जन्म-मरण तथा संसार-धर्मों में जो विमोहित, आसक्त एवं आविष्ट नहीं होता, वह प्रधान भागवत है। जैसा कि श्रीभगवद्गीता (७।२८) में भी कहा गया है—

महत्तम भागवतों के दर्शन रूप पुण्यों के कारण जिनके पाप विनष्ट हो गये हैं, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्व तथा मोह से मुक्त होकर दृढ़ निष्ठा-पूर्वक मेरा भजन करते हैं ।।५५२।।

१९३—तथा (भा० ११।२।५०)—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ।।५५३।।

बीजानि वासनाः, वासुदेवैकनिलयो वासुदेवमात्राश्रयः ।

श्रीमद्भागवत (११।२।५०) में कथित है। जिसके चित्त में काम, कर्म तथा बीज अर्थात् कामनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं और जो एक मात्र भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रित है, वही भागवतों में उत्तम भक्त है ।।५५३।।

'बीजानि'—शब्द का अर्थ है वासनाएँ। वासनाओं से रहित जो केवल मात्र श्रीकृष्णाश्रित है वह भक्तों में उत्तम भक्त है ।।१९३।।

१९४—तथा (भा० ११।२।५१)—

न यस्य जन्म - कर्मभ्यां न वर्णाश्रम - जातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ।।५५४।।

जन्म सत्कुलम्, कर्म तपआदि । जातयोऽनुलोमजा मूर्द्धाभिषिक्तादयः, एताभिर्यस्यास्मिन् देहेऽहंभावो न सज्जते, किन्तु भगवत्सेवौपयिके साध्ये एव देहे सज्जत इत्यर्थः, स हरेः प्रियो भागवतोत्तम इति पूर्वेणान्वयः, प्रकरणार्थत्वात् । हरेः प्रिय इति भागवतमात्रवाचि भागवतत्वादेव ।

श्रीभागवत (११।२।५१) में कहा है—जिस में जन्म-कर्म, वर्णाश्रम-धर्म तथा जाति के कारण शरीर में अहङ्कार उत्पन्न नहीं होता, वह श्रीहरि का प्रिय है ।।५५४।।

'जन्म'—अर्थात् मैं श्रेष्ठ-कुल में पैदा हुआ हूँ, कर्म—अर्थात् तपादि; जाति अर्थात् अनुलोमज मूर्द्धाभिषिक्त—ब्राह्मण से क्षत्रिय-स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होना, इन बातों का जिसको अपने शरीर में अहङ्कार नहीं होता, किन्तु भगवत् सेवा के अनुकूल साध्य-देह में अन्तश्चिन्तित-देह में भावानुकूल अभिमान रहता है—अर्थात् मैं दास्य हूँ, मैं प्रिया जी की दासी हूँ, इत्यादि। इस प्रकार का अभिमान

रहता है, वह श्रीहरि का प्यारा भक्त है। यहाँ भागवतत्व के कारण ही वह श्रीभगवान् का प्रिय होता है—ऐसा जानना चाहिए।

१९५—तथा (भा० ११।२।५२)—

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५५५॥

वित्तेषु ममतास्पद मात्रेषु स्वीयं परकीयमिति, आत्मनि स्वः पर इति। अत्र वित्तवदात्मनि च स्वपक्षपातमात्रं निषिध्यते न व्यक्तिभेदः।

जिसको धन-सम्पत्ति में अपना और पराया ज्ञान नहीं है, अपने तथा पराये शरीर में जिसकी भेद बुद्धि नहीं है, जो सर्वभूतों में सुहृदभाव युक्त है तथा शान्तचित्त है, वह भागवतोत्तम है ॥५५५॥

धन-सम्पत्ति आदि जितनी भी ममतास्पद वस्तुएँ हैं, उन में अपने-पराये का भेद जिस में नहीं है, अपना-पराया के भेदरहित है, वह भागवतोत्तम है। यहाँ धन-सम्पत्ति की तरह अपने में स्वपक्षपात मात्र ही निषिद्ध किया गया है, किन्तु व्यक्ति-भेद का निषेध नहीं है ॥१९५॥

१९६—किञ्च (भा० ११।२।५३)—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥५५६॥

अचलनत्वे हेतुः—त्रिभुवनेति। तत्र हेतुः—अजिते हरावेव आत्मा येषां तैर्ब्रह्मप्रभृतिभिः सुरादिभिरपि विमृग्याद्दुर्लभादित्यर्थः।

जिसकी भागवत्-स्मृति त्रिभुवन की राज्य प्राप्ति के लिए भी कभी कुण्ठित नहीं होती, अर्थात् जो उसके प्रति प्रलुब्ध नहीं होता, और जिसका चित्त ब्रह्मादि देवताओं के लिए भी दुर्लभ भगवत् चरणारविन्द से आधे क्षण-मात्र के लिए भी नहीं हटता, वह वैष्णव-श्रेष्ठ है ॥५५६॥

श्रीभगवान् के चरणारविन्द में चित्त की अविचलता के कारण ही वह त्रिभुवन राज्यादि में प्रलुब्ध नहीं होता। ब्रह्मादि देवों के लिए भी दुर्लभ श्रीहरि के चरणारविन्द की स्मृति के कारण उसकी उस त्रिभुवन राज्य की ओर स्मृति जाती ही नहीं ॥१९६॥

१९७—अपि च विषयाभिसन्धिना चलनं कामेनातिसन्तापे सति भवेत्, स तु भगवत्सेवानिर्वृतौ न सम्भवतीत्याह, (भा० ११।२।५४)—

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५५७॥

उरुविक्रमौ च तावङ्घ्री च तयोः शाखा अङ्गुलयः चन्द्रिका तापहारिणी दीप्तिः, तापः कामादिसन्तापः ।

विशेषतः विषयों की अभिसन्धि—लक्ष्य से ही चित्त की विचलता होती है। कामनाओं के सन्ताप से विषयों की ओर अभिसन्धान होता है। किन्तु जो श्रीभगवत् सेवा-सुख में निमग्न है, उसकी सर्व-कामनाएँ नष्ट होकर वह शान्त होता है, अतः वहाँ चित्त की विचलता की सम्भावना ही नहीं रहती। जैसा कि श्रीभागवत (११।२।५४) में कहा गया है—

चन्द्र के उदित होने पर जैसे सूर्य का ताप समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवत्-सेवा परायण व्यक्तियों के हृदय-सन्ताप भी श्रीभगवान् की ज्योतिर्मय पदांगुली-नख मणियों की चाँदनी से दूर हो जाते है, वे संताप फिर कभी भी उत्पन्न नहीं होते ॥५५७॥

श्रीभगवान् की चरण अँगुलियों के नख मणियों की जो कान्ति है, वह ताप-हारिणी है अर्थात् कामादि समस्त सन्तापों को हरण करने वाली है ॥१९७॥

१९८–तथा (भा० ११।२।५५)—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५८॥

टीका च—उक्तसमस्तलक्षणसारमाह, विसृजतीति । हरिरेव स्वयं साक्षाद् यस्य हृदयं न विसृजति, न विमुञ्चति । अवशेनाप्यभिहितमात्रोऽप्यघौघं नाशयति यः सः । तत् किं न विसृजति, यतः प्रणयरसनया धृतं हृदये बद्धम् अङ्घ्रिपद्मं यस्य स भागवतप्रधान उक्तो भवतीत्येषा । अत्र कामादीनामसम्भवे हेतुः—साक्षादिति पदम्, तदुत्तरकालत्वात् साक्षात्कारस्य । तथा हरिरवशाभिहितोऽपीत्यादिना यत्र एतादृशप्रणयवांस्तेनानेन तु सर्वदा परमावेशेनैव कीर्त्तमानः सुतरामेवोघौघनाशः स्यात् इत्यभिहितम् । उक्तञ्च (भा० २।१।११)—"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्" इत्यादि । तत उभयथैव तेषामघसंस्कारो न स्यात्मिष्ट इति ध्वनितम् । अनेन वाचिकलिङ्गमपि निर्दिश्य यद्ब्रूते इत्यस्योत्तरमुक्तम् । प्रकरणेऽस्मिन् गृहीत्वापि" इत्यादीनामुत्तमभागवतलक्षणपद्यानाममीषाम् पृथक्-पृथक् च वाक्यत्वं ज्ञेयम् । तथाभूतभगवद्वशीकारवति भागवतोत्तमे तत्तल्लक्षणानामप्यन्तर्भावात्, क्वचित् द्वित्रादिलक्षणमात्रदर्शनाच्च । तत्रापृथग्वाक्यतायामेकैकवाक्यगतेनैकैकेनैव लक्षणेनायमेव सर्वभूतेष्वित्यादयुक्तो महाभागवतो लक्ष्यते । तत्तद्धर्म्महेतुत्वेन तु विसृजतीत्यादिना सर्वलक्षणसारोपन्यासः । या च तत्रापि स्मृत्या हरेरित्यादिना हेतुत्वेन स्मृतिरुक्ता, तस्या एव विवरणमिदमन्तिमवाक्यमिति ज्ञेयम् । तत्रैकेनैव वाक्येन कृतेऽपि भागवतोत्तमलक्षणे स्पष्टीकरणार्थमेवान्यद्वाक्यमिति समर्थनीयम् । अतएव पृथक्-पृथग् भागवतोत्तम इत्याद्यनुवादोऽपि सङ्गच्छते । पृथग्वाक्यतायान्तु तत्र साक्षाद्भगवत्सम्बन्धो न श्रूयते,

तत्र भागवतपदबलेनैव प्रकरणबलेनैव वा ज्ञेयः। पूर्वोत्तरपद्यस्थस्मृत्येत्यादि पदं वा योजनीयम् । तथात्र पक्षे चापेक्षिकमेवान्यत्र भागवतोत्तमत्वम् । तत्रोत्तरोत्तर-श्रैष्ठ्यक्रमोऽयम् । अर्च्चायामेवेति । न यस्य जन्मकर्म्मभ्यामिति । न यस्य स्वः परः इति । गृहीत्वापीन्द्रियैः इति, देहेन्द्रिय प्राणेति । अस्य संस्कारोऽस्ति, किन्तु तेन विमोहो न स्यादिति मूर्च्छितसंस्कारोऽयं जातनवीनप्रेमांकुरः स्यात् । तथा न काम-कर्मवीजानामित्यस्यैव विवरणम् -- त्रिभुवनविभवहेतवेऽपीति । इयमेव नैष्ठिकी भक्तिर्ध्यानाख्या ध्रुवानुस्मृतिरित्युच्यते । अस्य प्रेमांकुरोऽप्यनाच्छाद्यतयैव जातो-ऽस्ति । अन्यथा तादृशस्मरण-सातत्याभावः स्यात् । अयं हि निर्धूतकषायो निरूढ़-प्रेमांकुर इति लभ्यते । तत ऊर्द्ध्वं साक्षात् प्रेमजन्मतः 'ईश्वरे तदधीनेषु' इति । अस्य मैत्र्यादिकं त्रयमपि भक्तिहेतुकमेवेति, न कषायस्थितिरवगन्तव्या । निर्धूत-कषायमहाप्रेमसूचकस्य 'सर्वभूतेषु' इत्यस्य तु विवरणम् 'विसृजतीति' ।

तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः ।
अर्थपञ्चकविदविप्रो महाभागवतः स्मृतः ॥५५६॥

इति पाद्मोत्तरखण्डोक्तं महत्त्वन्तु अर्च्चनमार्गपराणां मध्य एव ज्ञेयम्, असिद्धप्रीति-त्वात् ।

श्रीभागवत (११।२।५५) में कहा गया है—विवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करने पर समस्त पाप नष्ट कर देने वाले वे स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदय को क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ते हैं, ऐसा व्यक्ति ही भागवत-प्रधान कहा गया है ; क्योंकि उसने प्रेम की रस्सी से उनके चरण-कमलों को बाँध रखा है ॥५५८॥

श्री श्रीधर जी लिखते हैं—पूर्वोक्त भागवतों के समस्त लक्षणों का सार उक्त श्लोक (५५८) में कहा गया है। श्रीकृष्ण ही स्वयं जिसके हृदय को नहीं छोड़ते हैं, श्रीकृष्ण कैसे हैं ? अवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करने से समस्त पापों का नाश हो जाता है। वे क्यों नहीं छोड़ते ?—इसलिए कि प्रेम-रज्जु से उनके चरण-कमल उस भक्त ने अपने हृदय में बाँध रखे हैं—ऐसा भक्त ही भागवतों में प्रधान है।

यहाँ उस भक्त में कामादि वासनाओं की पुनः उत्पत्ति सम्भव नहीं होती उसका कारण बताने के उद्देश्य से "साक्षात्-पद" का प्रयोग किया गया है अर्थात् भगवान् स्वयं हृदय में आकर बँध जाते हैं। एवं फिर उनके नामोच्चारण से प्रभु का साक्षात्कार होने से कामनाएँ एवं उनके बीज रूप संस्कारों के पुनः उदय होने की सम्भावना नहीं रहती। जिसके द्वारा अवश अवस्था में भी नामोच्चारण होने पर ऐसा प्रेम विद्यमान है कि श्रीभगवान् उसके हृदय को नहीं छोड़ सकते, तो यह समझ लेना चाहिए कि वह सर्वदा परम आवेश से ही श्रीभगवान् का नामो-च्चारण करता रहता है और इसलिए उसके समस्त पापराशि भी ध्वंस हो चुके हैं।

श्रीभागवत (२।१।११) में कहा गया है कि हे राजन्! कामी, मुमुक्षु किंवा योगी सब के पक्ष में ही श्रीभगवन्नाम-कीर्त्तन समस्त-भयों का नाश करने वाला है—यह बात निर्णय की जा चुकी है। (श्लोक ३१८ द्रष्टव्य)। अतएव दोनों प्रकार से (नामोच्चारण तथा हृदय में भगवान् के अवस्थित होने से) उन भक्तों के पाप-संस्कार भी नहीं टिक सकते—ऐसा ध्वनित होता है। इस श्लोक द्वारा वाचिक लक्षणों का भी निर्देश किया गया है, अर्थात् यह जो प्रश्न था कि उत्तम भागवत क्या वचन बोलते हैं—इसका भी उत्तर दे दिया गया है कि वह श्रीभगवन्नाम ही सदा उच्चारण करता है।

इस प्रकरण में उत्तम-भागवतों के लक्षणमय "गृहीत्वादि" (५५०) श्लोकों में एक वाक्यता (अभिन्नत्व) और पृथक्-वाक्यता (भिन्नता) भी जाननी चाहिए। क्योंकि भगवद्-वशीकारी भागवतोत्तमों में पूर्वोक्त समस्त लक्षण विद्यमान हैं और कहीं-कहीं केवल दो-तीन ही लक्षण दीखते हैं। इन लक्षणों की एकवाक्यता स्वीकार करते हुए एक-एक वाक्यगत एक-एक लक्षण द्वारा ही सर्वभूतेषु यः पश्येत" (श्लोक १८८) में कहा गया एक महाभागवत ही लक्षित होता है; अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि समस्त लक्षण होने से तो भागवतोत्तम है और केवल दो-तीन लक्षण होने से भागवतोत्तम न होगा। "विसृजति हृदयं न यस्य—श्लोक (५५८) में इससे पहले वाले श्लोकों में कहे गए धर्मों के कारण समस्त लक्षणों का सार वर्णन किया गया है। उन में "स्मृत्या हरे" (५५१) इस श्लोक में भगवद् स्मृति को ही कारण रूप में कहा गया है। और अन्तिम श्लोक 'विसृजति' इत्यादि में उसकी विस्तृत व्याख्या जाननी चाहिए। इस तरह एक श्लोक में उत्तम भागवत के लक्षण कहने पर भी अन्यान्य श्लोकों के वचन उस को स्पष्ट करने वाले हैं—ऐसा समर्थन करना होगा। इसलिए प्रति श्लोक में "वह ही भागवत्तोत्तम है"—इस प्रकार अनुवाद—पुनः पुनः आवृति ही सङ्गत है।

उक्त लक्षणों में पृथक्-वाक्यता स्वीकार करते हुए जिस लक्षण को श्लोक में साक्षात् भाव से भगवत् सम्बन्ध नहीं दीखता, उस लक्षण में "भागवत" यह पद प्रयोग करके अथवा भागवत लक्षणों का प्रकरण समझकर श्रीभगवान् का सम्बन्ध जान लेना चाहिए। अथवा पूर्व तथा परवर्त्ती श्लोकोक्त 'स्मृत्या' इत्यादि पद जोड़कर व्याख्या करनी चाहिए। क्योंकि भगवत् स्मृति ही प्रधान लक्षण है भागवत्तोत्तमों का। जहाँ पृथक्-पृथक् भाव से भागवत-लक्षण निर्णय करना हो, वहाँ आपेक्षिक उत्तमत्व जानना चाहिए। इसलिए उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का क्रम निम्नलिखित प्रकार से जानना चाहिए।

प्रथमतः "अर्च्चायामेव हरये"—(जो मूर्त्ति में ही श्रीहरि का पूजन करता है)—इस कनिष्ठ भागवत-लक्षण से "न यस्य जन्म कर्मभ्याम्"—(अर्थात् जन्म-कर्म वर्णाश्रम-जाति आदि का जिसे अहङ्कार नहीं हैं)—इस लक्षण वाला भागवत श्रेष्ठ है। इस से "गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्"—(अर्थात् इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता हुआ भी जो उन में आसक्त नहीं है—इत्यादि लक्षण युक्त भागवत

श्रीराधा-कृष्ण सम्बन्ध

□ श्रीश्यामलाल हकीम

तत्वांश में तो श्रीराधाजी और भगवान् श्रीकृष्ण एक आत्मा हैं। सच्चिदानन्दघन-विग्रह रसस्वरूप परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं श्रीराधा जी। शक्ति का जो सम्बन्ध शक्तिमान से रहता है, वही सम्बन्ध है परस्पर श्री राधाजी और भगवान श्रीकृष्ण का। शक्ति सदा शक्तिमान को सेवा द्वारा पुष्ट करती है।

एकात्मा अर्थात् अभेद होकर भी लीला-रस का आस्वादन करने के लिये अद्वय-ज्ञानतत्व श्रीभगवान् दो देहों में आत्मप्रकट कर विलास करते हैं। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की आनन्दांश शक्ति का नाम है ह्लादिनी, ह्लादिनी का सार है प्रेम। प्रेम की पराकाष्ठा है महाभाव। उस महाभाव से गठित महाभावस्वरूपिणी हैं श्रीराधाजी, जिनका नित्य अविच्छेद्य एकात्मारूप में सम्बन्ध है भगवान् श्रीकृष्ण से। इसी प्रकार श्रीराधाजी भी अनन्त व्रजगोपियों के रूप में आत्मप्रकट करती हैं। श्रीकृष्ण को अनन्तरस वैचित्री आस्वादन कराने के लिए। अतः व्रजगोपियां श्रीराधाजी से सर्वथा अभिन्न हैं। जहाँ व्रजगोपी-महिमा अथवा प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन आता है, वह वस्तुतः श्रीराधा-विषयक समझना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका में अपने मित्र श्रीअर्जुन के सामने अनेक बार श्रीराधादि-व्रजगोपियों की प्रशंसा किया करते थे, और श्रीअर्जुन भी द्वारिका में रहते हुए श्रीकृष्ण को अन्यमनस्क अनुभव करते थे। सर्वविध वैभव-विलास एवं महाप्रेमवती श्रीरुक्मिणी आदि अष्ट महिषियों के रहते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण का मन व्रजगोपियों के लिये उड़ा-उड़ा सा रहता था। श्रीअर्जुन ने एक बार पूछा —श्रीकृष्ण ! यहां द्वारका में आपका मन क्यों नहीं लगता ? द्वारका में कुछ कमी देखते हैं क्या आप ? श्रीकृष्ण बोले, मित्र ! ठीक है, द्वारका में कुछ कमी नहीं, परन्तु स्वर्ग, भूलोक तथा पाताल—इन तीनों लोकों में केवल यह भूलोक धन्य है क्योंकि इस पर श्रीवृन्दावन धाम विराजमान है। श्रीवृन्दावन की असमोर्ध्व महिमा इसलिये है कि इसमें गोपीगण रहती हैं। गोपीगण परमधन्या हैं, क्योंकि उन गोपियों में मेरी 'राधा' विद्यमान हैं—

त्रैलोक्यो पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं पुरी।
तत्रापि गोपिका पार्थ यत्र राधाभिधा मम ॥

"हे कृष्ण ! तुम्हारी व्रजगोपियों में बड़ी आसक्ति है"—श्रीअर्जुन ने कहा।

श्री भगवान् बोले—अर्जुन ! वस्तुतः मेरी व्रजगोपियों में परमासक्ति है, उसे मैं त्याग भी नहीं सकता।

श्री अर्जुन ने पूछा—आखिर उन राधादिक गोपियों से तुम्हारा सम्बन्ध क्या है ? तुम गोपजातीय हो और वे भी, बस यही या और कुछ ?

श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिये चुप हो गये। श्रीअर्जुन ने पूछा—मित्र ! क्या सोच रहे हो ? क्या लगती हैं वे श्रीराधादिक-गोपी तुम्हारी ?

श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन ! मैं तो यह सोच रहा हूँ कि राधादिक व्रजगोपी मेरी क्या नहीं लगतीं ?

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि हे पार्थ गोप्या किं मे भवन्ति न ॥

वे मेरी सहायक हैं, गुरु हैं, शिष्या भी हैं, मेरी भोग्या हैं, मेरी बान्धव हैं और मेरी स्त्रियाँ भी हैं वे। अर्जुन ! यह मैं तुम्हें सत्य कह रहा हूँ, तू मुझ पर विश्वास कर। वे व्रजगोपीगण मेरी क्या लगती हैं ? यह मैं नहीं बता सकता, वे मेरी क्या नहीं हैं यह तू ही बता; वे तो मेरी सब कुछ हैं।

आश्चर्य में भरकर श्रीअर्जुन ने पूछा—नटवर ! वह कैसे-कैसे ? इधर गुरु और फिर शिष्या ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—देख मित्र ! **सहायक** तो इस तरह कि हर लीला में विशेषतः रासलीला में उन्होंने मेरी सहायता की। गुरु की भांति गोपीगण मुझे हर-समय हितोपदेश करती रहती हैं। श्रीराधा तो प्रेम-शिक्षा में मेरी **गुरु** हैं ही। अर्जुन ! वे मेरे आदेश का कभी उल्लंघन नहीं करती, सदा आनुगत्य में रहती हैं, अतः वे **शिष्या** हैं। वे मुझे हर प्रकार मधुर रस-निर्यास आस्वादन कराती हैं, अतः वे मेरी **भुजिष्या** हैं। मेरे साथ हर समय प्रीतिमय आचरण करने से एवं गोपजातीय होने से वे मेरी **बान्धव** हैं। मित्र ! ये तू जानता है कि नहीं, वे श्रीराधादिक गोपीगण मेरी नित्य स्वकीया—पत्नि हैं, देखने में मेरी परकीया लगती हैं, फिर भी पतिव्रता स्त्री की भाँति वे मुझ में एक निष्ठ हैं। वे मेरी **स्त्री** हुईं कि नहीं ?

अर्जुन ! सबसे बड़ी गुप्त बात तुम्हें आज बताऊँ कि मैंने युद्ध के मैदान में जो तुम्हें 'मन्मना भव मद्भक्तो' तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' आदि का गुह्य से गुह्यतम उपदेश किया था, वह उनके इस अद्भुत आचरण को अनुभव करके तो किया था, जिससे मैं उनके पूरी तरह वशीभूत हो गया था, अब भी उनका मेरे हृदय पर साम्राज्य है। वशीभूत ही नहीं, उनका ऋणियां बन गया और उऋण न हो सकने के कारण व्रज छोड़ कर यहाँ भाग आया। सच तो यह है कि अर्जुन ! मेरी महिमा को, मेरी सेवा को, मेरे वाञ्छनीय विषय को तथा मेरे मनोगत भावों को

जैसे श्रीराधादिक व्रजगोपीजन स्वरूपतः जानती हैं, तू तो क्या, और भी कोई नहीं जान सकता—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति ग पिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ।।

स्वयं श्रीभगवान् के इन वचनों में श्रीराधाजी की असमोर्ध्व, परमोज्ज्वल एवं अनिर्वचनीय महिमा का रहस्य है श्रीराधाजी का श्रीकृष्ण से अनुपम सम्बन्ध। श्रीजानकी जो का दि्य प्रेम है श्रीराघवेन्द्र राम से, श्रीलक्ष्मी जी श्रीनारायण की वक्षविलासिनी प्रेयसी हैं, श्रीपार्वती का श्रीमहादेव के प्रति अविच्छेद्य प्रेम है, किन्तु इन सबका परस्पर प्रेम सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। पति-पत्नि के सम्बन्ध जुड़ने के बाद इनका परस्पर प्रेम उभरता है। उनका प्रेम पति-पत्नि सम्बन्धोचित सीमाओं का कभी उल्लंघन नहीं कर सकता। अन्यान्य भगवत्स्वरूपों एवं उनकी कान्ताओं की बात रहने दीजिये, मथुरा-द्वारका की महिषियों की कृष्णसेवा प्रेमानुगा होते हुए भी सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। श्रीरुक्मिणी आदिक सम्बन्धोचित व्यवहार को छोड़कर कभी भी अन्य प्रकार का व्यवहार श्रीकृष्ण के प्रति नहीं कर सकती। अपने चरण कभी नहीं छूने देती हैं पतिदेव श्रीकृष्ण को। अतः उनकी प्रीति सम्बन्धानुगा है। किन्तु इधर तो निशिदन—

"बैठ्यो पलोटत राधिका पायन"

यह छोड़कर कुछ और काम ही नहीं, कोई और सूझ तथा साध्य ही नहीं है। व्रज के दास्य, सख्य, वात्सल्य रसों के परिकर अतिविशुद्ध होने पर भी अपने अपने सम्बन्ध की मर्यादा में रहते हैं। अतः उनकी प्रीति को भी 'सम्बन्धानुगा' कहा गया है।

किन्तु अपने काय-व्यूह-रूप समस्त व्रजगोपियों में आत्म-प्रकट करने वाली वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा के प्रेम का रूप निराला है। श्रीकृष्ण से इनका कान्त-कान्ता सम्बन्ध दीखते हुए भी सेवा-वासना की प्रधानता है, सम्बन्ध की नहीं। इनका प्रेम या सेवा-वासना सम्बन्ध के पीछे नहीं चलती, बल्कि इनका सम्बन्ध इनकी सेवा-वासना के पीछे चलता है। फिर यह सम्बन्ध एकमात्र श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिए है। श्रीकृष्ण को किसी भी प्रकार सुखी करनें के रास्ते में इन के लिए कोई भी प्रतिबन्ध नहीं। वेद-धर्म लोकधर्म, स्वजन-आर्यपथ तथा देहधर्म भी इनकी कृष्ण सेवा-सारिणी में तनिक भी रुकावट नहीं डाल सकता। अपना कोटि-कोटि प्राणान्त दुख भी श्रीराधाजी को श्रीकृष्ण सुख-सम्पादन में परम-सुखस्वरूप होकर अनुभूत होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा जाने पर व्रज की याद में विशेषतः श्रीराधा जी के विच्छेद-दुख में व्याकुल हो उठे। श्रीउद्धव जी को सान्त्वना के लिये सन्देश देकर उनके पास भेजा। प्रसङ्ग लम्बा है। अन्त में जब श्रीराधा जी से मिलकर श्री

उद्धव जी मथुरा लौटने लगे तो सान्त्वना देते हुए बोले—"महारानी ! मैं जाकर अभी श्रीश्यामसुन्दर को व्रज में भेजता हूँ । आपका यह दिव्योन्माद, विरह-विलाप प्रेम-प्रलाप मुझ से अब सहन नहीं हो रहा है । आपकी समस्त विरह-वेदना मैं श्रीकृष्ण को समझाकर कहूँगा एवं तुरन्त ही वे व्रज चले आयेंगे ।"

श्रीराधा जी दुखित होकर बोलीं—हाय ! उद्धव ! हमने तो ये सुन रखा था कि तू साक्षात् बृहस्पति का शिष्य है और श्रीदामा ने भी मथुरा से लौटकर हमसे कहा था कि एकमात्र उद्धव है जो श्रीकृष्ण हृदय को जानने वाला है । परन्तु महादुख ! तुम्हारी तो विपरीत स्थिति है । तू कृष्ण-हृदय को जरा भी नहीं जानता देख ! तुमने हमें आकर प्राण-प्यारे की दुख-अवस्था कह सुनाई, धिक्कार है कि हम उसे सुनकर भी जी रही हैं, कितना कठोर वज्र के समान हमारा हृदय ! फटा नहीं । परन्तु सावधान ! वहाँ जाकर हमारे दुख की लेश मात्र भी बात मत कहना श्रीश्यामसुन्दर का हृदय अति कोमल, परम-कोमल है, हमारे दुख-दर्द को सुनकर हम जानती हैं कि उनकी क्या दशा होगी कितना असह्य दुख होगा उन्हें । उद्धव ! कहना जाकर "हम अति सुख में हैं, प्रियतम ! जब आप अपनी सुविधा देखो, जब सुख-पूर्वक आना चाहो तब आ जाना ।"

श्रीउद्धव जी लज्जित हो गये, उनके हृदय-नेत्र खुल गये । श्रीराधा-प्रेम के सागर में खो गए, डूब गये । मुँह से कुछ न निकला, निकला तो केवल यही--

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

"मैं तो इस श्रीनन्दव्रज की गोपियों में किसी भी एक गोपी के एक चरण की एक रजकणिका को कोटि-कोटि बार नमस्कार करता हूँ । अहो ! श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी इनका गान त्रिभुवन को परम पावन करने वाला है ।

अतः श्रीराधाजी की इस प्रकार की अनुपम कामानुगा—प्रीति ही सर्वत्र श्लाघनीय है । उनकी कामानुगा—प्रीति के अनुगत उस विभु सर्वांगीण सम्बन्ध की जय हो, हम उसकी वन्दना करते हैं । उनका सम्बन्ध प्रेममय है, प्रेम ही एक मात्र सम्बन्ध है ।

शयन-लीला

★

सखी वचन सखी प्रति

[राग धनाश्री]

कौन सगुन बा चली भवन ते हम सगरी व्रजनारी।
ना इतकी न रहीं उतकी सखी यही सोच जिय भारी ॥
मुद्यौ दिवस रही दूरि नगरिया सोवत होयें बिहारी।
ललित लड़ैती जानि परत नहिं गोविंद की गति न्यारी ॥६॥

[वार्तिक]

तब दूसरी सखी बोली अब जैसे-तैसे तहां चलवो ही बने, मारग में रहवो भलो नहीं। जब तहां पहुंची, तब परस्पर कहिवे लगीं ॥७॥

[राग धनाश्री वा जंगला०जि०

हम कौन को देखि भवन ते चली।
इत मग चलत अधिक श्रम पायो उत पौढ़े दोउ ललन लली।
भीतर धसन न दे काहू को सखी द्वार की बहुत भली।
ललित लड़ैती चलत न कछु बस करम रेख सबहूं ते बली ॥८॥

[राग धनाश्री वा जंगला०जि०]

हम दरशन कारन घरते चली।
रैन बहुत गई मेह बरसत है फिरत पहरुवा गली गली।
कोऊ नहीं आदर दै राखै या पुरवासिनि बहुत भली।
ललित लड़ैती पौढ़े तानपट रसिया मोहन भानुलली ॥९॥

[दोहा]

पौढ़न की लीला नई कही बुद्धि अनुसार।
ललित लड़ैती सुने ते उपजे प्रेम अपार ॥१०॥

❋ इति श्री चतुर्थशयन लीला समाप्त ❋

★

पंचम शयन-लीला

★

समाजी वचन [दोहा]

एक समय ठाड़े गली छैल छलो नन्दलाल ।
ब्रजबाला निकसीं उते करिवे लगे कुचाल ॥१॥

सखी वचन श्रीलालजी प्र० [राग विभास वा जं जि०]

मति ऐंचौ मेरी नई चूनर ।
रोकौ न गैल छैल छूवौ जानि देखत आवत जात नारिनर ।
मै कुलवन्ती नार बिरानी नेक बात चित सोचो सुन्दर ।
तुमतौ ढीठ कहाय छूटि हो ललित लड़ैतो मोहि ननद डर ॥२॥

श्रीलालजी वचन सखी प्र० [राग आसा० वा वरि०पी०जि०]

नेक कृपा करि गोप कुमारी ।
मृदु मुसिक्यान मनोहर चितवन बांकी झांकी हँस दिखरारी ।
या मारग हमरो कर लागत जानत सकल ग्राम नर नारी ।
ललितलड़ैतो जोवन मद सौं कटु बतियां कानैं न सुनारी ॥३॥

सखी वचन श्रीलालजी प्र० [राग काफी वा वरि०पी०जि०]

छांड़ि हमारी गैल नन्द के करै न अधिक कुचाल ।
लपक झपक छूवत हो छतियां भयो अनोखौ लाल ।
बिन छेड़े घूंघट पट झटक निकसन देत न बाल ।
ललितलड़ैती बान भली ना तजो हमारे ख्याल ॥४॥

श्रीलालजी वचन सखी प्र० [राग कालिंगड़ा वा जं को० जि०]

सखी तेरी मृदु मुसिक्यान कटीली ।
बरछी सी तिरछी चितवनियां नैनन कोर नुकीली ।
अद्भुत छबि की रासि मनोहर याही तें गरबीली ।
ललितलड़ैती फूल झरत मुख बतियाँ कहत रसीली ॥५॥

सखी वचन श्रीलालजी प्र० [राग झंझौटी वा जं० जि०]

कौन परी तुमको यह बान ।
हँस हँस घूँघट बदन उघारत तिरछी सैन चलावत बान ।
सूधे मारग जाउ चले तुम दया करौ उर धरौ न पानि ।
ललितलड़ैती पैयां लागूं बढ़ो न बातन रसिया कान्ह ॥६॥

श्रीलालजी वचन सखी प्र० [राग कालिगड़ा वा जं० जि०]

सखी तेरी नैनन कोर कटारी ।
बरछी सी तिरछी चितवनियां नव योबन सुकुमारी।
वारौं कोटि मदन की शोभा या सुन्दर छबि तिहारी ।
ललित लड़ैती एक दृष्टि में मोहै सुर नर नारी ॥७॥

समाजी वचन [दोहा]

हँसी सखी श्रवणन करत रस बतियां मुख श्याम ।
मुदित होय मन ले गई उनको अपने धाम ॥८॥
बतरावत हँस परस्पर मुद्यौ दिवस भई रैन ।
ललित लड़ैती तब सखी बात चलाई सैन ॥९॥

सखी वचन श्रीलाल जी प्र० [राग खट वा ब्रिवे पी० जि०]

मोहन अब जनि देर लगावौ ।
नई रंगोली सेज बिराजो लोचन तृषित अमीरस प्यावौ ।
भृकुटी बंक विलोकनि बांकी बांकी झांकी हँस दिखरावौ ।
ललित लड़ैती बंक सुभायन बांकी बतियां कान सुनावौ ॥१०॥

समाजी वचन [दोहा]

उमग्यो हिये गोपाल को सुन विनती नव बाल ।
ललित लड़ैती सेज पै पौढ़े नैन विसाल ॥११॥
नेह समुद्र अथाह में पलवत बीती रात ।
ललित लड़ैती सखी तें विदा भये उठि प्रात ॥१२॥
उत प्यारी तारे गिनत बीती सगरी रात ।
बैठी मान मचान पै चन्दमुखी उठि प्रात ॥१३॥
आवत महलन लाडिली देखी निपट उदास ।
बार बार बिनती करत प्रीतम भये निरास ॥१४॥
थके मनावत सांवरे गौरांगी छबि रास ।
कोटि यतन करि रिस तजी पुनि बैठि पिया पास ॥१५॥

[वार्त्तिक]

प्यारी ने रिस बिसराय प्रीतम को अङ्क भर लींनो । जब दिन बीत्यो अरु रजनी प्रगट भई तब युगल लाल शयन भवन को पधारे ॥१६॥

सखी वचन सखी प्र० [राग भैरवी सिंधु वा ब०पी०जि०]

नन्दनन्दन वृषभानु नन्दनी आनन्द सों महलन में सोवें ।
हँस हँस रस बतियां बतरावत दृगन कोर चितवत तिरछोहैं ।
गोरे श्याम तन मृदुल मनोहर जाकी मुख छबि रविशशि जोहैं ।
श्यामातुर ललचात अधर रस ललित लड़ैती देवत सोहैं ॥१७॥

[दोहा]

यह लीला छबिधाम की अद्भुत परम पुनीत ।
ललितलड़ैती सुनें ते उपजै हरि सों प्रीत ।।१८।।

षष्ठी शयन लीला

समाजी वचन [दोहा]

गौरांगी वृषभानुजा श्याम नोलमणि बेलि ।
श्रीवृन्दाबन दोऊ मिलि सदा करत रस केलि ।।१।।

[राग दीपचन्दी वा बरिवे पी० जि०]

सारी जरतारी पिया प्यारी सीस उतार पगांत दई ।
सीरी सीरी पवन सुगन्धित रैन उजेरी सोय रही ।।
तनक देर में चौंक उठी दृग नींद न जाने कहां कू गई ।
ललित लड़ैती कित गये मोहन यों कहि ऊँची टेर दई ।।२।।

सखी वचन श्रीजी प्र० [राग दीप चन्दी वा ब०पी०जि०]

रसिक लाल सोवत हैं उतकों हँस हँस अधर सुधारस पीजै ।
हाल भाय पौढ़ पलका पे सजनी आप जगाय ही लीजै ।
जाते बढ़ै प्रीति की बेली सो उपाव बलिवे गहि कीजै ।
ललित लड़ैती तुम सुख विलसो जावें भवन विदा हम दीजै ।।३।।

समाजी वचन [राग जिला बा वरिवे पी०जि०

वेख पिया सोवत महलन में अति हिय हरषी भानु दुलारी ।
कली चमेली बेली फूली रसभीनी रजनी अति प्यारी ।।
मेल कपोल जगाय पिया को हँस हँस प्रीति केलि विस्तारी ।
ललित लड़ैती पुनि पौढ़े दोउ पलका डार बीच फुलवारी ।।४।।

इति षष्ठी शयन-लीला सम्पूर्णम्

इति श्रीदम्पति-विलास चतुर्थ भाग सम्पूर्णम्

श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामी

श्रीलक्ष्मीपति जी स्वप्न में देखते हैं--चान्दी के पर्वत की शोभा को फीका कर देने वाला अति उज्ज्वल स्वरूप, विशाल बाहु, अति मनोहर विस्तीर्ण कमल से नेत्र, एक कान में कुण्डल धारण किए हुए—श्रीबलराम सामने खड़े हैं। अनेक भूषणों से विभूषित अति मधुर-मृदुल विग्रह। धीरे-धीरे लक्ष्मीपति जी से कह रहे हैं--"लक्ष्मीपति! कृष्ण मेरे प्राणपति हैं, तुम उन्हीं के जन्म-जन्म के सेवक हो। सुनो! इस पण्डरपुर में एक ब्राह्मण-कुमार आया हुआ है, अवधूत वेश है उसका। वह तुम्हारे पास दीक्षा लेने आवेगा। लक्ष्मीपति! ध्यान देकर सुनो-यह मन्त्र उसे प्रदान करना।" श्रीबलरामजी ने वह मन्त्र श्रीलक्ष्मीपति के कान में कहा और अन्तर्धान हो गए।

सवेरा होते ही श्रीलक्ष्मीपति जागे, किन्तु चित्त आनन्द और आश्चर्य से पूर्ण था। इतने में श्रीनित्यानन्दप्रभु सामने आ खड़े हुए। अद्भुत तेज! संन्यासी वेश! श्रीलक्ष्मीपति विचार करने लगे—यह कोई साधारण संन्यासी नहीं है। बार-बार नेत्र उठाकर श्रीनिताईचाँद के मुख की ओर देखते हैं। श्रीनिताईचाँद ने दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीलक्ष्मीपति जी ने उन्हें उठाकर आलिंगन किया। श्रीनिताईचाँद ने प्रार्थना की–'प्रभो! मुझे मन्त्र-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।" श्रीपुरी के नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली।' 'मन में सोचते हैं श्रीबलराम आज्ञा का उल्लंघन कैसे करूँ? आपने श्रीनित्यानन्द –बलराम का दिया मन्त्र पुनः उनके कान में दीक्षा-रूप मैं अर्पण किया। दोनों के आनन्द की सीमा न रही।

दूसरे दिन श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु वहाँ से आगे अपनी यात्रा पर चल दिये। श्रीलक्ष्मीपतिजी श्रीनिताईचाँद के देखे बिना व्याकुल हो उठे। रात्रि में श्रीनिताई-चाँद ने श्रीपुरी को फिर दर्शन दिया। सवेरे जागते ही श्रीलक्ष्मीपति जी ने 'हा नित्यानन्द! हा निताईचाँद।" उच्चारण करते-करते शरीर को त्याग दिया।

इस प्रकार जिनके श्रीगुरुदेव पर श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा थी, उन श्री माधवेन्द्रपुरी को यदि श्रीमन्महाप्रभु के भक्तिकल्पतरु का प्रथम अंकुर कहा जाए, तो आश्चर्य क्या है? असङ्गत क्या है? वस्तुतः श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुपाद की कृपा से श्रीलक्ष्मीपतिपुरी तथा श्रीमाधवेन्द्र पुरीपाद ही "श्रीचैतन्यसम्प्रदाय" अथवा श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय का सूत्रपात है, जो इस सम्प्रदाय को माध्वसम्प्रदाय से बिलकुल अलग करता है।

यहाँ उल्लेखनीय है—अनुसन्धाताओं का मत यह भी है कि श्रीमाधवेन्द्रपुरी श्रीमध्वाचार्यजी की शिष्यपरम्परा में ही नहीं थे। वे शंकराचार्य-सम्प्रदाय के पहले अनुगत थे। फिर भगवत्-प्रेरणा से वे वैष्णव संन्यासी हो गए और श्रीराधाकृष्ण उपासना की स्फूर्त्ति उनमें जाग उठी। ऐसा सम्भव भी है, जैसे श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती, श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य आदि शंकर सम्प्रदाय त्याग कर

परम वैष्णव श्रीचैतन्य सम्प्रदायी हो गये।

इस तर्क की पुष्टि में वे यह कहते हैं कि श्रीमाधवेन्द्रजी पुरी-उपाधिधारी थे। पुरी, गिरि, भारती आदि शंकर-सम्प्रदाय की उपाधियां हैं। माध्व-सम्प्रदाय के संन्यासियों की एक मात्र उपाधि है 'तीर्थ'। यहां तक कि अन्य कोई उपाधिधारी संन्यासी यदि माध्वसम्प्रदाय में दीक्षित होता है तो उसे पहली उपाधि का त्याग कर 'तीर्थ' उपाधि ग्रहण करनी पड़ती है। इसलिए श्रीमाध्वेन्द्रपुरी तथा उनके गुरु श्रीलक्ष्मीपति पुरी को कभी माध्व-सम्प्रदाय अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। विषेशत: श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी में साधन-साध्य विषयक कोई भी माध्वसम्प्रदाय का लक्षण वर्त्तमान न था। अत: यह ज्ञात होता है कि श्रीलक्ष्मीपति, श्रीमाधवेन्द्र आदि पहले शकर-सम्प्रदायी थे। भगवत् कृपा से फिर वैष्णव संन्यासी होकर श्री श्रीराधाकृष्ण उपासना में प्रविष्ट हुए। फिर श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु की कृपा से वे श्रीचैतन्य सम्प्रदाय या श्रीगौड़ीय-सम्प्रदाय के प्रथम अंकुररूप में स्वीकृत हुए। उपासना आदि बदल जाने पर भी 'पुरी' उपाधि उनके नामों से जुड़ी ही रह गयी।*

उसी यात्रा-क्रम में श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु से श्रीमाधवेन्द्रपुरी का मिलन हुआ। श्रीपुरी जी के दर्शन करते ही श्रीनिताईचांद मूर्च्छित होकर गिर पड़े, क्योंकि श्रीपुरी थे ही कृष्णप्रेममय-कलेवर। कृष्णरस को छोड़कर उनका कुछ आहार ही नहीं था। श्रीकृष्ण श्रीपुरी के शरीर में निरन्तर विहार करते थे। श्रीनिताईचाँद का दर्शन करते ही श्रीपुरी भी अपने को सम्भाल न सके, बेहोश हो गये।—इस लिए तो बार-बार श्रीमन्महाप्रभु कहा करते थे—

"भक्तिरसे आदि माधवेन्द्र सूत्रधार"।

भक्तिरस के आदि-सूत्रधार हैं श्रीमाधवेन्द्रपुरी। दोनों कृष्णप्रेमियों को बेसुध देखकर श्रीईश्वरपुरी आदि शिष्यगण प्रेमाश्रुओं में नहा गए। थोड़ी देर में बाहर की सुध आई, तो दोनों एक-दूसरे को गले लगाकर बहुत देर तक प्रेम में रोते रहे। अश्रु, कम्प-स्वेद आदि सात्विक विकारों से दोनों का शरीर विभूषित हो रहा था। दोनों ने अपनी यात्रा की सफलता इस मिलन में मानी। अनेक दिन तक दोनों एक साथ रहे और कृष्णकथा परमानन्द में दिन-रात विताने लगे। कब दिन हुआ, कब रात—कोई-नहीं जानता था। श्रीनिताईचाँद के आगे चले जाने पर श्रीपुरी जी भी व्याकुल हो उठे। दोनों का विच्छेद अकथनीय है।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी दूध को छोड़कर और कुछ भी नहीं खाते-पीते थे और वह भी अयाचक-वृत्ति में रहते थे। वे दूध भी किसी से मांगते न थे, अपने-आप आकर यदि कोई दे देता, तो ग्रहण करते थे। एक बार श्रीपुरीगोस्वामी भ्रमण करते-करते व्रजमण्डल में आए। श्रीगिरिराज की परिक्रमा कर रहे थे। सन्ध्या

*श्रीराधागोविन्दनाथ सम्पादित बंगला संस्करण श्रीचैतन्य-भागवत, आदि लीला, अध्याय ७, पयार सं० ११२ की टीका द्रष्टव्य।

हो गई, गोविन्दकुण्ड पर आकर स्नान किया और एक वृक्ष के नीचे बैठ अनेप इष्टदेव का ध्यान् करने लगे। वहाँ ही रात काटने का विचार था। क्या देखते हैं कि एक गोप-वालक दूध का लोटा भर कर सामने खड़ा है। मुसकरा कर वह बोला--

पुरी ! यह लो दूध, तुम इसे पी लो। तुम मांग कर क्यों नहीं खाते हो ? अब ध्यान किस का कर रहे हो ?

श्रीपुरी तो उस गोप-बालक का सौन्दर्य देखकर ही परम तृप्त हो गए। सारा श्रम, भूख-प्यास जाती रही। आप बोले--"बालक। तुम कहाँ रहते हो ? तुमने कैसे जान लिया कि मैं भूखा हूँ ?

गोप-बालक बोला--"बाबा ! मैं एक ग्वाला हूँ, इसी ग्राम में रहता हूँ। हमारे गांव में कोई भी उपवासी नहीं रहता। कोई माधुकरी मांगकर खा लेता है, कोई दूध ही पीकर पेट भर लेता है। जो अयाचक है, उसे मैं आहार देता हूँ।

"तुम्हें कैसे पता लगा कि मैं यहां बैठा हूँ और हूँ भी अयाचक तथा भूखा ? श्रीपुरी ने पूछा।

गोप-बालक ने कहा—"पुरी ! गांव की कुछ स्त्रियां इस कुण्ड पर जल भरने आई थीं, वे तुम्हें यहाँ बैठा देख गई थीं, उन्होंने ही मुझे दूध देकर तुम्हारे पास भेजा है।"

श्रीपुरी कुछ और कहना चाहते थे कि गोप बालक "बोला—पुरी ! मुझे जल्दी जाना है, धार काढ़नी है। मैं तो जा रहा हूँ, यह दूध रखा है पीलो, लोटा फिर आकर ले जाऊँगा।"

इतना कहकर वह तो चल दिया, किन्तु श्रीपुरी का मन चुराकर ले चला। ये बड़े चमत्कृत हो उठे। थोड़ी दूर जाकर वह बालक तो गायब हो गया, न जाने किधर कहां गया। श्रीपुरी ने दूध पान किया। लोटा धो-मांज कर रख दिया और ताकने लगे बाट उस गोप-बालक की।

श्रीपुरी नाम-कीर्त्तन कर रहे थे, नींद कहां ? बहुत रात निकल ग । थोड़ी तन्द्रा सी आई, स्वप्न में वही बालक आता है और श्रीपुरी का हाथ पकड़ कर एक कुञ्ज में ले जाता है। गोपबालक ने कहा—पुरी ! देखो मैं इस कुञ्ज में पड़ा हूँ, यहां सर्दी, गर्मी, बरसात में बहुत दुख पाता हूँ। गाँव के लोगों को लाकर मुझे तुम इस कुञ्ज से बाहर निकालो और गिरिराज के ऊपर मुझे स्थापन करो। मुझे अति शीतल जल से स्नान कराकर मेरा ताप दूर करो। पुरी ! मैं बहुत दिनों से तुम्हारी इन्तजार कर रहा था। मैं तुम्हारी प्रेम-सेवा को अङ्गीकार करूँगा एवं समस्त लोगों को दर्शन देकर उनका उद्धार करूँगा। मेरा नाम है 'गोपाल गोवर्धनधारी।"

श्रीपुरी स्वप्न देख रहे हैं कि साक्षात् उस गोपबालक से वार्तालाप कर रहे हैं, चमत्कृत हो रहे थे। उन्होंने पूछा--गोपाल ! तुम यहाँ कैसे ?

गोपबालक ने कहा—पुरी ! इस ब्रजमण्डल पर जब मुसलमानों ने आक्रमण किया, तब मेरे पुजारियों ने गोवर्धन से नीचे उतार कर मुझे इस कुञ्ज में छिपा दिया था और वे भयभीत होकर यहाँ से भाग गए थे। तभी से मैं इस कुञ्ज में दबा पड़ा हूँ। अब तुम मुझे बाहर करो।—इतना कहकर वह बालक तो अन्तर्धान हो गया।

इतिहास बताता है, भगवान् श्रीकृष्ण की मौषल-लीला में जब यदुवंश का नाश हुआ, तब श्रीकृष्ण के पौत्र श्रीअनिरुद्ध जी के पुत्र श्रीवज्रनाभ तथा कुछ वृद्ध व्यक्ति और स्त्रियाँ बच गईं। वे उस प्रभास क्षेत्र में नहीं गए थे। उन सब को श्रीअर्जुन आकर इन्द्रप्रस्थ में ले गए थे। उन्हें वहाँ बसाया और श्रीवज्रनाभ का अभिषेक किया। उन्होंने फिर श्रीकृष्ण-लीला स्थलों का उद्धार किया। उन्होंने इस श्रीगोपाल मूर्त्ति की श्रीगिरिराज पर स्थापना की थी। मुगलराजा औरंगजेब के अत्याचार एवं मन्दिरों के तोड़-फोड़ के समय पुजारियों ने इस श्रीमूर्त्ति को इस कुञ्ज में लाकर दबा दिया और आप भाग गए थे।

श्रीपुरी जागे और अति दुखी हुए—"हाय ! मैं श्रीकृष्ण को पहचान न सका, दूध देकर चले गए। अब स्वप्न में आकर जो आदेश कर गए हैं, उसे मुझे पालन करना चाहिए।" यह विचार कर श्रीपुरी ग्राम में गए और सब वृत्तान्त वहाँ सुनाया। सब लोग कुठार, कुदाल ले-लेकर इन के साथ उस स्थान पर आए। कुञ्ज को काटा बड़ा ध्यान से। देखा, एक श्रीविग्रह मिट्टी से ढका पड़ा है। मिट्टी हटाई और अनेक लोगों ने मिलकर उस अति भारी—विशाल श्रीविग्रह को कुञ्ज से बाहर निकाला। गिरिराज के ऊपर ले गए नीचे, अगल-बगल में पत्थर लगाकर श्रीगोपाल को पत्थरों के उस सिंहासन पर विराजमान किया। यह प्राकट्य तिथि थी—सम्वत् १५४६, असाढ़-पूर्णिमा।

फिर क्या था—एक आनन्द की लहर चल गई चारों ओर ! हजारों नवीन घड़े गोविन्द कुण्ड में से भर-भर कर होने लगा ब्राह्मणों द्वारा अभिषेक और पूजन। अनेक वाद्य बजने लगे। नृत्य होने लगा। महा-अभिषेक के बाद भोग की सामग्री इकट्ठी होने लगी। असंख्य व्यञ्जन–दूध, दही, मट्ठा, रोटी, दाल, पुरी, पकवान, पायस, अनेक प्रकार की मिठाइयां चारों ओर सजा कर लगाई गईं। इस अन्नकूट को श्रीपुरी ने श्रीगोपाल को समर्पण किया। श्रीगोपाल भी अनेक दिनों के भूखे थे, सब व्यञ्जन उन्होंने प्रेम से खाये। परन्तु उनके श्रीहस्त स्पर्श से व्यञ्जन ज्यों के त्यों फिर प्रसादरूप में रखे रहे। सब ने प्रसाद ग्रहण किया। इस प्रकार सवेरे-शाम श्रीगोपाल का उत्सव होने लगा।

चारों ओर से दर्शनों के लिए लोग आने लगे। अनेक धन, मणि-मुक्ता, सोना-चाँदी भेंट में आने लगा। एक क्षत्रिय सेठ रामदास ने श्रीगोपालजी का मन्दिर निर्माण करा दिया। सेवा होने लगी राजोपचार से। गौड़ देश से दो बंगाली वैरागी ब्राह्मण भी वहां दर्शन करने पहुँचे।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—कृतेनापि कर्म्मणा ज्ञानिनस्तस्य न लेप इत्याह—योगेति । योगयुक्तो ज्ञानी त्रिविधः—विशुद्धात्मा विजितबुद्धिरेकः, विजितात्मा विशुद्धचित्तो द्वितीयः, जितेन्द्रियस्तृतीय इति पूर्व्वपूर्व्वेषां साधनतारतम्यादुत्कर्षः । एतादृशे गृहस्थे तु सर्व्वेऽपि जीवा अनुरज्यन्तीत्याह—सर्व्वेषामपि भूतानामात्मभूतः प्रेमास्पदीभूत आत्मा देहो यस्य सः ।।७।।

अनुवाद योगयुक्त, विशुद्ध बुद्धि, विशुद्ध चित्त, जितेन्द्रिय तथा सम्पूर्ण प्राणियों का प्रेमभाजन पुरुष कर्मानुष्ठान करने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता है ।।७।।

तात्पर्य—कर्मों के करने पर भी ज्ञानी उससे लिप्त नहीं होता । योगयुक्त ज्ञानी तीन प्रकार के हैं—(१) विशुद्धात्मा अर्थात् विजितबुद्धि, (२) विजितात्मा, अर्थात् विशुद्धचित्त, एवं (३) जितेन्द्रिय । इनमें साधन के तारतम्य से पूर्व-पूर्व का उत्कर्ष है । इस प्रकार के गृहस्थ पुरुष के प्रति सभी जीव अनुरक्त रहते हैं, अर्थात् उसका आत्मा-शरीर सभी प्राणियों का आत्मभूत-प्रेमास्पद स्वरूप होता है ।।७।।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।९।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—येन कर्म्मणा लेपस्तं प्रकारं शिक्षयति—नैवेति । युक्तः कर्म्मयोगी दर्शनादीनि कुर्व्वन्नपि, इन्द्राणीन्द्रयार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् बुद्धया निश्चिन्वन् निरभिमानः किञ्चिदप्यहं नैव करोमीति मन्येत ।।८-९।।

अनुवाद—कर्मयोगी तत्त्वज्ञानी होकर देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, लेता तथा आँखों को खोलता-मीचता हुआ भी सब इन्द्रियां अपने-अपने अर्थों में वर्त्त रही हैं—बुद्धि द्वारा यह स्थिर कर, "मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ" ऐसा मानता है ।।८-९।।

तात्पर्य—युक्त—कर्मयोगी दर्शन आदि क्रिया करता हुआ भी 'इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्त्तती हैं,—ऐसी धारणा बुद्धि द्वारा निश्चय करके, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ' इस प्रकार निरभिमानी हो, मन में ऐसी भावना करे ।।८-९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।१०।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—किञ्च, ब्रह्मणि परमेश्वरे मयि कर्म्माणि समर्प्य सङ्गं त्यक्त्वा साभिमानोऽपि कर्म्मासक्तिं विहाय यः कर्म्माणि करोति। पापेनेत्युपलक्षणम्। सोऽपि कर्म्ममात्रेणैव न लिप्यते ॥१०॥

अनुवाद—जो पुरुष परमेश्वर में सम्पूर्ण कर्मों को अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह व्यक्ति पानी से कमल पत्र की तरह, पाप से लिप्त नहीं होता ॥१०॥

तात्पर्य—ब्रह्म अर्थात् मुझ परमेश्वर में कर्मों का समर्पण करके आसक्ति छोड़कर अर्थात् अभिमानी होकर भी कर्मासक्ति का त्याग करके जो कर्म करता है वह किसी कर्म से ही लिप्त नहीं होता। यहाँ पाप-शब्द उपलक्षण मात्र है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—केवलैरपीन्द्रियैरिति। 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादिना हविराद्यर्पणकाले यद्यपि मनः क्वाप्यन्यत्र तदपीत्यर्थः। आत्मशुद्धये मनःशुद्धयर्थम् ॥११॥

अनुवाद—योगीजन चित्तशुद्धि के लिये कर्मासक्ति त्यागपूर्वक शरीर, मन और बुद्धि द्वारा एवं अभिनिवेशरहित होकर केवलमात्र इन्द्रियों द्वारा कर्म का ही आचरण करते हैं ॥११॥

तात्पर्य—केवल इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है अर्थात् जैसे 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि बोलते हुए हविः क्षादि अर्पण की जाती है, उस समय यद्यपि मन और कहीं भी हो तो भी कर्म चलता है। आत्मशुद्धि अर्थात् मन की शुद्धि के लिये ही कर्मयोगी कर्म करता है।

युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—कर्म्मकरणे अनासक्त्यासक्ती एव मोक्षबन्धहेतु इत्याह—युक्तो योगी निष्कामकर्म्मीत्यर्थः। नैष्ठिकीं निष्ठाप्राप्तां शान्तिं मोक्षमित्यर्थः। अयुक्तः सकाम-कर्म्मीत्यर्थः। कामकारेण कामप्रवृत्त्या ॥१२॥

अनुवाद—निष्काम कर्मयोगी कर्मासक्ति त्याग पूर्वक नैष्ठिकी शान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, परन्तु सकामी कामप्रवृत्तिवश फल में आसक्त होकर बँध जाता है ॥१२॥

तात्पर्य—कर्म करने पर अनासक्ति तथा आसक्ति ही मोक्ष और बन्धन के कारण हैं; अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करने पर मोक्ष और आसक्त होकर कर्म करने से बन्धन होता है। युक्त-योगी वह है जो निष्काम कर्मी है। नैष्ठिकी-शांति अर्थात् निष्ठा से प्राप्त शान्ति का अर्थ है मोक्ष। अयुक्त अर्थात् सकामीकर्मी कामकारेण अर्थात् कामप्रवृतिवश बन्धन में आता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—अतोऽनासक्तः कर्म्माणि कुर्व्वन्नपि 'ज्ञेयः स नित्य-सन्न्यासी" इति पूर्व्वोक्तवत् वस्तुतः सन्न्यासी एवोच्यते इत्याह—सर्व्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्य कायादिव्यापारेण बहिष्कुर्व्वन्नपि वशी जितेन्द्रियः सुखमास्ते । कुत्र ?–नवद्वारे पुरे पुरवदहं–भावशून्येदेहे देही उत्पन्नज्ञानो जीवः नैव कुर्व्वन्निति कर्म्मसुखस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वं नैवास्तीति जानन्, न कारयन्निति नापि तेषु स्वस्य प्रयोजनकत्वमित्यपि जानन्नित्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद--जितेन्द्रिय व्यक्ति मन के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को परित्याग करके नव द्वार वाले शरीर में स्वयं न तो कुछ कर्म करता है न ही किसी से करवाता है ऐसा मानता हुआ सुखपूर्वक स्थित रहता है ॥१३॥

तात्पर्य-- इसलिये "अनासक्त होकर कर्म करने वाला व्यक्ति नित्य संन्यासी है, इस पूर्वोक्त वचन के अनुसार अनासक्त कर्मयोगी वास्तविक संन्यासी है। वह सम्पूर्ण कर्मों को मन से त्याग कर शरीर व्यापार द्वारा बाह्य रूप से कर्म करता हुआ भी(वशी) जितेन्द्रिय होकर सुख से रहता है। कहाँ रहता है ? नवद्वार वाले पुर में अर्थात् पुर के समान अहंभाव शून्य देह में। देही से उत्पन्नज्ञान-जीव अभिप्रेत है। कर्मसुख का वस्तुतः मुझ में कर्तृत्व नहीं है, अतः उन कर्मों में अपना कोई प्रयोजन नहीं है--ऐसा वह जानता है ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—ननु च यदि जीवस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वादिकं नैवास्ति, तर्हि परमेश्वरसृष्टे जगति सर्व्वत्र जीवस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्त्वादि-दर्शनान्मन्ये परमेश्वरेणैव बलात्तस्य कर्त्तृत्वादिकं सृष्टम्। तथा सति तस्मिन् वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रसक्ते, तत्र न हि न हीत्याह—न कर्त्तृत्वमिति। नापि तत्कर्त्तव्यत्वेन कर्म्माण्यपि, न च कर्म्मफलैर्भोगैः संयोगमपि, किन्तु जीवस्य स्वभावोऽनाद्यविद्यैव प्रवर्त्तते, तं जीवं कर्त्तृत्वाद्यभिमानमारोहयितुमिति भावः ॥१४॥

अनुवाद—परमेश्वर जीव के न कर्तापन को, न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को रचता है, किन्तु जीव का स्वभाव (अनादि-अविद्या) ही उनका प्रवर्तक है ॥१४॥

तात्पर्य—जीव का वस्तुतः कर्तृत्वादि नहीं है, यदि ऐसा मान लिया जाए तब तो परमेश्वर रचित संसार में सर्वत्र जीव का जो कर्तृत्व (कर्म करना) भोक्तृत्व (फल-भोगना) आदि देखने में आता है, उसे क्या परमेश्वर ने ही बल-पूर्वक बनाया है ?—इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—ऐसा नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर परमेश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष आता है

अर्थात् किसी को परमेश्वर सुख दे रहा है और किसी को दुख दे रहा है—ऐसा दोष आ जाता है। परन्तु परमेश्वर में कभी विषमता-निर्दयता आदि दोष नहीं रहते। इसलिए उक्त श्लोक में स्पष्टतः तीन बार न-न का प्रयोग किया गया है। कर्त्तव्यरूप में कहे गए कर्म तथा उनका फल और कर्मों का फल भोग से संयोग--इन तीनों का कर्त्ता परमेश्वर नहीं है। इनका कर्त्ता या कारण है जीव का स्वभाव अनादि-अविद्या। उस अनादि-अविद्या से कवलित होकर जीव अपने में कर्त्तापने का अभिमान पोषण करता है, उसी के कारण कर्म करता है, फिर उनका फल भी भोगता है। कर्म एवं भोग के संयोग का भी कारण अनादि अविद्या ही है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सारार्थवर्षिणी-टीका---यस्मादसाधु-साधुकर्म्मणामीश्वरो न कारयिता, तस्मादेव न तस्य पापपुण्यभागित्वमित्याह—नादत्ते न गृह्णाति, किन्तु तदीया खलु या शक्तिरविद्या, सैव जीवज्ञानमावृणोतीत्याह—अज्ञानेनाविद्यया। ज्ञानं जीवस्य स्वाभाविकम्, तेन हेतुना ॥१५॥

अनुवाद—सर्वव्यापक परमेश्वर न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म को ग्रहण करता है, किन्तु माया के द्वारा जीव का स्वाभाविक ज्ञान ढका रहता है, इसी कारण जीव मोहित हो रहे हैं ॥१५॥

तात्पर्य—जिस कारण से बुरे तथा भले कर्मों का प्रयोजक (करवाने वाला) परमेश्वर नहीं है, उसी कारण से वह पाप-पुण्य का भागी भी नहीं है। न वह देता है न वह ग्रहण करता है। किन्तु उसकी शक्ति जो अविद्या है, वही जीव के ज्ञान को आच्छादित करती है। इसलिए जीव मोहित होते या बन्धन में पड़ते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—यथा, अविद्या तस्य ज्ञानमावृणोति, तथैवापरा तस्य विद्याशक्तिरविद्यां विनाश्य ज्ञानं प्रकाशयतीत्यर्थः। ज्ञानेन विद्याशक्त्याऽज्ञानमविद्याम्। तेषां जीवानां ज्ञानमेव कर्त्तृ, आदित्यवदिति। आदित्यप्रभा यथान्धकारं विनाश्य घटपटादिकं प्रकाशयति, तथैव विद्ययैवाविद्यां विनाश्य तज्जीवनिष्ठं ज्ञानं परम् अप्राकृतं प्रकाशयति। तन् परमेश्वरो न कमपि बध्नाति, नापि कमपि मोचयति। किन्तु अज्ञानज्ञाने प्रकृतेरेव धर्म्मे क्रमेण बध्नाति मोचयति च। कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-तत्प्रयोजकत्वादयो बन्धकाः, अनासक्तिशान्त्यादयो मोचकाश्च प्रकृतेरेव धर्म्माः। किन्तु परमेश्वरस्यान्तर्य्यामित्व एव प्रकृतेस्ते ते धर्म्मा उद्‌बध्यन्ते इत्येतदंशेनैव तस्य प्रयोजकत्वमिति न तस्य वैषम्य-नैर्घृण्ये ॥१६॥

अनुवाद—किन्तु जिनका ज्ञान द्वारा वह अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस परम तत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है ॥१६॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः *

श्रीहरिनाम

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

अनन्यगतयो मर्त्या भोगिनोऽपि परंतपाः,
ज्ञानवैराग्यरहिता ब्रह्मचर्य्यादिवर्जिताः।
सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः,
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः॥*

वर्ष १२ } गौराङ्गाब्द ४९६, नवम्बर १९८२ { अंक ११

एक रूप अनुपम विस्तार

श्री गौराङ्ग प्रान-आधार।
षोड़स कलापूर्ण पुरुषोत्तम, प्रगट भये नदिया रसधार॥
कलि पावन हरिनाम दान करि, पतितन कौ कीनौ उद्धार।
नित्यानन्द अद्वैत गदाधर, श्रीवासादि रसिक प्रतिपार॥
रूप सनातन भट्ट जीव रघु, रामराय पारषद सुखसार।
भव रोगन के वैद यही सब, औषध बांटी विविध प्रकार॥
दसौं दिसा के दीन हीन जन, इन अनुरागिन कीने तार।
'राधा प्रिया' श्रीराधामाधव, एक रूप अनुपम विस्तार॥

★

* जो व्यक्ति विषय-भोगों में लगे हुए हैं, दूसरों को ताप-दुख देने वाले हैं, ज्ञान-वैराग्य रहित हैं, ब्रह्मचर्यादि व्रतों से रहित हैं, सर्वधर्मों को जिन्होंने त्याग दिया है, किन्तु यदि वे अनन्यगति हैं अर्थात् श्रीहरिनाम को छोड़ कर वे किसी और साधन का आश्रय नहीं करते, तो उनको श्रीहरिनाम मात्र उच्चारण करने से जो गति सुखपूर्वक प्राप्त हो जाती है, उस गति को सब धर्मों का पालन करने वाले व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते। श्रीहरिभक्तिविलास ११।२०१

श्रीमद्‌रूपगोस्वामि-विरचित

उत्कलिका-वल्लरिः

□

नयनकमलमाधुरीनिरुद्धव्रजनवयौवतमौलिहृन्मरालम् ।
व्रजपतिसुतचित्तमीनराजग्रहणपटिष्ठविलोचनान्तजालाम् ॥१२॥

जिन्होंने (श्रीकृष्ण) व्रजनवयुवतियों की चूड़ामणि श्रीराधा जी के चित्तरूपी हंस को अपने नेत्रकमलों की माधुरी से वशीभूत कर रखा है, और जिन (श्रीराधा जी) के नेत्र-कोरों या कटाक्षों का जाल श्रीनन्दराज के पुत्र श्रीकृष्ण के चित्त रूप मच्छ को पकड़ने में अति निपुण या समर्थ है—उन दोनों के चरण-दर्शनों की मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ (यहां नेत्र-सौन्दर्य में दोनों की परस्पर आसक्ति—निर्भरता प्रकाशित की गई है) ॥१२॥

गोपेन्द्रमित्रतनयाध्रुवधैर्यसिन्धुपानक्रियाकलशसम्भववेणुनादम् ।
विद्यामहिष्ठमहतीमहनीयगानसंमोहिताखिलविमोहनहृत्कुरङ्गाम् ॥१३॥

जिन (श्रीकृष्ण) का वेणुनाद श्रीव्रजराज के मित्र श्रीवृषभानुजी की कन्या श्रीराधा जी के धैर्यरूप समुद्र को पान करने में अगस्त्यमुनि के समान है और विद्याओं में श्रेष्ठ वीणागान से जो (श्रीराधा जी) निखिल-विश्वविमोहनकारी श्रीकृष्ण के चित्तरूपी मृग को संमोहित करने वाली हैं, उन श्रीप्रिया-प्रीतम के चरण-कमलों की मैं सेवा प्रार्थना करता हूँ ॥ (यहां गानविद्या द्वारा दोनों की अनुरञ्जकता दिखाई गई है) ॥१३॥

ववाप्यानुषङ्गिकतयोदितराधिकाख्याविस्मारिताखिलविलासकलाकलापम् ।
कृष्णेति वर्णयुगलश्रवणानुबन्धप्रादुर्भवज्जडिमडम्बरसंवृताङ्गीम् ॥१४॥

जिन (श्रीकृष्ण) को किसी समय आनुषङ्गिक केलिक्रिया में श्रीराधाजी ने निखिल केलिकलापों को विस्मरण करा दिया था, तथा जिन (श्रीराधा जी) के समस्त अङ्ग "कृष्ण"—इन दो वर्णों को सुनते ही विस्तृत जड़ता से व्याप्त हो गए थे—उन श्री श्री राधा-कृष्ण की प्राप्ति की मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ (यहां नाम-माधुरी में परस्पर वश्यता दिखाई गई है) ॥१४॥

त्वां च बल्लवपुरंदरात्मज त्वां च गोकुलवरेण्यनन्दिनि ।
एष मूर्ध्नि रचिताञ्जलिर्नमन्भिक्षते किमपि दुर्भगो जनः ॥१५॥

[श्रीवृन्दादेवी की प्रार्थना के बाद अब श्रीनन्दनन्दन तथा श्रीवृषभानुनन्दिनी को सम्बोधन करते हैं कुछ याचना के लिए]—

गोपेन्द्र श्रीनन्दराज के पुत्र हे कृष्ण ! और गोकुल में सर्वोत्तम श्रीवृषभानु जी की कन्या हे श्रीराधे ! यह कोई (मैं) दुर्भागा व्यक्ति अपने मस्तक पर अञ्जलि धर कर नमस्कारपूर्वक आपसे भिक्षा मांग रहा है ॥१५॥

हन्त सान्द्रकरुणासुधाझरीपूर्णमानसह्रदौ प्रसीदतम् ।
दुर्जनेऽत्र दिशतं रतेर्निजप्रेक्षणप्रतिभुवश्छटामपि ॥१६॥.

अहो ! अतिशय करुणामृत निर्झरों से पूर्ण हृदय श्री श्रीयुगलकिशोर ! मुझ दुर्जन पर आप कृपा कीजिए। भिक्षा यह मांगता हूँ कि आप अपने दर्शनों की प्रीति की झलक मात्र--तनक मात्र प्रीति मुझे प्रदान कीजिये ॥१६॥

श्यामयोर्नववयः सुषमाभ्यां गौरयोरमलकान्तियशोभ्याम् ।
कापि वामखिलवल्गुवतंसौ माधुरी हृदि सदा स्फुरतान्मे ॥१७॥

[कैसे दर्शनों की छटा-प्रीति चाहता हूँ ?]—

हे निखिलजन-मन हरण करने में शिरोमणि युगलकिशोर ! परमशोभामय मरकतमणि तुल्य कान्तिधारी श्रीकृष्णस्वरूप तथा षोड़शवार्षिकी श्रीराधाजी का निर्मल स्वर्णकान्तिमय स्वरूप—इस श्यामल-गौर छटा की माधुरी मेरे हृदय में सदा स्फुरित होती रहे ॥१७॥

सर्वबल्लववरेण्यकुमारौ प्रार्थये बत युवां प्रणिपत्य ।
लीलया वितरतं निजदास्यं लीलया बितरतं निजदास्यम् ॥१८।

[उस माधुरी में मग्न होने से तुम्हारा क्या कार्य सिद्ध होगा ?—तो सुनिये]—

हे समस्त गोपों में श्रेष्ठ श्रीनन्दराज एवं श्रीवृषभानुजी के कुमार-कुमारि ! मैं आपको नमस्कार करते हुए प्रार्थना करता हूँ, आप अपने लीला-विलास में मुझे अपने दास्य को प्रदान कीजिये, मुझे अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान कीजिए। (यह कार्य आपके सान्निध्य में ही तो सिद्ध हो सकता है) ॥१८॥

[अब दोनों—श्रीप्रिया-प्रीतम को प्रसन्न देखकर क्रमशः दोनों की कृपा याचना करते हैं]—

प्रणिपत्य भवन्तमर्थये पशुपालेन्द्रकुमार काकुभिः ।
व्रजयौवतमौलिमालिकाकरुणापात्रमिमं जनं कुरु ॥१९॥

हे गोपराज कुमार ! मैं आपको प्रणाम कर विनयपूर्वक यह याचना करता हूँ कि गोकुलरमणीवृन्द-शिरोमणि—श्रीराधाजी का मुझ को कृपा-पात्र बना दीजिये ॥१९॥

भवतीमभिवाद्य चाटुभिर्वरमुर्जेश्वरि वर्यमर्थये ।
भवदीयतया कृपां यथा मयि कुर्यादधिकां बकान्तकः ॥२०॥

हे कार्तिकाधिष्ठात्रिराधे ! मैं आपसे नमस्कार पूर्वक अति विनम्रभाव से

यह श्रेष्ठ वर मांगता हूँ, आप मुझे अपनी दासी बना लीजिये, जिससे श्रीकृष्ण मुझ पर अधिक से अधिक कृपा करें ॥२०॥

दिशि विदिशि विहारमाचरन्तः सह पशुपालवरेण्यनन्दनाभ्याम् ।
प्रणयिजनगणास्तयोः कुरुध्वं मयि करुणां बत काकुमाकलय्य ॥२१॥

[अब श्री श्रीराधा-कृष्ण के परिकरों--सखि-सखाओं को प्रार्थना करते हैं]—

हे श्री युगलकिशोर के सखि-सखाओ ! आप मेरी विनीत-प्रार्थना को सुन कर मेरे ऊपर कृपा कीजिये। आप गोपराजद्वय (श्रीनन्द-श्रीवृषभानुजी)के किशोर-किशोरी के साथ दिशा-विदिशा में विहार करते हुए विचरते रहते हैं — आप उनके लीला-परिकर हैं ॥२१॥

[अब अगले तीन श्लोकों में श्रीप्रिया-प्रीतम के परिकर जो अग्र-अभिवन्दनीय हैं, उनकी प्रार्थना करते हैं]—

गिरिकुञ्जकुटीरनागरौ ललिते देवि सदा तवाश्रवौ ।
इति ते किल नास्ति दुष्करं कृपयाङ्गीकुरु मामतः स्वयम् ॥२२॥

हे देवि ललिते ! गिरि-कुञ्जकुटीरों में क्रीड़ा-विदग्ध श्री श्रीराधा-माधव सदा आपके कहे अनुसार विचरण करते हैं। इसलिए आपके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है, आप स्वयं ही कृपाकर मुझे अङ्गीकार कीजिये ॥२२॥

भाजनं वरमिहासि विशाखे गौरनीलवपुषोः प्रणयानाम् ।
त्वं निजप्रणयिनोर्मयि तेन प्रापयस्व करुणार्द्रकटाक्षम् ॥२३॥

हे विशाखे ! गौर-श्याम-शरीर श्री श्रीराधा-माधव के प्रेमियों में आप श्रेष्ठ प्रेमपात्री हो। इसलिये अपने प्रेमीद्वय श्रीयुगलकिशोर का कृपा-कटाक्ष मुझे प्राप्त कराइये ॥२३॥

सुबल बल्लववर्यकुमारयोर्दयितनर्मसखस्त्वमसि व्रजे ।
इति तयोः पुरतो विधुरं जनं क्षणममुं कृपयाद्य निवेदय ॥२४॥

हे सुबल ! इस व्रज में गोपराज-किशोर-किशोरी श्रीराधा-माधव के तुम प्रिय नर्म सखा हो। इसलिए उन दोनों के आगे मेरे दुख को कृपा कर निवेदन करो ॥२४॥

—क्रमशः

रूप वर्णाश्रम धर्मों का) मैंने आदेश किया है, उसके गुण (सत्त्व शुद्धि आदि) और दोषों को अच्छी प्रकार जानकर उस स्वकीय धर्म का परित्याग करके जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति भी पूर्व लिखित (कृपालु-अद्रोहकृत् आदि) गुणों युक्त साधु की भाँति साधुओं में श्रेष्ठ है ।।५८१।।

टीका श्री श्रीधरस्वामी--मेरे द्वारा वेदरूप से आदेश किए गये हुए भी वर्णाश्रम-धर्मों का परित्याग कर जो मेरा भजन करता है, वह भी पहले कहे गए साधुओं की तरह श्रेष्ठ है। किन्तु अज्ञान तथा नास्तिकता के कारण यदि धर्म का त्यागकर के कोई मेरा भजन करता है, उसको श्रेष्ठ-साधु नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति यह अच्छी प्रकार जानता हैं कि धर्माचरण से चित्त-शुद्धि आदि गुण उत्पन्न होते हैं और धर्माचरण न करने से दोष लगता है—यह सब जान-कर भी जो यह मानता है कि ये स्व-धर्माचरण मेरे (भगवद्) ध्यान में विक्षेप डालने वाले हैं, तथा भगवद्-भक्ति से ही चित्त-शुद्धि आदि सद्गुण आविर्भाव हो जायेंगे"—इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करके जो उन समस्त धर्मों का त्यागकर मेरा (भगवद्) भजन करता है वह साधुओं में श्रेष्ठ है। अथवा "भक्ति के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो चुका है, अतः कर्मानुष्ठान में मेरा अब अधिकार नहीं रहा"—इसलिए सब धर्मों का परित्याग करके जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति सत्तम है।—तात्पर्य यह है कि जब तक भक्ति में दृढ़ विश्वास नहीं उदय हो जाता, तब तक कर्म करना ही चाहिए। और श्रीभगवान् की भक्ति करने से समस्त सिद्धि प्राप्त हो जाती है—ऐसा दृढ़ विश्वास उत्पन्न होने पर कर्मों का फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता—यह जानकर वर्णाश्रम धर्मों का त्याग कर देता है, वह श्रेष्ठ साधु है।

जैसाकि श्रीहयशीर्ष पञ्चरात्र में नारायणव्यूह-स्तव में कहा गया है—जो व्यक्ति विष्णु-भक्ति के वशीभूत होकर, अर्थात् विष्णु-भक्ति को छोड़कर और कुछ भी साधन करने की मेरी क्षमता नहीं है, यह निश्चय कर लोक-वेद धर्मों को परित्याग कर देता है और परमाश्रयतत्व श्रीभगवान् का ध्यान करता है, उसके चरणों में मेरा नमस्कार है ।।५८२।।

'आज्ञायैवं गुणान'--(श्लोक सं० ५८१) की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—यद्यपि भक्त में उन-उन पूर्व-लिखित गुणों का योग नहीं है, तथापि पहले जैसे वर्णन कर आए हैं, कृपालुता आदि उपादेय गुण हैं तथा उनके विपरीत निर्दयता आदि दोष हेय हैं, यह जानते हुए भी—अर्थात् कृपालुता गुण है और निर्दयता दोष है—यह अभ्रान्त रूप में जानकर भी जो व्यक्ति मेरे द्वारा उपदिष्ट समस्त गुणों में नित्य-नैमित्तिक-लक्षण वर्णाश्रम विहित सब धर्मों को और जीव-ईश्वर के अभेद-ज्ञान को मेरी अनन्य-भक्ति का विघातक जानकर सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर मेरा भजन करता है, वह सत्तम-श्रेष्ठ-साधु है। मूल श्लोक में 'स च' पद में च-कार का उल्लेख होने में पूर्वोक्त साधु भी सत्तम है और वह भी सत्तम है, जिस

में कृपालुता आदि गुण नहीं हैं, किन्तु जो ज्ञान-कर्मादि से अनावृत विशुद्ध-भक्ति का अनुष्ठान करने वाला है, अतएव जो व्यक्ति पूर्ववर्णित कृपालुता आदि गुण प्राप्त करके धर्म और ज्ञान का परित्याग कर केवल मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति तो परम सत्तम है—श्रेष्ठ साधुओं में वह परम श्रेष्ठ है। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि जो भक्त अनन्य भक्ति-पूर्वक अर्थात् स्वतन्त्ररूप से और किसी देवता का भजन न कर केवल श्रीभगवान् का भजन करता है, उसका पूर्ववर्णित साधु से श्रेष्ठत्व है।

यहाँ 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—इत्यादि श्रीमद्भगवद्गीता (१२।१३) का प्रकरण भी अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।—इस श्लोक में जब 'सत्तम' पद का अर्थात् साधुगणों में सर्वश्रेष्ठ—इस प्रकार उल्लेख किया गया है, तो उनसे कनिष्ठ भक्तों में सत्-तरता ओर सत्ता, भी प्रदर्शित होती है। (अनेकों में एक का उत्कर्ष बताने के लिए तमट् प्रत्यय होती है, और दो में एक का उत्कर्ष बताने के लिए तर-प्रत्यय होता है। जब 'सत्तम' कहा गया है तो अवश्य सत्तर और सत् साधु भी हैं—यह समझा जा सकता है)। अतएव सदाचार सम्पन्न भगवद्भक्त का साधुत्व तो है ही, यदि कोई भक्त अनन्य भाव से श्रीकृष्ण का भजन करता है और उस में दुराचार भी दीखता है तो भी वह साधु माना गया है जैसे कि श्रीगीता (९।३०) 'अपि चेत सुदुराचारो—इत्यादि में कहा गया है। किन्तु ऐसे दुराचारी साधु का सङ्ग करना साधु-सङ्ग प्रस्ताव में स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसे साधु-सङ्ग से भगवद्-भक्ति में उन्मुखता सम्पादन करने को सामर्थ्य नहीं है। जैसाकि श्रीप्रह्लाद जी ने (भा० ७।७।३०) में कहा है—हे भ्रातृगण! गुरुसेवा भक्ति द्वारा, समस्त लभ्य वस्तुओं को भगवान् में अर्पण द्वारा, सदाचार सम्पन्न भक्त-सङ्ग द्वारा तथा ईश्वराराधन प्रभाव द्वारा श्रीभगवान् में प्रीति प्राप्त की जा सकती है।[1] यहाँ साधु नाम भक्त को इसलिए दिया गया है कि वह सदाचार युक्त होता है। इस प्रकार पूर्व वर्णित साधु लक्षणों में ईश्वर बुद्धि से विधि मार्ग में दो प्रकार के भक्तों में तारतम्य दिखाया गया है; अर्थात् जो ईश्वर-बुद्धि से शास्त्र के शासन भय से श्रीभगवान् का भजन करते हैं, किन्तु साथ-साथ कर्म-ज्ञानादि के साधनों का भी अनुष्ठान करते हैं, ऐसे भक्तों से ज्ञान-कर्मादि अनावृत-भक्ति के साधक भक्त का श्रेष्ठत्व दिखाया गया है। उन में भी जो अनन्य भाव से एकमात्र तीन प्रकारों का उल्लेख पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में दीखता है–१. तापादि पञ्च संस्कारी, २. नवेज्ज्याकर्म-कारक, तथा ३. अर्थपञ्चकविद्। (श्लोक सं० ५५९ द्रष्टव्य) इन तीन लक्षणोंयुक्त भक्त कनिष्ठ-भक्तों में मध्यम कहे गये हैं।

जो भक्त ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र एवं योग—इन पाँच संस्कारों से युक्त हैं, वे कनिष्ठ-भागवतों में मध्यम हैं ॥५८३॥

१— गुरुशुश्रुषया भक्तया सर्वलाभार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥

और जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, ऊर्द्ध्वपुण्ड्रादि वैष्णव-चिह्न धारण करते हैं, एवं श्रीभगवान् को नमस्कार करते हैं, वे कनिष्ठ-भागवतों में कनिष्ठ-भक्त हैं ।।५८४।।

२०१—अत्र शुद्धदास्यसख्यादिभावमात्रेण योऽनन्यः स तु सर्वोत्तम इत्याह (भा० ११।११।३३)—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ।।५८५।।

यावान् देशकालाद्यपरिच्छिन्नः । यश्च सर्वात्मा । यादृशः सच्चिदानन्द-रूपः । तं मां ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा ये केवलमनन्यभावेन श्रीव्रजेश्वरनन्दनत्वाद्या-लम्बनो यः स्वाभीप्सितो दास्यादीनामेकतरो भावः तेनैव भजन्ति, न कदाचिद-न्येनेत्यर्थः, ते तु मे मया भक्ततमा मताः । अतएव चतुर्थे श्रीयोगेश्वरैरपि प्रार्थि-तम् (भा० ४।७।३८)—

प्रेयान् न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो, विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग् य आत्मनः ।
तथापि भृत्येशतयोपधावतामनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ।।५८६।।इति।।

श्रीगीतासु हि (७।२)—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।५८७।।

इत्युक्त्वा (गी० ७।४-७)—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।५८८।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ।।५८९।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।५९०।।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।५९१।। इति ।।

प्रधानाख्यजीवाख्यनिजशक्तिद्वारा जगत्कारणत्वं तच्छक्तिमयत्वेन जग-स्तदनन्यत्वं स्वस्य तु ततः परत्वं तदाश्रयत्वञ्च वदन् निजज्ञानमुपदिष्टवान् प्रस-ङ्गेन जीवस्वरूपज्ञानञ्च । स चैवम्भूतो ज्ञानी मत्स्वरूपमहिमानुसन्धानकृत्त्वात् ज्ञानिभक्तादीनतिक्रम्य मत्प्रियो भवतीत्यप्यन्तेऽभिहितवान् (गी० ७।१६-१८)—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥५६२॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥५६३॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥५६४॥ इति ॥

ततश्चायमर्थः—यस्त्वयि विश्वात्मनि आत्मनो जीवान् ईक्षेत् त्वच्छक्तित्वादनन्यत्वेन जानाति, न तु पृथक् स्वतन्त्रत्वेन ईक्षेत, अमुतोऽमुष्माद् यद्यपि ते प्रेयान् नास्ति, तथापि हे वत्सल, हे भृत्येशभावेन ये भजन्ति, तेषां या अनन्या वृत्तिरव्यभिचारिणी निजा भक्तिस्तयैव अनुगृहाण । प्रस्तुतत्वेनास्मान् ज्ञानिभक्तानिति लभ्यत इति । अथ मूलपद्ये ज्ञात्वाज्ञात्वा इत्यत्राज्ञानज्ञानयोर्हेयोपादेयत्वं निषिद्धम् । भक्ततमा इत्यत्र पूर्ववाक्यस्थसत्पदनिर्देशमतिक्रम्य विशेषतो भक्तपदनिर्देशाद् भक्तेः स्वरूपाधिक्यमत्रैव विवक्षितम् । ते मे मता इत्यत्र मम तु विशिष्टा सम्मतिरत्रैवेति सूचितम्, ईदृशानुक्तचरत्वात् । अतएव प्रकरणप्राप्तमेकवचननिर्देशमप्यतिक्रम्य गौरवेणैव 'ये ते' इति बहुवचनं निर्दिष्टम् । ततः किमुत तद्भावसिद्धप्रेमाण इति भावः । एषां भावभजनविवृतिरग्रे रागानुगाकथने ज्ञेया ॥श्रीभगवान्॥

उपर्युक्त भक्त-लक्षणों में जो विशुद्ध दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर-भावों में किसी एक भाव से निज प्राणवल्लभ से अनन्यभाव रखते हैं, वे सर्वोत्तम हैं जैसे कि श्रीभागवत (११।११।३३) में कहा गया है—

'मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ' ?—इन सब बातों को जान कर जो अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे मत में मेरे परम-भक्त हैं ॥५६५॥

'यावान् अर्थात् मैं (भगवान्) देशकालादि से अपरिच्छिन्न हूँ, 'यश्च'—अर्थात् मैं सर्वात्मा हूँ, 'यादृशः' अर्थात् सच्चिदानन्दरूप हूँ—इस प्रकार का मुझे जो जानते हैं, अथवा नहीं जानते ; परन्तु जो केवल अनन्यभाव से अर्थात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनादि रूप का आश्रय कर अपने अभीप्सित दास्य सख्यादि भावों में किसी एक भाव से मेरा भजन करते हैं । उन को मैं अपना भक्ततम—सर्वश्रेष्ठ भक्त मानता हूँ ।'' इसलिए श्रीभागवत (४।७।३८) में श्रीयोगेश्वरों ने श्रीभगवान् से यही प्रार्थना की है—

हे प्रभो ! जो भक्त स्वामी-सेवक भाव से आपका भजन करते हैं, विश्वात्मा परब्रह्म आपको अपने से भिन्न नहीं जानते—अर्थात् अपना स्वामी-आत्मीयजन जानते हैं, उन भक्तों से बढ़कर आपको कोई व्यक्ति प्रिय नहीं है। तथापि हे वत्सल ! अव्यभिचारी-भक्ति से जो आपका भजन करते हैं, आप उन्हीं के प्रति अनुग्रह कीजिए ॥५६६॥

श्रीमद्भगवद्गीता (७।२) में कहा है—हे अर्जुन ! मैं तुम्हें अनुभव सहित शास्त्रोक्त सम्पूर्ण ज्ञान को कहूँगा, उस ज्ञान अर्थात् तत्त्व को जानकर फिर और कुछ जानने को शेष नहीं रहता ।।५८७।।

यह कह कर भगवान् श्रीकृष्ण ने आगे कहा—हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहङ्कार—यह आठ प्रकार की प्रकृति मेरे स्वरूप से भिन्न है अर्थात् बहिरङ्गामाया-शक्ति की विभूतिरूपा है ।।५८८।।

उक्त प्रकृति का दूसरा नाम 'अपरा' है। इस की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रकृति वह है, जिसका नाम 'जीव' है। उस (भोक्ता) जीव शक्ति के द्वारा यह (भोग्य प्रकृति का कार्य) ब्रह्माण्ड परिव्याप्त हो रहा है ।।५८९।।

इस दोनों प्रकार की प्रकृति में भूमि आदि अष्ट प्रकार की प्रकृति जड़ होने से निकृष्ट है, और जीवरूपा प्रकृति चैतन्यमयी होने से श्रेष्ठ है। स्थावर-जङ्गमात्मक निखिल प्राणी ही मुझ से समुत्पन्न हैं, मैं निखिल जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूँ ।।५९०।।

हे धनञ्जय ! मेरे से भिन्न इस जगत् का और कोई निरपेक्ष कारण नहीं है। सूत्र में गूँथी मणियों की तरह यह जगत् मुझ में गुत्था हुआ है ।।५९१।।

इस प्रकार श्रीभगवान् ही प्रधान-नामक तथा जीव-नामक अपनी शक्तियों के द्वारा जगत् के कारण हैं, तथा जगत् भगवान् की शक्ति का कार्य होने से उनसे अभिन्न है, तथा वे जगत् से भिन्न हैं और उनके आश्रय विना जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह तत्त्व बताकर श्रीभगवान् ने अपने स्वरूप-ज्ञान का उपदेश किया। प्रसङ्ग क्रम जीव-स्वरूप के ज्ञान का उपदेश भी दिया। इस प्रकार के ज्ञानयुक्त भक्त मेरे स्वरूप की महिमा का अनुसन्धानकारी होने से ज्ञानी-भक्तों का अतिक्रमण कर मुझे अति प्रिय लगता है—यह बात अन्त में (गीता ७।१६-१८) श्रीभगवान् ने कही है—

हे अर्जुन ! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के मनुष्य मेरा भजन करते हैं। वे सुकृति अर्थात् साधु-सङ्ग रूप सौभाग्य से पूर्ण होते हैं ।।५९२।।

इन चारों भजनकारियों में ज्ञानी नित्ययुक्त एवं एक-भक्तिनिष्ठ होने से श्रेष्ठ है। इसलिए ज्ञानी का मैं एकान्त प्रिय हूँ और ज्ञानी भी मुझे प्रिय है ।।५९३

ये सब चारों ही मेरा भजन करने वाले उदार हैं अर्थात् मुक्ति-पथ के अधिकारी होने से महत् हैं। ज्ञानी किन्तु मेरा ही स्वरूप है, क्योंकि वह ज्ञानी भक्त मेरे में निविष्ट चित्त होने से सर्वोत्कृष्ट गति रूप मेरा आश्रय ग्रहण किए रहता है ।।५९४।।

अतएव 'प्रेयान् न तेभ्यो:' (श्लोक सं० ५८६) का इस प्रकार अर्थ है—हे प्रभो ! जो व्यक्ति विश्वात्मा आप में निखिल जीवों को आप की शक्ति होने के

कारण अभिन्न रूप में दर्शन करता है अर्थात् जानता है कि शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है, अतः जो जीवसमूह की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं जानता, ऐसे भक्त से अधिक यद्यपि और कोई आप को प्रिय नहीं है, तथापि हे वत्सल ! सेवक-प्रिये ! जो सेवक-स्वामीभाव से आपका भजन करते हैं, उनकी आप में जो अनन्यवृत्ति अर्थात् अव्यभिचारिणी असाधारणी भक्ति है, उसी भक्ति को हमें प्रदानकर अनुगृहीत कीजिए । प्रस्तुत विषय होने से हम ज्ञानी-भक्तों को वह सेवक-स्वामी भावमयी भक्ति प्रदान करने की कृपा करें—ऐसा नवयोगेश्वरों ने प्रभु की स्तुति की । मूल श्लोक (५८५) में 'ज्ञात्वा'—जानकर अथवा 'अज्ञात्वा' न जान-कर जो मेरा भजन करते हैं—ऐसा जो उल्लेख किया है उस में जो नहीं जानकर भजन करते हैं, उनका त्याग और जो जानकर भजन करते हैं उनका ग्रहण अथवा जो न जानकर भजते हैं उनका उपादेयत्व और जानकर भजने वालों का हेयत्व-ऐसी व्याख्या समीचीन नहीं है । क्योंकि 'आज्ञायैवं गुणान्' (श्लोक ५८१) पूर्वो-लिखित श्लोक में जैसे 'सत्तम'—इस सत् पद का उल्लेख किया गया है । यहाँ वैसा उल्लेख न कर "भक्ततमाः" कहकर इस में भक्त-शब्द का उल्लेख रहने से भक्ति का स्वरूपगत आधिक्य ही उन भक्तों में प्रकाशित होता है—यही भगवान् का अभिप्राय है । विशेषतः 'ते मे मताः' अर्थात् उनको मैं भक्ततम जानता हूँ—इस वचन से वे ही श्रीभगवान् के अभिप्रेत ऐकान्तिक-भक्त हैं, यह सूचित होता है । ऐसा कोई श्लोक पहले श्रीभगवान् ने नहीं कहा है । इसलिए साधु-लक्षण प्रकरण में प्रत्येक श्लोक में एक वचन प्रयुक्त किया गया है । किन्तु इस श्लोक (५८५) में उस क्रम का उलङ्घन कर गौरव से 'ते मताः' बहुवचन का श्रीभगवान् ने प्रयोग किया है अर्थात् जानकर अथवा न जानकर जो मेरा भजन करते हैं, वे श्रीभगवान् के विशेष गौरव के पात्र हैं । अतएव इस प्रकार भावयुक्त साधक-भक्त यदि श्रीभगवान् का गौरव-पात्र है, तो जिन्होंने उन दास्यादि भावों से श्रीभग-वान् का प्रेम प्राप्त किया है, वे कितने गौरव-पात्र होंगे—इस में कहना ही क्या है ? । दास्यादि-भाव से भजन-रीति का विस्तार रागानुगा भक्ति-वर्णन-प्रसङ्ग में विशेष भाव से किया जायेगा ॥२०१॥

२०२—ते एते वैष्णवसन्तो महत्त्वेन सन्मात्रत्वेन च विभिद्य निर्दिष्टाः । सन्मात्रभेदतारतम्यश्चात्र यदविविक्तं तद्भक्तिभेदनिरूपणे पुरतो विवेचनीयं । अन्ये तु स्वगोष्ठ्यपेक्षया वैष्णवाः । तत्र कर्मिषु तदपेक्षया ; यथा स्कान्दे मार्कण्डेय-भगीरथसंवादे —

धर्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् ।
पचनं विप्रसुखार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः ॥५९५॥ इत्यादि ॥

अत्र श्रीविष्ण्वाज्ञाबुद्ध्यैव तत्तत् क्रियत इति वैष्णवपदेन गम्यते । श्रीविष्णुपुराणे च (३।७।२०)—

न चलति निजवर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः, स्थितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥५९६॥इति।

तदर्पणे तु सुतरामेव वैष्णवत्वम् । यथा पाद्मे पातालखण्डे वैशाख-माहात्म्ये—

जीवितं यस्य धर्मार्थे धर्मो हर्य्यर्थ एव च ।
अहोरात्राणि पुण्यार्थं तं मन्ये वैष्णवं जनम् ॥५६७॥ इति ।

तथैव शैवेषु तदपेक्षया यथा बृहन्नारदीये—

शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्धया प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥५६८॥ इति ।

शैवगोष्ठीषु भागवतोत्तमत्वं तत्रैव प्रसिद्धमिति तथोक्तम् । वैष्णवतन्त्रे तु तन्निन्दैव—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥५६९॥ इति ॥

पूर्व-वर्णित प्रसङ्ग में वैष्णव-साधु महत् रूप में तथा साधु रूप में भेद का निरूपण किया गया है । उन में साधु मात्र के भेद का जो तारतम्य है उसका इस प्रकरण में विचारित-भाव में वर्णन नहीं किया गया है, उसका भक्ति-भेद–निरूपण प्रसङ्ग में इसी श्रीभक्तिसन्दर्भः में आगे विचारित-भाव में वर्णन किया जायेगा । किन्तु अन्यान्य व्यक्ति, जिन्हें वैष्णव करके उल्लेख किया गया है अर्थात् जो विष्णु-मन्त्र से दीक्षित नहीं हैं, उन श्रीशिव-शक्तिमन्त्र से दीक्षित साधकों को शिव-शास्त्र सम्प्रदाय में श्रेष्ठ होने से ही वैष्णव-भावापन्न साधकों का वैष्णव रूप में उल्लेख किया गया है । उन में फिर कर्मियों के बीच जिन कर्मिगण में सात्त्विकता रूप उत्कृष्टता है, वैष्णवता है, उनके सम्बन्ध में स्कन्द-पुराण में मार्कण्डेय-भगीरथ संवाद में कहा गया है—

जो धर्म के लिए जीवन धारण करते हैं, सन्तान के लिए मैथुन तथा उत्तम ब्राह्मण के लिए रसोई करते हैं, उन समस्त मनुष्यों को वैष्णव जानना चाहिए ॥५६५॥

जो लोग श्रीविष्णु की आज्ञा-बुद्धि से उपर्युक्त क्रियाएँ करते हैं, उनको ही स्कन्द-पुराण में वैष्णव कहा गया है । अर्थात् श्रीविष्णु-आज्ञा न मानकर जो उपर्युक्त क्रियाएँ करते हैं, उन्हें वैष्णव नहीं कहा जा सकता । श्रीविष्णु-पुराण (३।७।२०) में भी कहा गया है—

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रमधर्म से विचलित नहीं होता, अपने सुहृद तथा शत्रु पक्ष में समान-बुद्धि है, दूसरों का धन हरण नहीं करता, किसी का हनन नहीं करता, एवं स्थिर चित्त है, उसे 'विष्णु-भक्त' कहते हैं ॥५६६॥

इन समस्त क्रियाओं को जो श्रीविष्णु को अर्पण करता है, वही वैष्णव कहलाता है—यही अभिप्राय है । जैसे कि पद्म-पुराण के पाताल-खण्ड के वैशाख-

माहात्म्य में कहा गया है-

जो धर्म के लिए जीवन धारण करता है, श्रीहरि के सुख के लिए धर्मानुष्ठान करता है, पुण्य के लिए जिसका दिन-रात व्यतीत होता है, उसको विष्णु-भक्त मानना चाहिए ।।५९७।।

इसी-प्रकार शैवों में भी विष्णु प्रीति होने के कारण उन्हें वैष्णव कहा जाता है। जैसे कि बृहन्नारदीय-पुराण में कहा गया है—

जो परमेश्वर शिवजी में एवं परमात्मा श्रीविष्णु में समान-बुद्धि से प्रवृत्त होता है, उसे भागवतोत्तम कहते हैं ।।५९८।।

शैवों की गोष्ठी में तो शिव एवं विष्णु में समान-बुद्धि वाले को भागवतोत्तम कहा गया है किन्तु वैष्णव-शास्त्र में तो ऐसे व्यक्ति की निन्दा सुनी जाती है—

जो व्यक्ति ब्रह्मा-महादेवादि देवताओं के साथ श्रीनारायण को समबुद्धि से देखता है, वह व्यक्ति निश्चय ही पाखण्डी है ।।५९९।।

गोपालतोषणी-टीका—अनुच्छेद २०१ में वैष्णव-साधु तथा साधु-व्यक्ति में महत्व को लेकर भेद वर्णन किया गया था। साधु में वैष्णवता को लेकर जो भेद है, उसका यहाँ विचार-पूर्वक वर्णन नहीं है, उसका तो आगे वर्णन करेंगे। किन्तु विभिन्न पुराणों में वैष्णवजन के अनेक लक्षण वर्णन किए गए है। शिव-शाक्तों को, कर्मियों को—वर्णाश्रम धर्म पालन करने वालों को इसी प्रकार औरों को भी वैष्णव कहकर वर्णन किया गया है—यह अविचार-पूर्वक वर्णन है—केवल उनके क्रियाओं के विष्णु-समर्पित होने पर। श्रीविष्णु की आज्ञा बुद्धि से उन कर्मों को करने से अथवा किसी न किसी प्रकार श्रीविष्णु की अपेक्षा रहने से पुराणों में उनको वैष्णव कह दिया गया है। वस्तुतः वे लोग शैवों में विष्णु-भावापन्न होने से उत्कृष्ट हैं, कर्मियों में विष्णु-भावापन्न होने से उत्कृष्ट हैं, इसलिए उन्हें वैष्णव कह दिया गया है।

तदेवं तेषां बहुभेदेषु सत्सु तेषामेव प्रभाव-तारतम्येन कृपा-तारतम्येन भक्तिवासनाभेद-तारतम्येन सत्सङ्गात् कालशैघ्र्यस्वरूपवैशिष्ट्याभ्यां भक्तिरुदयते। एवं ज्ञानिसङ्गाच्च ज्ञानं ज्ञेयम्। तत्र यद्यपि अकिञ्चना भक्तिरभिधेयेति तत्कारणत्वेन मद्भक्तसङ्ग एवाभिधेये सति भवतोऽपि स एव लक्षितव्यः, तथापि तत्तत्परीक्षार्थमेव तत्तदनुवादः क्रियते। तत्र प्रथमं तावत् तत्तत्सङ्गाज्जातेन तत्तच्छ्रद्धातत्तत्परस्पराकथारुच्यादिना जातभगवत् साम्मुख्यस्य तत्तदनुषङ्गेनैव तत्तद्भजनीये भगवदाविर्भावविशेषे तद्भजनमार्गविशेषे च रुचिर्जायते। ततश्च विशेषबुभुत्सायां सत्यां तेष्वेकतोऽनेकतो वा श्रीगुरुत्वेनाश्रितात् श्रवणं क्रियते। तच्चोपक्रमोपसंहारादिभिरर्थावधारणम्। पुनश्चासम्भावनाविपरीतभावना-विशेषवता

श्रीराधा का न्याय

(पूर्व क्रमागत)

[दूसरा दृश्य]

[श्रीकृष्ण सखाओं सहित भोजन कर रहे हैं]

मधुमङ्गल—अरे भैया ! आज भोजन-भगवान् से इतने उदासीन क्यों हो रहे हो ? इतनी देर में तुमने एक दो ग्रास ही पाये हैं।

सुबल —अरे बटु ! तेरी तो सभी बातें निराली हैं। भला, भोजन भगवान् कैसे हो सकता है ?

मधुमङ्गल—क्यों नहीं हो सकता ? वेद ने भगवान् को 'रसो वै सः' कहा है, पर वे निराकार को रसरूप मानते हैं परन्तु जिसका रूप ही नहीं, उससे रस का आस्वादन क्या मिलेगा ? ये विविधरसों से भरी शाक की कटोरियाँ व पकवान मूर्त्तिमान ब्रह्म हैं।

श्रीदामा —अरे भाई मधुमङ्गल ! रस-साहित्य में जो भगवत-रस आस्वादन से सात्विक भावों का उदय होता है, वह इन भोजन पदार्थों से कहां होता है ?

मधुमङ्गल—क्यों नहीं होता, सुनिये, भोजन न मिलने पर भूख से आँसू गिरते हैं, यह अश्रुपात है। सुन्दर व्यञ्जनों को देखकर जो पुलकावली होती है, यह रोमांच है। भोजन की प्राप्ति से मुख पर जो लालिमा आती है, यह विवर्ण ही है। भोजन करने के समय हर्ष की किलकारियाँ, ये स्वर भंग और अनेक पदार्थ देखकर सबके सब न खाने की असमर्थता, ये स्तम्भ। अधिक लालमिर्च लगने पर जो पसीना आता है, यह प्रस्वेद है। बहुत भोजन कर लेने पर जो आलस्य के मारे दीर्घ निद्रा आती है, यह है प्रलय। अब हुए नये सात्विक भाव परन्तु ये तो हम जैसे भोजन प्रेमी पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होते हैं। तुम गोचारण करने वालों को कैसे प्राप्त होंगे ?

सबल —भैया ! तुम भोजन-भगवान् के पूरे भक्त हो।

[दो कोतवाल सखियों का प्रवेश]

प्रथम कोतवाल—यही है, मेरी समझ में दरबार से जिसके नाम परवाना निकला है, वह चोर चूड़ामणि कृष्ण कन्हैया यही है।

द्वितीय कोतवाल—जी हाँ ! इंगित आकार से मुझे भी यही मालूम पड़ता है, इनकी सुन्दरता में सचमुच जादू है ।

प्रथम कोतवाल—धीरे-धीरे चलो । इसे पकड़ लें कहीं ये भाग न जाये ।

(पास आकर)

द्वितीय कोतवाल—क्या नन्दबाबा के बेटे कृष्ण-कन्हैया तुम्हीं हो ?

मधुमङ्गल—जी हाँ ! जी हाँ ! यही हैं, बिलकुल यही हैं ।

श्यामसुन्दर—क्यों क्या बात है ?

प्रथम कोतवाल—हमारी सरकार राजराजेश्वरी स्वामिनी के दरबार से आपको पकड़ने के लिये यह परवाना जारी हुआ है, यह देखिये ।

(दिखाती है)

श्यामसुन्दर—भला मैंने क्या अपराध किया है ?

द्वितीय कोतवाल—यह तो दरबार में चलकर मालूम होगा । अजो, इसे प्रीति की डोर में कसकर बाँधकर ले चलो ।

[श्यामसुन्दर को पकड़ती हैं, ग्वाल-बाल डरकर भाग जाते हैं]

[पर्दा आता है]

[तीसरा दृश्य]

[दरबार में सब सभासदगण बैठे हैं । श्रीमती अलबेली सरकार पधारती हैं ।]

प्रथम छड़ीदार—रहे हर एक को अदब का ख्याल ।

द्वितीय छड़ीदार—किसी को सर उठाने की न हो मजाल ।

प्रथम छड़ीदार—नजर नीचे हाथ बाँधे हुए ।

द्वितीय छड़ीदार—हो खामोश सिर झुकाए हुए ।

प्रथम छड़ीदार—आ रही है सवारी सरकार की ।

द्वितीय छड़ीदार—बढ़ेगी रौनक अब दरबार की ।

[दो कोतवाल सखियाँ श्रीकृष्ण को साथ लेकर आती हैं । श्यामसुन्दर और कोतवाल सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं ।]

प्रथम कोतवाल—श्रीराजेश्वरी जू की जय-जयकार हो । मुलजिम कृष्ण-कन्हैया वल्द नन्दबाबा साकिन नन्दगाँव सरे-दरबार हाजिर है ।

श्रीस्वामिनी--मन्त्री जी ! फरियादी की मिसल दरबार में पढ़कर सुनावें ताकि मुजरिम को दरबार में बुलाने की मंशा मालूम हो जाय ।

श्री ललिता —(पढ़ती हैं) करुणामूर्ति सर्वेश्वरी के दरबार में मैं रसिकदासी बेटी मनोहरदास गोप साकिन ऊँचे गाँव जिला बरसाना की अर्जी पेश करती हूँ। नन्दगाँव निवासी बाबा श्रीनन्दराय के लड़के कृष्ण कन्हैया ने मुझे बिना वजह बहुत सताया है। कभी पनघट पर, कभी मथुरा के मार्ग पर, जहाँ-तहाँ अपने को राजा कहते हुए कर वसूल करने के बहाने तङ्ग करता है। मेरे मन इन्द्रियों के व्रत का धन लूटकर बेहाल किया है। न केवल मैं ही बल्कि और भी अनेक ब्रजगोपियाँ इनके चंगुल में पड़कर परेशान हो रही हैं। ये अपनी जादूभरी बांसुरी की सुरीली तान पर सबको मन्त्र मुग्ध बना सर्वस्व छीन लेता है। आशा है कि सरकारेआला हमारा इन्साफ करेंगी।

—प्रार्थिनी रसिक दासी

श्रीस्वामिनी—आपने फरियादी की बात सुनी। क्या आप निठुर होकर नित्यप्रति ऐसी ही बातें करते फिरते हो ? सबका सर्वस्व छीनकर हमारी प्यारी प्रजा को सताते रहते हो। आप पर जो इल्जाम लगाए गये हैं, उनकी सफाई में आपको कुछ कहना है ?

श्रीकृष्ण --जी हाँ सरकार ? बहुत कुछ कहना है। हकीकत में मुझपर सब झूठे इल्जाम लगाये गये हैं। मैंने न किसी की चोरी की है, न सताया है। वरन् आपकी प्रजा ही करुण पुकारों से टेर-टेरकर क्षणभर भी चैन नहीं लेने देती, मैं खान-पान-आराम छोड़कर इन्हें सुखी करने की फिक्र में रात-दिन फिरता रहता हूँ। सरकार के डर से मैं सर्वदा शंकित रहता हूँ। कहीं मुझ से ऐसी भूल न हो जिससे आप नाराज हो जायें। जब भी, जहाँ भी जो भक्त मुझे पुकारते हैं, मैं वहाँ जाकर उनको दर्शन देकर उनके दुःख को दूर करता हूँ।

अपने भक्त से सदा हम न कभी दूर हुए।
विपत से जब भी पुकारा, तो विघ्न चूर हुए॥
वे रूठे भी रहे, हमसे बिगड़ते भी रहे।
पर हम न रूठे कभी, चाहे सैंकड़ों कसूर हुए॥

मैं तो सरकार की कृपा-प्राप्ति की लालसा से अधीनता करता रहता हूँ। फिर भी भाग्य की बात है कि लोगों की झूँठी शिकायतों पर ध्यान देकर सरकार मुझे आज दोषी ठहरा रही हैं। इसे

मैं पहचानता ही नहीं, मैं तो इसे आज पहली ही बार देख रहा हूँ।

श्रीस्वामिनी—हाजिरीने दरबार ! आपने सुना यह प्रतिवादी तो अर्जी को झूँटा कहकर अपने को साफ निर्दोष बता रहा है। अब सब मिलकर ऐसी कोई तदबीर निकालो जिससे हमारी तरफ से सबको पूरा-पूरा इन्साफ प्राप्त हो। हम किसी पर बेजा जुर्माना करना नहीं चाहते।

(थोड़ो देर सब लोग सोचते हैं)

श्रीविशाखा —हे विश्व आधारे ! मेरी प्रार्थना है कि पूरी-पूरी बात जानने के लिये दोनों ओर के गवाहों को बुलाकर मामले की तहकीकात की जाय, फिर उसके अनुसार आप अपना फैसला देने की कृपा करें।

दरबारी —ठीक है, ठीक है।

श्रीललिता —दूध का दूध और पानी का पानी हो जायेगा।

श्रीस्वामिनी—सुनो फरियादी, मुल्जिम को आपके लगाये गये इल्जामों से इनकारी है। अब आप अपनी अर्जी की सचाई के सबूत में गवाहों को पेश करें।

रसिकदासी —बहुत अच्छा हजूर ! मैं अपने गवाहों के नाम दर्ज कराती हूं। कृपा कर दरबार की ओर से उन्हें बुलाने का समन जारी हो। लिखिए मन्त्री जी ! पहले गवाह सत्य लोक के निवासी महाराज मयूरध्वज दूसरे पाताल के महाराज बलि। तीसरी गवाही ब्रज-भूमिवासिनी गोपियाँ, जो श्रुति-स्मृति की स्वरूपभूता हैं, वे देंगी। आकाश, पाताल और भूमण्डल तीनों के गवाह मेरी सचाई का सबूत देंगे।

श्रीललिता —(समन सिपाहियों को देकर) सिपाहियो ! ये समन देकर गवाहों को कल दरबार में हाजिर करो। आज की सभा श्रीस्वामिनो जू के हुक्म से बर्खास्त की जाती है।

□ (क्रमशः)

[पर्दा आता है]

श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामी

श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी दक्षिण-यात्रा के समय शान्तिपुर से नीलाचल की ओर जाते हुए श्रीपुरीजी का चरित्र अपने श्रीमुख से अपने साथी-भक्तों को सुनाया और फिर अन्त में कहा—

प्रभु कहे, नित्यानन्द ! करह विचार ।
पुरी सम भाग्यवान् जगते नाहि आर ।।
दुग्ध-दान छले कृष्ण यारे देखा दिल ।
तिनवार स्वप्ने आसि यांरे आज्ञा कैल ।।
यांर प्रेमे वश हञा प्रकट हइला ।
सेवा अङ्गीकार करि जगत तारिला ।।
यांर लागि गोपीनाथ क्षीर चुरि कैला ।
कर्पूर-चन्दन यांर अङ्गे चढ़ाइला ।।
पुरीर प्रेम-पराकाष्ठा करह विचार ।
अलौकिक प्रेम, चित्ते लागे चमत्कार ।।
परम विरक्त मौनी, सर्वत्र उदासीन ।
ग्रामवार्त्ता भये द्वितीय सङ्ग-हीन ।।
एइ भक्ति, भक्तप्रिय-कृष्ण व्यवहार ।
बूझिते हो आमा सभार नाहि अधिकार ।।

वस्तुतः ऐसे वैष्णव शिरोमणि, अनन्य-रसिकचूड़ामणि, व्रजरस-कल्पतरु-स्वरूप श्रीपुरीपाद की महिमा कोई भी नहीं जान सकता । जिस समय श्रीमन्महाप्रभु मथुरा पधारे, श्रीकेशवदेव के दर्शन कर प्रेमाविष्ट होकर नृत्यगान कर रहे थे, एक वृद्ध ब्राह्मण श्रीप्रभु के चरणों में आकर गिर पड़ा । श्रीमहाप्रभु ने उसे उठाया और वह भी प्रेमाविष्ट होकर प्रभु के साथ नाचने लगा । दर्शन के बाद श्रीमहाप्रभु ने उस ब्राह्मण से एकान्त में पूछा—हे विप्रवर ! यह कृष्णप्रेमधन तुम्हें कहां से मिला ? । उस ब्राह्मण ने कहा—एक बार श्रीमाधवेन्द्रपुरी भ्रमण करते हुए मथुरा पधारे थे । उन्होंने मुझे शिष्यरूप में अङ्गीकार किया और मेरे घर पर निवास किया था । श्रीमन्महाप्रभु यह सुनते ही उसके चरणों पर गिर पड़े । बोले, आप मेरे गुरु समान हो । मैं आपका शिष्य हूँ ।" ब्राह्मण ने कहा-- संन्यासी और यह प्रेमाचरण ! मेरा मन कहता है तुम्हारा कुछ सम्बन्ध है श्रीमाधवेन्द्रपुरीजी से । एकमात्र कृष्णप्रेम वहां वर्त्तमान है जहां श्रीपुरी का सम्बन्ध है । उनसे सम्बन्ध के बिना कृष्णप्रेम की गन्ध भी कहीं और मिलना मुश्किल है—

किन्तु तोमार प्रेम देखि मने अनुमानि ।
माधवेन्द्रपुरीर सम्बन्ध धर जानि ।।
कृष्णप्रेमा ताहां, यहाँ ताहार सम्बन्ध ।
ताहां विना एइ प्रेमार काहां नाहि गन्ध ।।

अतः व्रजप्रेम का यदि कहीं आविर्भाव है तो वहां श्रीमाधवेन्द्रपुरी पाद के परम्परा सम्बन्ध से जानना चाहिए। फिर ऐसा कौन गौड़ीय-वैष्णव होगा अथवा श्रीमन्महाप्रभु सम्प्रदायानुगत वैष्णव होगा जो श्रीमाधवेन्द्रपुरी से अपना सम्बन्ध न मानकर किसी अन्य के साथ जोड़ेगा ?

श्रीपुरीपाद ने अन्त समय जिस श्लोक का उच्चारण करते हुए नित्यलीला में प्रवेश किया, उसके सम्बन्ध में श्रीकृष्णदास कविराज ने कहा है, रत्नों में जैसे कौस्तुभमणि सर्वोत्तम है, उसी प्रकार वह श्लोक समस्त रसकाव्य में सर्वोत्तम है। उस श्लोक को श्रीराधा जी ने रचा और उनकी कृपा से उसकी स्फूर्त्ति हुई श्रीपुरी की बाणी में, फिर उसका आस्वादन किया श्रीमन्महाप्रभु ने, इन तीनों को छोड़कर चौथा व्यक्ति कोई नहीं जो उसके भावों का आस्वादन कर सके—

(श्रीचैतन्यचरितामृत २-४-२)

एइ श्लोक कहियाछेन राधा-ठाकुराणी ।
तांर कृपाय स्फुरियाछे माधवेन्द्र वाणी ।।
किवा गौरचन्द्र इहा करे आस्वादन ।
इहा आस्वादिते आर नाहि चौथजन ।।

वह श्लोकरत्न इस प्रकार है—

अयि दीनदयार्द्र--नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे ।
हृदयं त्वदलोक कातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम् ।।

हे दीनजन प्रति परम दयालु प्रभो ! हे मथुरानाथ ! मुझे आपके दर्शन कब होंगे ? हे प्राणनाथ ! आपको देखे बिना मेरा हृदय अति व्याकुल हो रहा है, मैं क्या करूँ ?'

इस श्लोक-रत्न का आस्वादन करते हुए श्रीपुरीपाद ने संवत् १५७०, फाल्गुन द्वादशी के दिन नित्यलीला में प्रवेश किया। आपका आविर्भाव हुआ था संवत् १४६६, नाग पञ्चमी के दिन श्रीरंगक्षेत्र निवासी श्रीगोविन्द भट्टजी तथा श्रीरंगा-देवी के घर। इस प्रकार वे १०४ वर्ष तक पृथ्वीतल पर वर्त्तमान रहे।

श्रीपुरीपाद की अनेक रचनायें संभव हो सकती हैं, किन्तु उनका परिचय प्राप्त नहीं हो सका। श्रीमद्रूपगोस्वामी जी ने उनके रसमय हृदयोद्गारों को पद्यावली में संगृहीत किया, उनसे उनके भाव-माधुर्य का कुछ आस्वादनाभास हम यहां करते हैं—

अनङ्गरसचातुरी--चपल--चारु--नेत्राञ्चल-
श्चलन्मकरकुण्डल-स्फुरितकान्ति-गण्डस्थलः ।
व्रजोल्लसित-नागरीनिकर रासलास्योत्सुकः-
स मे सदि मानसे स्फुरतु कोऽपि गोपालकः ।।प०, ९६।।

अनङ्गरस-चातुरी से जिसके चारु नेत्राञ्चल चंचल हो रहे हैं, हिलते हुए मकराकृति कुण्डलों की कान्ति जिसके कपोलों पर प्रतिबिम्बित हो रही है, जो व्रज की आनन्दमयी गोपियों के साथ रास-विलास करने में उत्सुक है, ऐसा कोई अनिर्वचनीय श्रीगोपाल शीघ्र ही मेरे मन में स्फुरित हो ॥

कदा द्रक्ष्यामि नन्दस्य बालकं नीपमालकम् ।
पालकं सर्वसत्वानां लसत्तिलकभालकम् ॥प०, १०४॥

कदम्ब-मालाधारी, प्राणीमात्र के पालक, कस्तूरी-तिलक से विभूषित-मस्तक श्रीनन्दकुमार का कब मैं दर्शन करूँगा ?

पुरो नीलज्योत्स्ना तदनु मृगनाभीपरिमल-
स्ततो लीलावेणुक्वणितमनु कांचीकलरवः ।
ततो विद्युद्वल्लीवलयित-चमत्कारलहरी-
तरङ्गाल्लावण्यं तदनु सहजानन्द उद्गात् ॥प०, १६४॥

श्रीललिता जी ने श्रीराधा जी से पूछा - आपने श्रीकृष्ण को कैसे देखा ? इसके उत्तर में श्रीराधाजी कहती हैं— ललिते ! पहले तो सामने नीली-नीली सी चाँन्दनी दीखी, फिर कस्तूरी की सुगन्ध आने लगी, फिर लीलापूर्वक वेणुध्वनि मेरे कानों में पड़ी, उसके बाद कौंधनी का मधुर शब्द सुनाई दिया । फिर विद्युत्-लता से घिरी हुई अनिर्वचनीय चमत्कार लहरी दीखी, जिसकी तरङ्गों से मूर्त्तिमान लावण्य उदय हुआ, फिर तो सहज-आनन्द ही आविर्भूत हो गया ॥

अधरामृतमाधुरीधुरीणो हरिलीलामुरलीनिनाद एषः ।
प्रततान मनः प्रमोदमुच्चैर्हरिणीनां हरिणीदृशां मुनीनाम् । प०, २८६॥

अधरामृत-माधुरी राशि को धारण करने वाले, श्रीकृष्ण की लीला-साधिका मुरली के उस मनोहर शब्द ने हरिणियों के, मृगनयनी व्रजरमणियों के तथा वन-वासी मुनियों के मानसिक-आनन्द में महान् वृद्धि कर दी ॥

सन्ध्यावन्दन ! भद्रमस्तु भवते भोः स्नान ! तुभ्यं नमो,
भो देवः ! पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः,
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ? ॥प०, ७६॥

हे सन्ध्यावन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । हे स्नान ! तुम्हें मेरा नमस्कार है । हे देवताओ, हे पितरो ! मैं आपका तर्पण करने को अब समर्थ नहीं हूँ, अतः आप क्षमा कीजिए । अब तो मैं जहां कहीं भी एकान्त में बैठकर यादवकुलमुकुटमणि कंसारि श्रीकृष्ण का बारम्बार स्मरण करता हुआ पापरहित हो जाऊँगा । श्रीकृष्ण स्मरण से ही मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ, अन्यान्य साधनों से मुझे अब कोई प्रयोजन नहीं है ॥

●

श्रीईश्वरपुरी गोस्वामी

श्रीपादमाधवेन्द्रपुरी के प्रमुख प्रिय शिष्य थे श्रीईश्वरपुरी जी। लौकिक-लीला में श्रीमन्महाप्रभु के प्रति गुरु-भावापन्न-भक्त-शृङ्खला में आप उनके दीक्षा-गुरु थे।

गौरगणोद्देश्यदीपिका (२३) का कथन है—

तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमानीश्वराख्यपुरी यतिः।
कलयामास शृङ्गारं यः शृङ्गारफलात्मकः॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी के शिष्य यति श्रीईश्वरपुरी नाम के शिष्य हुए, उन्होंने शृंगार-फलस्वरूप होकर शृंगार-रस का विस्तार किया।

जैसा कि पहले कह-आए हैं श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृंगार रसों के उज्ज्वल फल को धारण करनेवाले थे। उनके शिष्य श्रीअद्वैताचार्य जी दास्य एवं सख्य रसफलात्मक थे। उनके शिष्य श्रीरंगपुरी जी वात्सल्य रस फलरूप थे। उसी प्रकार श्रीईश्वरपुरी जी साक्षात् शृंगार-रसफलस्वरूप थे। इनमें मधुररसमयी रागानुगा-भक्ति का पूर्णतम प्रवेश था। इन्होंने उसका अपने शिष्यों में सञ्चार किया तथा सर्वत्र प्रचार-प्रसार भी किया।

कुमारहट्ट (हालिसहर) ग्रामनिवासी राढ़देशीय कुलीन ब्राह्मण वंश में श्रीश्यामसुन्दर आचार्य के घर इनका जन्म हुआ। यथा समय इन्होंने विद्याध्ययन किया। वेद-वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों में आप निष्णात हो गए। शास्त्राध्ययन के फलस्वरूप संसार को असार जानकर गृह का इन्होंने त्याग कर दिया। तीर्थ भ्रमण के समय इन्हें श्रीमाधवेन्द्रपुरी का दर्शन प्राप्त हुआ। इन्होंने उनसे संन्यास ग्रहण किया। उन्होंने ही इन्हें सन्यासाश्रमोचित्त 'ईश्वरपुरी' नाम प्रदान किया। सदा श्रीगुरुदेव की चरण सेवा करते हुए उनके अन्तरङ्ग शिष्य होकर उनके पास रहते थे।

'प्रेम विलास' के मत में श्रीनिताईचाँद को उनकी १२ वर्ष की आयु में पिता-माता से भिक्षा की दक्षिणा के रूप में घर से निकाल ले जाने वाले यही श्रीईस्वर-पुरी जी थे।

एक बार श्रीपुरी जी भ्रमण करते हुए राढ़देश में एकचाका गांव में पहुँचे, जहां श्रीनित्यानन्दप्रभु के पिता-माता श्रीहाड़ाई पण्डित—पद्मावती रहते थे। उस समय श्रीनिताई केवल १२ वर्ष के ही थे। श्रीहाड़ाई-पण्डित संध्या के समय बाहर निकले और अपने खेत पर जा रहे थे। सामने देखा एक महा तेजस्वी संन्यासी।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

सारार्थवर्षिणी-टीका--ज्ञात 'त्वं' पदार्थानामप्राप्तपरमात्मज्ञानानां क्रियता कालेन ब्रह्मनिर्व्वाणसुखं स्यादित्यपेक्षायामाह—कामेति, यतचेतसामुपरतमनसां क्षीणलिङ्गशरीराणामिति यावत्, अभितः सर्व्वतोभावेनैव वर्तत एवेति ब्रह्मनिर्व्वाणे तस्य नैवातिविलम्बमिति भावः ॥२६॥

अनुवाद--काम क्रोध से रहित, चित्त पर विजय पाने वाले, आत्मतत्त्व को जानने वाले यतियों को सर्वतोभाव से ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त है ॥२६॥

तात्पर्य—जिन्होंने 'त्वं' पदार्थ का ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है, परन्तु परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनको कितने समय के पश्चात् ब्रह्म-निर्वाण सुख मिलता है ? इसके उत्तर में यह श्लोक कहा गया है कि जिनका मन शान्त हो चुका है, और जिनका लिङ्ग शरीर क्षीण हो गया है, अर्थात् पांच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्रा, मन और बुद्धि---इन १७ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर क्षय हो चुका है उनको ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करने में अधिक देर नहीं है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—तदेवमीश्वरार्पितनिष्कामकर्म्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिः, ततो ज्ञानं 'त्वं' पदार्थविषयकम्, ततः 'तत्' पदार्थज्ञानार्थं भक्तिः, तदुत्थज्ञानेन गुणातीतेन ब्रह्मानुभव इत्युक्तम् । इदानीं निष्कामकर्म्मयोगेन शुद्धान्तःकरणस्याष्टाङ्गयोगं ब्रह्मानुभवसाधनं ज्ञानयोगादप्युत्कृष्टत्वेन षष्ठाध्याये वक्तुं तत्सूत्ररूपं श्लोकत्रयमाह—स्पर्शानिति । बाह्य एव शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्पर्शशब्दवाच्याः । मनसि प्रविश्य ये वर्त्तन्ते तान्, तस्मान्मनसः सकाशाद्बहिष्कृत्य विषयेभ्यो मनः प्रत्याहृत्येत्यर्थः । चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा नेत्रयोः सम्पूर्णनिमीलने निद्रया मनो लीयते उन्मीलनेन बहिः प्रसरति । तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्धनिमीलनेन भ्रुमध्ये दृष्टिं निधायोच्छ्वास-निश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्द्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा, यता वशीकृत्य इन्द्रियादयो येन सः ॥२७-२८॥

अनुवाद—स्पर्शादि सम्पूर्ण बाह्य विषयों को मन से त्यागकर नेत्रदृष्टि को भ्रुकुटी के मध्य में स्थिर करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान को सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीत लेने वाला मोक्ष परायण जो मुनि

है एवं जो इच्छा भय तथा क्रोध से रहित हो चुका है, वह सदा मुक्त ही है ।।२७-२८।।

तात्पर्य—इस प्रकार ईश्वरार्पित निष्काम कर्म योग से अन्तःकरणशुद्धि, तत्पश्चात् 'त्वं' (जीव) पदार्थ का ज्ञान, उसके बाद 'तत्' पदार्थ (परमात्मा) के ज्ञान के लिये भक्ति, उस भक्ति से उत्पन्न गुणातीत ज्ञान के द्वारा ब्रह्मानुभव प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है । अब निष्काम कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण वाले व्यक्ति के लिए अष्टांगयोग ब्रह्मानुभव का साधन ज्ञानयोग से भी उत्कृष्ट है, यह बताने के लिये छठे अध्याय के उपक्रम स्वरूप ये तीन श्लोक अन्त में कहे गये हैं । शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पाँचों बाह्यस्पर्श माने गए हैं । ये मन में प्रवेश करते हैं । इसलिए इनको मन से बाहर निकाल कर अर्थात् विषयों से मन को दूर करके और नेत्रों की दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थापित करना चाहिए, क्योंकि नेत्रों को पूर्णतः बन्द करने से निद्रा आने की सम्भावना रहती हैं और मन लीन हो जाता है और नेत्र खोलने से मन बाहर घूमता है । इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए अध-खुले नेत्रों से भ्रूमध्य में दृष्टि स्थापित करके उच्छ्वास तथा निश्वास रूप नासिका में घूमने वाले प्राण तथा अपान की ऊपर एवं नीचे की गति को रोक कर समान करना चाहिए । इस प्रकार इन्द्रिय मन बुद्धि को वश में करने वाला जो पुरुष है, वह मुक्त है ।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।२९।।

सारार्थवर्षिणी-टीका—एवम्भूतस्य योगिनोऽपि ज्ञानिन इव भक्त्युत्थेन परमात्मज्ञानेनैव मोक्ष इत्याह—भोक्तारमिति । यज्ञानां कर्म्मिकृतानां तपसाञ्च ज्ञानिकृतानां भोक्तारं पालयितारमिति कर्म्मिणां ज्ञानिनां चोपास्यम्, सर्व्वलोकानां महेश्वरं महानियन्तारमन्तर्य्यामिनं योगिनामुपास्यम्, सर्व्वभूतानां सुहृदं कृपया स्वभक्तद्वारा स्वभक्त्युपदेशेन हितकारिणमिति भक्तानामुपास्यं मां ज्ञात्वेति सत्त्व-गुणमयज्ञानेन निर्गुणस्य ममानुभवासम्भवात् "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति मदुक्तेः । निर्गुणया भक्त्यैव योगी स्वोपास्य परमात्मानं मामपरोक्षानुभवगोचरी-कृत्य शान्ति मोक्षमृच्छति प्राप्नोति ।।२९।।

निष्कामकर्म्मणा ज्ञानी योगी चात्र विमुच्यते ।
ज्ञात्वात्मपरमात्मानावित्यध्यायार्थ ईरितः ।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।
गीतासु पञ्चमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ।।

अनुवाद—मेरे को सभी यज्ञ-तपस्यादि का भोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर एवं समस्त प्राणियों का स्वार्थरहित मित्र जान लेगे पर मनुष्य शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।।२९।।

तात्पर्य--ज्ञानी की तरह उसी प्रकार योगी की भी भक्ति से उत्पन्न परमात्मज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है-इस अन्तिम श्लोक में यही कहा गया है। श्रीभगवान् ने कहा--कर्मियों द्वारा किये गए यज्ञों का तथा ज्ञानियों द्वारा की गई तपस्याओं का भोक्ता अर्थात् पोषणकर्त्ता मैं हूँ। कर्मी-ज्ञानियों का उपास्य, सर्वलोकों का महेश्वर अर्थात् महानियन्ता अन्तर्यामी, योगियों का उपास्य, सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद् अर्थात् कृपापूर्वक अपने भक्तों द्वारा अपनी भक्ति का उपदेश दिलाकर हित करने वाला मैं हूँ, भक्तों के उपास्यरूप में मुझे जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञान का स्वरूप है सत्त्वगुण, उससे मुझ निर्गुण का अनुभव असम्भव है। मेरे ही वचन हैं कि "मैं एक मात्र भक्ति से ही प्राप्त होता हूँ" ॥भा०११।१४।२१॥ अतः निर्गुण भक्ति द्वारा ही योगी अपने उपास्य परमात्मा रूप मुझ को अपरोक्ष रूप में अनुभवगोचर करके शान्ति या मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२९॥

निष्काम कर्म द्वारा ज्ञानी जीवात्मा के ज्ञान को और योगी परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं, इस अध्याय में यही सिद्धान्त किया गया है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पांचवें अध्याय की साधुजन-सम्मत भक्तजनानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका का अनुवाद पूर्ण हुआ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्व्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्ज्जुन सम्वादे कर्म्म-संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः।

षष्ठोऽध्यायः

★

श्रीभगवानुवाच-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—षष्ठेषु योगिनो योगप्रकारविजितात्मनः ।
मनसश्चञ्चलस्यापि नैश्चल्योपाय उच्यते ॥ (१)

अष्टाङ्गयोगाभ्यासे प्रवृत्तेनापि चित्तशोधकं निष्कामकर्म्म सहसा न त्याज्यमित्याह—कर्म्मफलमनाश्रितोऽनपेक्ष्यमाणः कार्य्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन शास्त्र-विहितं कर्म्म यः करोति, स एव कर्म्मफलसन्न्यासात् संन्यासी, स एव विषयभोगेषु चित्ताभावात् योगी चोच्यते । न च निरग्निरग्निहोत्रादिकर्ममात्रत्यागवानेव सन्न्या-स्युच्यते । न चाक्रियः दैहिकचेष्टाशून्योऽर्द्ध निमीलितनेत्र एवयोगी चोच्यते ॥१॥

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले, जो कर्मफल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म को करता है, वही संन्यासी तथा योगी है, केवल अग्नि को त्यागने वाला तथा क्रियाओं को त्यागने वाला संन्यासी या योगी नहीं है ॥१॥

तात्पर्य—इस छठे अध्याय में विजितमत्मा योगी के योगप्रकार, तथा चंचल मन को निश्चल करने के उपाय कहे गये हैं ॥ (१) ॥

अष्टांग योग के अभ्यास में प्रवृत्त होने पर भी चित्त के शोधक निष्काम-कर्म को सहसा नहीं त्यागना चाहिये । कर्मफल की अपेक्षा न करता हुआ कर्तव्य कर्म करना ही चाहिए । शास्त्रविहित कर्म का जो करता है, वही कर्मफल त्याग के कारण संन्यासी है और वही विषयभोगों में चित्त के अनासक्त होने के कारण योगी कहा जाता है । किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म का त्याग मात्र करने वाला निरग्नि संन्यासी नहीं कहा जाता है, और देहचेष्टाशून्य अर्धखुले नेत्रों वाला व्यक्ति भी योगी नहीं कहा जाता ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

सारार्थवर्षिणी-टीका—कर्म्मफलत्याग एव सन्न्यास-शब्दार्थः, वस्तुतस्तथा विषयेभ्यश्चित्तनैश्चल्यमेव योग-शब्दार्थ । तस्मात् सन्न्यास-योग-शब्दयोरैकार्थ्यमे-वागतमित्याह—यमिति । असंन्यस्तो न संन्यस्तस्त्यक्तः संकल्पः फलाकाङ्क्षा विषयभोगस्पृहा येन सः ॥२॥

[पुनर्जन्म की सत्य-कथा]

परिणाम एक दुष्कर्म का !

ले०—श्रीमदन मोहन शर्मा

卐

सन् १९३१ के मई माह में मुझे 'देहरादून रेल' द्वारा कलकत्ता से हरिद्वार जाना पड़ा। मार्ग में हरिद्वार के लिए कुछ ऐसे व्यक्ति भी रेल में सवार होते हैं, जिनके सिर मुण्ड़े हुए शोकग्रस्त चेहरे तथा गले में लाल कपड़े की थैली लटकाए होते हैं। ये अपने मृत-सम्बन्धियों की अस्थियां गंगाजी में बहाने तथा श्राद्ध पिण्ड दान कराने जाते हैं।

प्रातःकाल का समय था, मैं अपनी ऊपर की बर्थ से जागकर नीचे की सीट पर बैठ गया था। सामने की सीट पर ऐसे ही दो व्यक्ति, जिनके गले में अस्थियों की लाल थैलियाँ लटक रही थीं, उदास-बोझिल-मन से बैठे बातें कर रहे थे, तथा कभी-कभी आँसू भी पोंछते जाते थे। इनमें एक वृद्ध आयु ७०-७५ के लगभग गांव के किसान से लगते थे, दूसरे अन्दाज ३५ वर्ष के उन्हीं के परिचित मालूम होते थे। मेरी दृष्टि उन्हीं पर जमी हुई थी तथा खिन्न-मन से उनकी बातों में रुचि ले रहा था। युवक अत्यन्त दुःखी था। वृद्ध किसान उसे समझा रहा था। मैंने भी उसे सान्त्वना दी, और समझाया। मुझे समझाते देख, वृद्ध महाशय मुझे सम्बोधित कर बोले, "बाबू जी ! इसका छोटा भाई ही गुजरा है, जबकि इसके और कई भाई हैं। परन्तु मेरा तो २२ वर्षीय विवाहित इकलौता लड़का गुजरा है, जिस के कोई सन्तान भी नहीं है, तब भी मुझे कोई ऐसा शोक नहीं है। मेरा तो जैसे शनिश्चर चला गया, दशा हटी। बहुत देर से मैं इसे भोजन करने को कह रहा हूँ, यह मानता ही नहीं। दोपहर हो गई, मुझे तो भूख लग रही है, सो मैं तो खाता हूँ, तू खा चाहे ना खा।" यूँ कह वह रोटी की पोटली खोलते हुए मुझ से बोला 'मरने वाले के पीछे मरा तो जाता नहीं आज न तो कल या परसों खाएगा, जीने के लिए पेट की चक्की में तो कुछ डालना ही पड़ेगा ?" मैंने कहा, "बाबा तुमने अपने लड़के को शनिश्चर कैसे बताया ?' किसान ने कहा "साला, मेरा दिवाला निकाल कर चला गया मुझे कहीं का न रखा, यदि कुछ दिन और जीता तो मेरी क्या दुर्दशा होती, इसे तो भगवान् ही जानते ? अच्छा हुआ जो चला गया।" यूँ कहकर, रोकर अपनी करुण कहानी सुनाने लगा :—

"बाबू जी ! मैं एक साधारण किसान अपनी छोटी-सी जमीन में खेती-बाड़ी

कर गुजारा करता था। मैं, मेरी पत्नी और एक विधवा बड़ी बहिन केवल तीन ही प्राणी थे। बहिन मेरे साथ खेत में ही काम करती, वहां एक झोंपड़ी में हम रहते थे। गर्मी के दिन थे। एक दिन सन्ध्या को बड़े जोर का अन्धड़ आया, और वर्षा भी होने लगी। अन्धेरा भी हो रहा था, ऐसे समय में एक व्यापारी दुकानदार आया, और अपने पास जोखम बताकर रात को झोंपड़ी में ठहरने का आग्रह करने लगा। प्रायः दुकानदार उधारी का रुपया उगाहने इधर इस मार्ग से आते-जाते रहते थे। समय की स्थिति को देखते हुए, हमने उसे ठहराया, भोजन कराया और सोने की व्यवस्था करदी। व्यापारी लोग, गाँव वालों को, विशेषकर किसानों को अधिक विश्वसनीय समझते हैं। परन्तु बहिन के मन में लोभ आ गया। लोभ पाप का बाप है। उसने मुझ से कहा," रात को इसके सोने के बाद इसे मार कर खेत में गाड़ दें, कौन देखता है ? इसके रुपए में अपनी सब गरीबी धुल जाएगी।" मैंने बहिन को बहुत समझाया, कि इसने हम पर पूर्ण विश्वास किया है। विपत्ति के समय हमारी शरण में आया है। यह इसके साथ बड़ा विश्वास-घात होगा। यह एक जघन्य भीषण-पाप है जिसके लिए भगवान हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे। हमें घोर नरक यातनायें भोगनी पड़ेंगी। परन्तु बहिन पर तो "लोभ का भूत" सवार था। मेरे समझाने का उस पर कोई असर नहीं पड़ा, अपितु उसने मुझे और भी अत्यधिक प्रलोभन दिए। इहलौकिक सुख बताकर, दानादि से सब पाप-कर्म धुल जाते हैं, ऐसा कहकर, मुझे भी दुष्कर्म करने पर विवश कर दिया। अतः हम दोनों (भाई बहिन) ने मिलकर उस व्यापारी की रात में हत्याकर, लाश को खेत में दफना दिया। उसका आज तक किसी को पता न चला। उसके पास से लगभग आठ हजार रुपए निकले ?"

उस रुपए से हमने और अधिक जमीनें खरीदीं, खेती-बाड़ी बढ़ी। कारोबार बढ़ाया,मैं बड़े किसानों में गिना जाने लगा, रुपया कमाया। बहिन गुजर गई। फिर मेरे एक सुन्दर हृष्ट-पुष्ट लड़का हुआ। उसका पालन-पोषण बड़े लाड़-दुलार से खूब खर्च करके हुआ। रुपया उसकी रुचि के अनुसार खूब खर्च किया जाता, एक ही तो सन्तान थी। २० वर्ष की आयु में उसकी शादी अच्छे घराने की सुन्दर लड़की से करदी। लगभग एक वर्ष बाद वह बीमार पड़ा। बड़ा इलाज कराया। पैसा पानी की तरह बहाया। उसको बचानेके लिए जी-जान से चेष्ठा की। मकान खेत जमीन आदि सब बिक गये। इकलौता, विवाहित जवान लड़का मृत्यु के मुख में जा रहा है, मोहवश दुःख की कोई सीमा नहीं। इसी दुःख और चिन्ता में उसकी माँ भी मर गई। वह एक वर्ष बीमार रहा, जो कुछ इन २०-२२ वर्षों में कमाया, सब उसकी बीमारी पर लग गया आर्थिक दशा अत्यन्त खराब हो गई, कर्ज (उधार) लेते शर्म आती थी। पुत्र-वधू को देखकर रोना आता था, बिचारी दिन-रात पति की चारपाई के सिरहाने बैठी मौन आँसू बहा कर सेवा करती रहती।

एक दिन ऐसी स्थिति भी आ गई कि मेरे पास केवल एक पांच रुपए का

नोट ही बचा, और वह अन्तिम साँस ले रहा था। मैं उसके पास बैठा था, कि अचानक वह बोला, 'काका ! तुम्हारी जेब में एक पाँच का नोट है न, मेरी सेब खाने की इच्छा हो रही है। मैंने सोचा कि इसकी अन्तिम इच्छा भी पूरी करदूँ, सो गाँव में सेब मिला नहीं, शहर जाकर सेब लाया। सेब खाकर लड़का बोला "काका ! तुम मुझे पहचानते हो, मैं कौन हूँ ? मैं वह दुकानदार हूँ, जिसकी तुमने २५ वर्ष पूर्व खेत में अपनी बहिन के साथ मिलकर हत्या की थी। मेरे ८ हजार रुपए ले लिए थे, सो मैं अब अपने सब रुपए ब्याज सहित वसूल करके जा रहा हूँ।" मैंने पुत्र-बधू की ओर इशारा करके कहा "कि इस बिचारी लड़की ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जिसको तुम अनाथ दुःखियारी करके छोड़े जा रहे हो ? उसने कहा, "यह तुम्हारी वह बहिन है, जिसने तुमको उस दुष्कर्म करने में उकसाया, और सहयोग दिया, सो अब तुम ही सम्हालो इसे ?" यह कहकर उसने दम तोड़ दिया, मृत्यु को प्राप्त हुआ।

मैं २५ वर्ष पूर्व की सब घटना अपने सुख और उसकी बिमारी में भूल चुका था, सो अब आँख खुली, अब शनैः शनैः याद आया, अब पछताने से हाता क्या है ? जो किया सो तो इस लोक और परलोक में भोगना ही पड़ेगा ? उसके मरने का मुझे कोई शोक नहीं, इसलिए मैंने उसको शनिश्चर कहा।

श्रीराधादामोदर मन्दिर, श्रीवृन्दावन में

श्रीभागवत-कथा

✱

दि० २८ अक्टूबर से ३० नवम्बर तक नियम-सेवा के उपलक्ष्य में

प्रतिदिन सायं ५ से ६ बजे तक।

श्रीकृष्ण-कथामृत की वर्षा कर रहे हैं—

पूज्यपाद स्वामी भक्तिदीपक जी महाराज

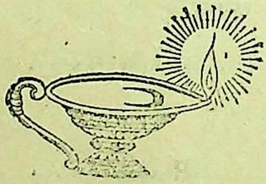
अद्भुत व्याख्या, गम्भीर सिद्धान्त, सरस-शैली।

आप भी लाभ उठावें।

●

असदाचार, अनैतिकता, अधर्म, अन्याय
आदि आसुरी-सम्पदा पर
सदाचार, नैतिकता, धर्म, न्याय
आदि दैवी-सम्पदा के राजा
भगवान् श्री सीतापति--राघवेन्द्र के
नित्य--विजयात्मक--पर्व पर

दीपावली की शुभ-कामनायें



श्री रामरिखदास जी परसरामपुरिया
बम्बई

धन्यवाद !

श्री रमेशचन्द्र जी अग्रवाल, आगरा ने
मण्डल की संरक्षता स्वीकार कर
हमें आभार प्रदान किया है।

*

आप भी मण्डल के
संरक्षक बनें १००१) रु. भेजकर
मण्डल द्वारा प्रकाशित साहित्य तथा
१२ अङ्क "श्रीहरिनाम" के प्रति वर्ष प्राप्त करें।

श्रीराधारससुधानिधि या राधासुधानिधि

(पूर्व क्रमागत)

डॉ० शकुन्तला अग्रवाल एम. ए.
पी. एच-डी, साहित्यरत्न

□

श्रीराधारससुधानिधि-रचना की भाषा, छन्द-योजना और भाव श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती की अन्य काव्य-कृतियों—वृन्दावनमहिमामृतम्, चैतन्यचन्द्रामृतम् तथा संगीतमाधवम् आदि के पूर्ण अनुरूप और साम्य में है। राधारससुधानिधि के कुछ श्लोक तथा कुछ पंक्तियां यत्किंचित परिवर्तन के साथ संगीतमाधवम् में प्राप्त होते हैं; देखिये :—

गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभज-
द्वयं यातुं क्षांतास्तव च जननी वर्त्मनयना।
अकस्मात्तूष्णीके सजलनयने दीनवदने,
लुठत्यस्यां भूमौ त्वयि नहि वयं प्राणिनिषवः॥

—राधारससुधानिधि, श्लोक संख्या २२६

गत दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभजद्,
वयं क्षुत्क्षामाः स्म स्तव च जननी वर्त्मनयनः।
अकस्मात्तूष्णीके सजल नयने दीन वदने,
त्वयि त्यक्त्वा खेलां नहि नहि वयं प्राणिनिषवः॥

—संगीतमाधवम्, श्लोक संख्या ५०

एवं

अनंगजयमंगलध्वनितकिंकिणीडिण्डिम,
स्तनादिवरताडनैर्नखर दन्तघातैर्युतः।
अहो चतुरनागरीनवकिशोरयोर्मंजुले,
निकुंजनिलयाजिरे रतिरणोत्सवो जृम्भते॥

—राधारससुधानिधि, श्लोक संख्या २२५

अहो मुखर पुर नूप्रकर किंकिणी—डिण्डिम-
स्वनादि वरतानैर्नश्वर-दन्त घातैर्युतः।

सुदुर्द्धर मदान्धयोर्नवनिकुञ्जपुंजजिरे,
तदद्भुत किशोरयोः सुरत संगरौ जृम्भते ॥

--सङ्गीतमाधवम्, श्लोक संख्या २०

तथा

"साऽन्द्रानन्दोन्मदरसघनप्रेमपीयूषमूर्तेः ।"

—राधारससुधानिधि, श्लोक संख्या २१३

"सान्द्रानन्दोज्ज्वल रसमय प्रेम पीयूष सिन्धो ।"

—चैतन्यचन्द्रामृतम्, श्लोक श्लो० ६१

राधारससुधानिधि की भाव-सामग्री श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थ --वृन्दावनमहिमामृतम् से साम्य रखती है—

पद्येनैव सदापराधिनि महन्मार्गे विरुद्धच त्वदे-
काशे स्नेह जलाकुलाक्षि किमपि प्रीतिं प्रसादीकुरु ॥

—राधारससुधानिधि, श्लोक सं० २७०

अतिसाहसमाचरितं विरुध्य गुरुशास्त्रविद्वर्यैः ।
त्वयि वृन्दावन ! वासायेद्रियवशमप्यतो न हि त्यज माम् ॥

—वृन्दावनमहिमामृतम्, ८।१४

एवं

"राधेति सिद्धमन्त्रं द्वयक्षरमुच्चार्य किं न सिध्येयम् ।"

--वृन्दावनमहिमामृतम्, ८।१३

"राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला ॥"

--राधारससुधानिधि, श्लो० सं० १४२

"तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति'

--राधारससुधानिधि, श्लो०सं० १६७

'खेलतिमिथुनमहोऽभिरामम्'

--संगीतमाधवम्, पृ० १७

अन्य रचनाओं के सदृश ही इस रचना में भी दैन्य, माहात्म्य, प्रार्थना एवं सेवाभिलाष का वर्णन है ।—

'क्वाहं मूढ़मतिः क्व नाम परमानन्दैकसारं रसः ।'

--राधारससुधानिधि, श्लो० सं० २६९

'दोषाकरोऽहं गुणलेशहीनः सर्वाधमो दुर्लभवस्तुकांक्षी ।'

—वृन्दावनमहिमामृतम्, १७।३१

भाव साम्य की ही भाँति ऐसे अनेक शब्द हैं जो उनके अन्य ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं—सान्द्रानन्द, महामधुरांगभंगि, कलाकेलि, नखचन्द्रच्छटौघया, माधुर्य-सीमा, महारसनिधि आदि।

राधारससुधानिधि में श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने अन्य रचनाओं की ही भाँति छन्दोंका प्रयोग किया है। शार्दूल-विक्रीडित कविका प्रिय छन्द है। इस छन्द का प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वाधिक किया है।। राधारससुधानिधि के भी २७२ श्लोकों में से ९१ श्लोकों में शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा लिखे हुए समस्त ग्रन्थ, काव्य, टीका, व्याख्या सब संस्कृत भाषा में ही निबद्ध हैं। श्रीहितहरिवंशजी ने संस्कृत में कोई रचना नहीं लिखी। अतः संस्कृत में विरचित इस ग्रन्थ को उनकी रचना कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार भाषा के स्वर श्रीप्रबोधानन्दजी को ही राधारससुधानिधि का रचियता स्वीकार करते हैं।

रचना-काल—राधावल्लभियों का कथन है कि छः माह की बाल्यावस्था में —'षाण्मासिक कृत श्रीमद्राधारससुधानिधिः—हितहरिवंशजी के मुखपद्म से राधा-रससुधानिधि विनर्गत हुई थी, जिसे उनके ताऊ श्रीनृसिंहाश्रमजी ने लिपिबद्ध किया। किन्तु तर्क की दृष्टि से इस चमत्कार पर विश्वास नहीं किया जा सकता। साथ ही ताऊजी का संन्यासी होकर गृहस्थ में रहना भी सम्भव नहीं है।

सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त की रचना ही सम्प्रदाय में मान्य होती है। श्रीहितहरिवंशजी को मंत्र की प्राप्ति स्वप्नावस्था में श्रीराधाजी के द्वारा हुई थी, किन्तु छः माह की अवस्था में वे दीक्षित नहीं थे। अदीक्षित अवस्था की रचना वैष्णव समाज में मान्य नहीं होती। अतः रचनाकाल का यह स्वर श्रीहित-हरिवंशजी के प्रतिकूल ही झंकृत होता है।

९. रचना-स्थान—श्रीराधारससुधानिधि में प्रयुक्त वाक्यावली से इसकी रचना का स्थान वृन्दावन स्थिर होता है—

"महिमा एष वृन्दावनस्य।"—राधारससुधानिधि, श्लो० सं० २६१

"हा कालिन्दी त्वयि मम निधि।"—राधारससुधानिधि, श्लो०सं० २६३

श्रीहरिवंशजी का जन्मस्थान 'बाद' ग्राम है।

श्रीहितहरिवंशजी ने हितचतुरासी के एक एक पद पर अपनी छाप दी है। राधारससुधानिधि में वह छाप कहीं भी नहीं है। श्रीप्रबोधानन्दसरस्वती ने अपनी

किसी रचना में अपना नामोल्लेख नहीं किया। अतः इस रचना में भी अपना नाम अंकित नहीं किया जिसके फलस्वरूप इस रचना का रचनाकार ही विवादास्पद हो गया।

राधारससुधानिधि में किसी श्लोक में, कहीं भी श्रीहितहरिवंश जी के आराध्यदेव श्रीराधावल्लभ का उल्लेख नहीं हुआ है। चैतन्य सम्प्रदाय की आख्या राधामाधव का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इस कारण से भी राधारससुधानिधि श्रीहितहरिवंसजी की रचना नहीं कही जा सकती।

विषयवस्तु के आधार पर भी राधारससुधानिधि श्रीहितहरिवंश जी की रचना नहीं हो सकती। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु श्रीहितहरिवंशजी के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। स्वकीया, परकीया, विरह, मिलन एवं स्व-पर भेद रहित नित्यविहार रस ही हित महाप्रभुजी का इष्ट तत्व है।[1] परन्तु राधारससुधानिधि में तो स्वकीया परकीया[2] विरह, मिलन भावों का ही बाहुल्य है। तब इस रचना के रचयिता श्रीहितहरिवंश जा कैसे हो सकते हैं? श्रीहितहरिवंशजी नित्यनिकुञ्ज में नित्य विहार के उपासक हैं। राधारससुधानिधि में व्रजपरक लीलाओं का भी वर्णन है।[3] यह वर्णन श्रीहितहरिवंश के नित्यविहार के अनुरूप नहीं है!

राधावल्लभ सम्प्रदाय के नेही नागरीदास 'हितचतुरासी' के पदों की भावना किया करते थे। किन्तु उनके द्वारा राधारससुधानिधि की भावना का उल्लेख न मिलना आश्चर्यजनक घटना है। इसकी पुष्टि 'हितचतुरासी' के व्याख्याकार सेवक जो से भी होती है। सेवकजी ने राधावल्लभ सिद्धान्त निरूपण में हितचतुरासी से उद्धरण दिए किन्तु राधारससुधानिधि से एक भी उद्धरण नहीं दिया। इसी प्रकार हित ध्रुवदास ने भी सिद्धान्त विचार के प्रसग में 'राधारससुधानिधि से एक भी उद्धरण स्वमत पोषण के लिए नहीं दिया। इसका तात्पर्य यही है कि उनके काल तक राधारससुधानिधि को वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्यता नहीं मिली थी। अन्यथा यह कभी सम्भव ही नहीं है कि सम्प्रदाय प्रवर्तक और गुरु श्रीहितहरिवंशजी की कृति से उद्धरण न देकर वे अन्यों के उद्धरण से ही स्वमत को पुष्ट करते। सेवकजी और हितध्रुवदास संस्कृत के ज्ञाता न हों ऐसा भी नहीं वे दोनों ही संस्कृत के विद्वान थे।

राधारससुधानिधि के 'मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहं श्लोक

---

१. राधारससुधानिधि भूमिका, पृष्ठ ४६

२. केनापि नागरवेरणपदे निपत्य, राधारससुधानिधि, श्लो. सं. १०
किं रे धूर्तप्रवर निकट यासि नः प्राणसख्या
—राधारससुधानिधि, श्लोक सं. १६१

३. तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभवो दिशेऽपि
—राधारससुधानिधि श्लो. सं. २

की व्याख्या करते हुए श्रीललिताचरण श्रीगोस्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि इस श्लोक का भाव श्रीहिताचार्यजी के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

रचयिता के जीवन की झलक स्वतः ही उसकी रचनाओं में दृष्टिगोचर हो जाती है। राधारससुधानिधि की शब्दावली में प्रयुक्त वेदान्त-परक शब्द कैवल्यतः, महः, मोक्ष, ब्रह्मानन्दैकवाद, ज्योति आदि इस रचना को उस व्यक्ति द्वारा रचित कहते हैं, जिसका जीवन में वेदान्त से सम्बन्ध रहा हो। वह व्यक्ति श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ही हैं। वे श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद को त्यागकर श्रीमहाप्रभु चैतन्य के मतानुयायी बने थे। अतः उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद की गमक होना स्वाभाविक ही है।

राधारससुधानिधि की कथा और गान भी जिस प्रकार गौड़ीय सम्प्रयाय के व्यक्ति करते हैं, अन्य सम्प्रदाय के विद्वान् नहीं कर सकते।

अतः सुनिश्चित है कि २७२ श्लोकों की राधारससुधानिधि नाम की रचना श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती द्वारा विरचित है एवं उसका नाम राधारससुधानिधि ही सर्वसम्मत है।

✱

फोगला-आश्रम, वृन्दावन में

स्वशिक्षण-शिविर

दिनांक १३ से १७ अक्टूबर तक उत्तर भारत की प्रख्यात विदुषी सुश्री विमला ठकार के सान्निध्य में यह शिविर-समारोह सम्पन्न हुआ, जिसमें लगभग दो-सौ नर-नारियों ने भाग लिया। सुश्री ठकार ने मानव-जीवन की महत्ता, सूक्ष्म-विवेक एवं आत्म-निरीक्षण द्वारा शुद्ध सदाचार-परायणता पर निरूपण की। राग-द्वेष, हिंसा, असत्य, अनैतिकता व्यभिचार, स्वार्थपरायणता को मानव-जीवन के सबसे बड़े कलंक बताये। श्रीमद्भगवद्-गीता के कर्मयोग पर जोर देते हुए प्रवक्ता ने भगवत्-स्मृति एवं अध्यात्म-निष्ठा के उपार्जन करने पर बल दिया, जिसकी आज के मानव को अपेक्षाकृत आवश्यकता है।

इस शिवर के आयोजक थे सर्वश्री कन्हैयालाल गुप्त (भू. पू. विधायक), तेजपाल सिंह (भू. पू. विधायक) एवं शम्भुनाथ चतुर्वेदी (भू. पू. सांसद)

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत मृत्युम् ।।

श्रीभागवत ५।५।१८।।

जो संसार-बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकता, वह गुरु गुरु नहीं, स्वजन स्वजन नहीं, वह पिता पिता नहीं, माता माता नहीं, वह देवता देवता नहीं, पति पति नहीं । एक मात्र हितकारी बान्धव वह है, जो आवागमन के चक्र से बचाता है ।

::

पंजाबी चन्दू हलवाई कराचीवाला
185 बालकेश्वर रोड
तीन बत्ती, बम्बई—400006.

:*:

With Best Compliments From :
Mehra Ferro Alloy
KASHMIR ROAD
P.O. VERKA (AMRITSAR)

★